तुलसी के काव्य की कला दृष्टि और सामाजिक दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, की डी0 फिल्0
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
डा० कृपा शंकर पाण्डेय
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

अनिल कुमार
शोधार्थी :
अनिल कुमार द्विवेदी
एम०ए०, हिन्दी
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
वर्ष 2002

विषय सूची

भूमिका

तुलसी के काव्य की कलादृष्टि और सामाजिक दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा में राम काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है संस्कृति काव्य से यह परम्परा विकसित होकर आज भी भारतीय मनीसा का आधार स्तम्भ बनी हुई है । इस दिशा में गोस्वामी तुलसीदास का योगदान अपनी पूर्व परम्परा को स्वीकार करते हुए मध्यकाल की सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक व्याख्या का मानदण्ड तो बनती ही है । वह समाज मूल्य और उसके बदलते प्रतिमानो का पाथेय भी बनी हुई है ।

मध्यकाल के बदलते परिवेश और बदलते मूल्य बोध को तुलसीदास जी ने जिस आस्था मूलक संस्कृति के सापेक्ष विकसित की है उससे सामाजिक प्रतिमानों का कलात्मक वैशिष्टय उनकी रचना प्रक्रिया को आत्मसात कर सका है । जिसमें वे पुरसार्थ चतुष्टय को महत्व तो देते ही है । साथ ही मध्यकाल के जातीय मतमतान्तरों और उसके राजनैतिक समीकरणों के बीच समन्वय स्थापित करके मनुष्य मात्र के काम्य को अभिलषित करते है । यही कारण है कि उनका समाज दर्शन लोक और कला के बीच सम्बन्ध सेतु का निर्वाह करता है । यही कारण भी है कि बुन्देल खण्ड में जन्म लेने वाले तुलसी जिनकी मात्र भाषा बुन्देली एवं बनारस में रहकर आचार्य परम्परा को विकसित करके नाना पुराणों आगमों, निगमों से राम कथा के संस्कार को आत्मसात करने वाले तुलसी अर्थात बनारस के संस्कार की भाषा भोजपुरी में रमने के बाद भी अवधी में मानस की रचना करते हुए कही भी प्रतिक्रियावादी, ज्ञानमार्गी या विद्रोह मूलक संस्कृति को जन्म देने की स्थिति में

भी वे अपने को विशेष रूप से रेखांकित नहीं कर पाते लेकिन समाज और धर्म का लोकतात्विक स्वरूप उनके काव्य में जिस रूप में भरता है उससे उनका लोक संस्कार स्वत: परिमार्जित होता चलता है । रचना में यह स्थित प्राय: तब आती है जब रचनाकार अपनी रचना प्रक्रिया में अपने व्यक्तित्व का व्यक्तित्वान्तरण इस रूप में प्रस्तुत करे जिससे साध्य को सिद्धि स्वत: हो जाय ।

तुलसीदास की पूरी रचना प्रक्रिया इस महत्वपूर्ण पक्ष का उद्‌घाटन पात्रों के चरित्र को इस प्रकार से निरूपित करती है कि वहां वे जीवन मूल्य के प्रस्तावक रूप में उभर कर सामने आते हैं ।

वास्तव में कलाओं का विकास तो तब होता है जब समाज कि दिशा जड़ता की ओर अभिमुख होती है । इतिहास घटना प्रधान होते हुए भी मानवीय मूल्य के सृजनात्मक स्वरूप को तभी रेखांकित भी करता है जब जड़ता विद्रोह की भाषा का प्रयोग करने लगती है । और समाज में ऊँच-नीच वर्गगत एवं वर्णगत अन्तर आर्थिक आधार पर ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक आधार पर ही विवेचित एवं विश्लेषित होने लगते हैं ।

गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में लोक शैली की सांस्कृतिक परम्परा को जीवित रखते हुए भी अभिजात्य परम्परा का वाहक रचनाओं में प्रस्तुत हुआ है । उससे भक्त कवि तुलसी समाज दर्शक तुलसी बन जाते है । और दास्यभाव की भक्ति को भी काव्य रस के साथ जोड़कर श्री राम की अनन्यता की भक्तिरस को महारस की कोटि में पहुंचा देते हैं । यह पूरी प्रक्रिया जिस रूप में सम्पन्न होती है । यह शोध प्रबंध उसी दिशा को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है । अध्ययन की यह पूरी प्रक्रिया चार अध्यायों में सम्पन्न होती है । प्रथम अध्याय से पांचवे अध्याय तक का विवरण आगे विन्दुवार प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास होगा ।

महान कवि गोस्वामी तुलसीदास जी एक ऐसे महान स्रष्टा और जीवन द्रष्टा कवि है । जिन्होंने मध्ययुगीन भारत की सम्पूर्ण चेतना को मार्मिक काव्य की वाणी में अभिव्यक्ति दी है । डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है । लोकशास्त्र का समन्वय गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय भक्ति तथा ज्ञान का समन्वय भाषा और संस्कृति का समन्वय निगुण और सगुण का समन्वय कथा और तत्व ज्ञान का समन्वय ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय राम चरित्र मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है । इसके अतिरिक्त तुलसी के सम्बन्ध में प्राय: सभी विद्वानों ने एक मत से यह स्वीकार किया है कि गौतम बुद्ध के बाद तुलसी दास ही भारत के सबसे बड़े लोकनायक हुए है । इन कथनों से यह सिद्ध है कि तुलसी दास दार्शनिक तो थे ही, पर उनका ज्ञान और प्रतिभा भी इतनी महान थी कि वह अपने समय में प्रचलित सभी दार्शनिक धाराओं का समन्वय कर सके । इसलिये उनके दार्शनिक विचारों और उनकी समन्वयकारी महत्ता को समझने के लिए मध्ययुगीन समाज में प्रचलित उन समस्त परस्पर विरोधी विचार पद्धतियों और साधना प्रणालियों के पृष्ठभूमि से परिचित होना जरूरी है जिनका उन्होंने समन्वय किया । यहां एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए मध्ययुगीन भारतीय विचार परम्परा तात्विक दृष्टि से मूलत: आदर्शवादी थी । यद्यपि मत मतान्तर अनेक थे और उनका परस्पर विरोध्र कभी कभी उग्ररूप धारण करके सामाजिक वैषम्य को और भी तीव्र कर देता था । तुलसीदास ने यदि समन्वय किया, तो यह समन्वय तात्विक दृष्टि से मूलत: आदर्शवादी ही था वैज्ञानिक नहीं क्योंकि वैज्ञानिक तत्वदर्शन की प्रणाली उस समय की भारतीय चिन्तन-धारा का अंग न बन पाई थी । उस समय विद्रोह और प्रगति की धाराएं भी धार्मिक,

आन्दोलनों और भक्ति-भावनाओं के माध्यम से व्यक्त होती थी । जिस प्रकार रुढ़ि जर्जर ह्रासोन्मुखी विचारधारायें धर्म का आश्रय लेती थी ।

तुलसी के पूर्ववर्ती दार्शनिक विचार परम्परा और उपासना पथों एव सम्प्रदाय के परस्पर विरोध में मूल कारण मात्र सैद्धान्तिक नहीं बल्कि सामाजिक वास्तविकता की परस्पर विरोधी परिस्थितियों में छिपे थे तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायों वैष्णव भक्त और शैव आदि की मूल दार्शनिक प्रेरणा की प्राचीन परम्परा में भी सामाजिक परिस्थितियों के परस्पर विरोध ही कारण के रूप में विद्यमान थे । वैदिक धर्म जिसे यज्ञ दर्शन की सज्ञा दी जाती है । आर्यो की जाति प्रभुता का प्रतीक था और उसके विरोध में आर्येत्तर विचार धाराओं को जन्म मिला यही नहीं वैदिक हिंसा के विरोध का मूल कारण जातिदम्भ के प्रति विजातियों का असंतोष भी था । बौद्ध दर्शन का उदय आर्यो के मध्य ही जातिदम्भ और वैदिक हिंसा के विरोध में हुआ । जातिदम्भ के सबसे बड़े रक्षक ब्राह्मण लोग पुरोहित के रूप में और क्षत्रिय यजमान के रूप में बने रहे । ब्राह्मणों को बौद्धों का यह दार्शनिक विद्रोह असह्य था क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था का इसस चोट पहुचती थी । इसलिए बौद्धों के विरोध में शंकर दर्शन की प्रतिष्ठा में ब्राह्मणों ने सर्वाधिक योग दिया, और यज्ञ दर्शन के स्थान पर उन्होंने उपनिषद् के विभिन्न चिन्तनों तथा पुराणों की कथाओं का आश्रय लिया । श्रुति-स्मृति विरोधी धर्मो का उदय भी उन्हीं वर्गो द्वारा हुआ, जिन्हें श्रुति स्मृति के नियमों में स्थान प्राप्त नहीं था । ऐसे लोगों ने वेदानुकूल और देश विरोधी दोनों रूपों में अपने अलग शास्त्रों की रचना की- जैसे शाक्त सम्प्रदाय में तंत्र ग्रंथ । इस सम्प्रदाय के अनुसार शक्ति के रूप में प्रकृति स्त्री या देवी की उपासना प्रमुख थी और इसमें भी दक्षिणी पंथी और वामपंथी भेद हो गये, इन वामपंथियों ने मद्य, मांस, मत्स्य मुद्रा और मैथुन इन

पांच मकारों की उपासना शुरू की । गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे भक्तों का विरोध किया ।

गोस्वामी तुलसी के काव्य को समन्वय की विराट चेष्टा कहा गया है । इस समन्वय में उन्होंने राजनीति, समाज, धर्म, परिवार, अध्यात्म, आचार-विचार, भाषा-भाव एवं रसविषयक किसी भी क्षेत्र को नहीं छोड़ा है वे एक मानस पारखी कलाकार थे उन्होंने जहां मानवीय मनोवृत्तियों के गहराई में छिपे भाव का सूक्ष्म विश्लेषण किया है । वहा कविता कामिनी के हृदय को रस क सहस्त्र स्रोत से भी आप्लावित कर दिया है । वे केवल शुष्क मनोवैज्ञानिक ही नहीं थे वरन् उन्होंने मनोविज्ञान के हल्के और गहरे रूपों को रसमयी वाणी के साथ संश्लिष्ट करके काव्यमयी अभिव्यक्ति दी ।

भक्तिकाल के काव्यकाश में यद्यपि अनेक कवि नक्षत्रों का उदय हुआ किन्तु जो आभा लेकर तुलसी अवतरित हुए, वह अन्य किसी में परिलक्षित नहीं हुई । तुलसीदास जी काव्य के क्षेत्र में जितनी गहराई तक प्रविष्ट हुए उतनी ही गहराई तक उन्होंने भक्ति के सरोवर में भी डुबकी लगाई और उन्होंने रामनाम रूपी, अलभ्य मुक्ता सर्वजन हेतु सुलभ कराकर जनमानस को चमत्कृत कर दिया । मूलतः तुलसी एक भक्त किन्तु भक्ति को 'सर्वजन हिताय' प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने जिस कविता का सम्बल ग्रहण किया उसे वे अलंकृत करने से नहीं चूके, इसलिए काव्य कौशल में कहीं भी शैथिल्य नहीं आने पाया है । काव्य कौशल के सभी पहलुओं का जितना संतुलित और सारगर्भित स्वरूप तुलसी में दृष्टिगत होता है । उतना अन्य किसी में नहीं ।

तुलसी भक्त कवि थे काव्य शास्त्रीय आचार्य नहीं । उन्होंने कविता की रचना भक्ति भावना के प्रस्तुतीकरण के लिए की । उनका मुख्य उद्देश्य अपने इष्ट देव राम की मर्यादामयी महिमा को जन-जन तक पहुंचाना था । इसलिए

उनका काव्य प्रधान है तथा काव्य कौशल उसका वाहक है । वे काव्य को सर्वोपयोगी मानते थे इसलिए उनकी कविता में स्वत: काव्यदर्शो का समावेश होता गया । उसके अन्तर्गत उनकी जीवन के प्रति दृष्टि तथा सामाजिक आदर्शो का सम्यक विवेचन दृष्टिगत होता है ।

तुलसी मूलत: अन्त जीवन के गायक है । भौतिक जीवन की समग्र धारायें यदि एकाग्र होकर सत्य, शिव और सुन्दर में समाहित नहीं होती । तो वह जीवन धारा मानव जीवनधारा का यथार्थ रूप नहीं है । किन्तु मन और बुद्धि का ये ऊंचा स्तर सर्वत्र और सर्वदा सुलभ नहीं होता । जन्म लेकर विद्या का संस्कार प्राप्त किये बिना राम सत्य की प्राप्ति असंभव है ।तुलसी की साधना का उद्रेक-सूत्र अपनी पृष्ठभूमि में भारतीय चिन्तन और दर्शन की विविधताओं को समेटे हुए हैं । उनके जीवन दर्शन में इसलिए वैदिक और पौराणिक साधना और चिन्तन पद्धतियों के साथ-साथ अन्य अनेक परम्पराओं का भी प्रभाव है । जीवन को पूर्ण सुखी बनाने के लिए उन्होंने वैदिक वर्णाश्रम धर्म के साथ लौकिक आचरणों को भी मान्यता दी है । जीवन के रामत्व के अर्विभाव को प्रधानता देते हुए भी उन्होंने लौकिक परम्पराओं और आस्थाओं को व्यवहार सत्य के रूप में ग्रहण किया है ।

तुलसी का चिन्तन उदार और समन्वय संतुलित है । मानव मंगल और मानस मंगल के लिए उपयोगी कोई भी तत्व उन्हें सर्वत्र ग्राह्य रहा है । किन्तु इसके साथ में आचरण के वैशिष्टय और व्यक्ति की महत्ता को एक क्षण के लिये पतित होते नहीं देखना चाहते। अत: अनेक स्थानों पर वे उन विचारकों के कठोर आलोचक भी हो जाते हैं । जो आचरण की गरिमा की मनमानी व्याख्या करने लगते हैं ।

तात्विक दृष्टि से तुलसी ने सत्य को अभेद रूप कहा है । यह विचारधारा आचार्य शंकर के अद्धैतवादी दर्शन की पोषक है । उन्होंने लोकदृष्टि और परलोक दृष्टि में तात्विक भेद नहीं माना है व्यवहार भेद दोनों को उजागर करने वाला दर्शन है । तुलसी ने प्राय: परमार्थ को लक्ष्य किया है । और जगत के मूल में उद्धेलित परम सत्य रामतत्व का संधान किया है जो व्यवहार और परमार्थ दोनों में ही शिव और सुन्दर है । तुलसी जीवन दर्शन में व्यवहार सत्य के प्राय: तीन स्तर हैं प्रथम जीवन जो शरीर और शरीर की आवश्यकता पूर्ति को ही जीवन मानता है । द्वितीय जिसमें शरीर से ऊपर उठकर मन को सूक्ष्म भावरूपता है । जिसमें यदाकदा आध्यात्मभाव झलक जाता है । तृतीय जो शरीर, इन्द्रियों और मन आदि के मूल में विद्यमान अखण्ड चेतना के प्रति अभिमुख हो गया है । इसके अतिरिक्त चौथी श्रेणी भी है जिसमें स्त्री, पशु और पक्षी है जो निकृष्ट जीवन जीवित रहकर भी राम के रामत्व के अधिक निकट रहते हैं । तुलसी की अभेद और उदार दृष्टि में सर्वात्मभाव की प्रधानता है । चौथी श्रेणी में आने वाले पशु, पक्षी आदि विशेषरूप से भक्ति के अधिकारी हैं । जहां अभेद चिन्तन धारा में ज्ञान की प्रधानता है । वहीं भक्तिधारा में हृदयतत्व प्रवल रहता है । जीवनधारा में यदि ज्ञान और प्रेम का समन्वय संभव हो सके तो उससे श्रेष्ठ अन्य साधन नहीं है तुलसी के जीवन दर्शन में ज्ञान और प्रेम की युति है ।

आदर्श की उच्चता के अंतिम छोर को छूपाना सामान्य मुनष्य के लिए शक्य नहीं है । आदर्श की मर्यादा के रूप में तुलसी ने राम को ही पूर्ण आदर्श माना है । लोकाचरण और सामाजिक नीतियां सिद्धान्त रूप में तो सर्वत्र और अतिसुलभ है किन्तु उनके पालन की कला का ज्ञाता बिरला ही होता है । लोकाचरण ही लोकधर्म है । और इसके सम्यक पालन से परमार्थ का मार्ग खुलता है । मानव सामान्यतया स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होता है और आचरण धर्म

का पालन उसके लिये दुष्कर होता है । किन्तु तुलसी के राम लोक और परलोक की मर्यादाओं के पोषक और सस्थापक है ।

आचार्य गोस्वामी जी ने राम के रूप में केवल 'गरीब नवाज' रूप में ऐसा नेता भी दिया है जो समस्त जगत को मंगल मार्ग पर ले चलने में सक्षम है किन्तु उसकी उपलब्धियों की सीमाएं होती है । इस सीमाबद्ध स्वच्छन्द जीवन धारा को सार्थक बनाने के लिए मानवकर्म में कौशल की अपेक्षा है । तुलसी ने राम के माध्यम से लोकजीवन को एकअद्भुत कलाकार प्रदान किया है । जिसके सुगढ़ और सुन्दर हाथों से परममगलकारी लोकजीवन का निर्माण होता है ।

गोस्वामी तुलसीदास की कला दृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि के प्रथम अध्याय में स्वरूप की व्याख्या विस्तृत रूप से की गयी है । तथा कलादृष्टि में कला और साहित्य का अन्तर सम्बन्ध दर्शाया गया है । अन्र्तसम्बन्ध के साथ ही साथ रामचरित मानस के सौन्दर्य बोध को पूर्णत: परिलक्षित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है । इसी अध्याय में सौन्दर्य बोध और कला तथा सौन्दर्य का अर्थ रचना और कल्पना आयाम संकेत रूप और लक्षण रूप कल्पना का स्वरूप कलात्मक मूल्य आयाम, मनोरंजकता और सामाजिक प्रभाव, रस और भाव का आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । साथ में सामाजिक दृष्टि के स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ सामाजिक दृष्टि के अन्तर्गत परिवार, व्यक्ति, स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, नौकर-चाकर, पशु तथा राजा प्रजा आदि के अन्र्तसम्बन्ध की शास्त्रीय व्याख्या करने का पूरा प्रयास किया गया है । धर्म का सामाजिक सन्दर्भ के साथ राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दृष्टि की शास्त्रीय व्याख्या एवं मनुष्य के साम्य का यथास्थान पर्याप्त स्थान देने का प्रयास किया गया है ।

इसी सन्दर्भ में यह प्रतियां अपने मूल चारूत्व के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक प्रतिमानों को वस्तु सत्य की यथार्थ के रूप के विकृति के साथ अपने संश्लेषित रूप में सम्पन्न होती है । जिसमें ज्ञान और भाव का आत्मसंघर्ष भी होता है और उसकी परिणति साधना और सिद्धि की स्वत: योग में हाती हे ।

गोस्वामी जी का काल मूलत: दो सस्कृतियों का आत्म सघर्ष हे । जिसमें नैतिक मूल्य अपने सांस्कृतिक मूल्य से टकराते हैं । और मास्कृतिक परिवार, धर्म अर्थ तंत्र एवं पुरुषार्थ रूप से मिलकर अपने आध्यात्मिक स्वरूप को व्याख्यायित भी करते हैं । हां यह अवश्य है संस्कृतियां आरोपित नहीं हुआ करती । गोस्वामी जी के यह विचार स्वत: कलात्मक रूप में सन्शलेषित होते हैं। गोस्वामी जी अपनी रचनाओं के द्वारा राम भक्ति को जहां प्रतिष्ठित किया वहीं उनसे प्रभावित होकर भक्ति मार्ग के तत्वों की व्याख्या आध्यात्मिकता और राष्ट्रीयता के मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में उन्होंने राम का आदर्श समाज के सामने रखा और रामोपासना की उचित तथा तत्कालीन प्रसंगानुरूप प्रदर्शित भी किया । समाज की विश्रृंखलता को लच्छित कर जहां भक्तिमार्ग को योग संग्राहक रूप दिया वहीं लोक मंगल की प्रतिष्ठा के निमित्त समन्वयवाद का भी सहारा लिया ।

गोस्वामी तुलसीदास जी के रचनाओं में उनकी लोकदृष्टि के संदर्भ में स्वर्गीय मैथिलीशरण जी गुप्त की उक्त पक्तियां उद्धृत कर रहा हू

> ''मानते हैं जो कला के अर्थ ही ।
> स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही ।।

साकेत प्रथम सर्ग में इस प्रकार की दो आतियां आती है । एक में निर्माण और दूसरे में परिणाम या एक में कला और दूसरे में उपादेयता ही चरम लक्ष्य हो

जाती है । निर्माण या कला पक्ष की मान्यता आनन्द प्रदान करने में है । उससे किसी प्रकार की उपयोगिता या शिक्षा प्राप्त करना नहीं है ।

श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है कि विश्व की अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का प्रकाश है उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं, उसके अलौकिक भाषा चक्र हमारे हृदय की तन्त्रीं आनन्द के झंकार से बज उठती है । वही हमारे लिये परम लाभ है । कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है । निर्माण पक्ष का समर्थन करते हुए प्लेटो ने भी कहा है, ''कि काव्य या कला का प्रयोजन है आदर्श श्रृष्टि की रचना का अनुसंधान करना और काव्य को इतना मनमोहक तथा प्रभावशाली बना देना जिससे पाठक आत्मविस्मृत के आवरण में उनके अनुसार ही आचरण करने के लिए बाध्य हो सके ।'' आस्कर वाइल्ड प्रभृति विद्वान का कथन है कि, ''कला का कार्य सौन्दर्य की श्रृष्टि करना है तथा सौन्दर्याभिव्यक्ति ही कला है ।''

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा सरल, प्रवाहमय हृदयग्राही एवं सरगर्भित तो हैं । तथापि उसमें भाषा सम्बन्धी तमाम प्रकार की विशेषताएं शामिल है जिसकी वजह से ही उनकी कृति रामचरित मानस आज विश्व की श्रेष्ठतम पुस्तकों में अग्रणी मानी जाती है इसी सन्दर्भ में गोस्वामी जी के उनके इस व्यवहार का यत्र-तत्र प्रभाव उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता हैं । इसकी अनुनासिक ध्वनि इसे विशुद्ध बुन्देली शब्दों के अन्तरगत ला रखती है ।

उनके काशी निवास के आधिक्य के फलस्वरूप यह भी सम्भव है कि इस बोली के कुछ शब्दतुलसी की अपनी बोल-चाल में इतने घुल मिल गये हैं कि वे अपनी रचनाओं में भी उनके प्रभाव से अछूते न रह सके हो, अथवा अपनी सहज समन्वय वृत्ति के कारण उन्होंने इस बोधी के प्रयोगों को भी स्थान देना उचित

समझा हो । जहां तक व्याकरण तथा बोलचाल की ठेठ परम्परा का सम्बन्ध है भोजपुरी, अवधी से बहुत अंशों में मिलती जुलती है तथा एक दूसरे पर अवलम्बित है । इसी सन्दर्भ में गोस्वामी जी की एक अद्‌भुत विशेषता पर चर्चा करना आवश्यक है वह यह कि उन्होंने समाज के सामाजिकता पर विशेष बल दिया है ।

उनकी काव्यामृत श्री रामचरित मानस में माता पिता, भ्राता, जमाता, देवर-भाभी आदि का एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार समसामयिक है। का उदाहरण प्रतिपल मिलता है। सेवकों का क्या कर्त्तव्य है, गुरु के प्रति क्या व्यवहार उचित है । साथ में उन्हें ज्योतिष, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान तथा प्रकृति चित्रण में भी महारत हासिल थी ।

गोस्वामी जी की कृतियों गीतावली, कवितावली तथ कृष्णगीतावली या रामचरित मानस में तमाम प्रकार के उदाहरणों से यह दृश्य उपस्थित करने का असतुत्य प्रयास किया है कि व्यापारी का क्या कर्त्तव्य है किसान को किसी तरह से अपनी फसल को उपजाना चाहिए तथा अधिक उत्पादन या किस प्रकार के रोग हो सकते है । आदि का विवरण रामचरित मानस के अप्रतिम उदाहरण हैं ।

इस तरह हम गोस्वामी जी की रामचरित मानस के कलादृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि के तुलनात्मक अध्ययन में तमाम निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त इस निष्कर्ष में पहुंचे है कि रामचरित मानस का अवगाहन के बाद जो भी तमाम प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं की आपूर्ति है उसे खोजने का एक विनम्र प्रयास ही कर सकते हैं ।

इस शोध प्रबन्ध का विषय प्रतिपादन प्रो0 मालती तिवारी के अध्यक्षता में और प्रो0 सत्यप्रकाश के संयोजकत्व में निर्धारित हुआ था और जिसके लिये उन्होंने कृपा शंकर पाण्डेय के निर्देशन में सम्पन्न करने की स्वीकृति प्रदान की थी मैं इस

समिति की अध्यक्षा प्रो0 मालती तिवारी एवं उनके समिति के संयोजक प्रो0 सत्य प्रकाश जी तथा अपने निर्देशक डा0 कृपाशंकर पाण्डेय जी का बहुत आभारी हू जिन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से मुझे शोध करने की अनुमति प्रदान की तथा मेरा विषय निर्धारण किया । हिन्दी विभाग के समस्त गुरुजन मेरे सम्मानीय है। जिनमें डा0 कृपाशकर पाण्डेय जी की मेर ऊपर अपार कृपा रही है उनका स्नेह मुझे एक निर्देशक एवं गुरु की तरह नहीं बल्कि बड़े भाई की तरह वरद हस्त रूप में प्राप्त है । उनकी ही आसीम कृपा से यह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्ण होने तक उनकी बहुत बड़ी छत्रछाया रही है जिसके लिए मैं उनका आजीवन आभारी रहूंगा तथा उनके गुरुत्व ऋण से कभी भी उबरने का साहस ही नहीं कर सकूंगा ।

इसी कड़ी में अपने पूज्यपाद पितामह स्व0 श्री जयगोपाल द्विवेदी एवं दादी रुपवती देवी तथा पूज्यपिता स्वर्गीय श्री हरिदत्त द्विवेदी के आर्शीवाद स्वरूप एवं करुनामयी माता श्रीमती त्रिवेणी देवी जिनकी छत्रछाया में मैं इस शोध प्रबन्ध की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सका । साथ में पत्नी श्रीमती सरोज द्विवेदी का अतुलनीय प्रयास सराहनीय रहा साथ मं पुत्र अम्रतान्शु द्विवेदी एव अनुज द्विवेदी का भी सहयोग प्राप्त हुआ ।

इलाहाबाद डिग्री कालेज के प्रबन्ध समिति के प्रबन्धक माननीय डा0 पीयूष रंजन अग्रवाल जी का हृदय से आभारी हूं जिनके आदेश से ही इस गुरुतर कार्य का प्रारम्भ हो सका । साथ में भूतपूर्व प्राचार्य डा0 हर्षदेव सिंह एवं वर्तमान प्राचार्य प्रो0 जी0के0 अग्रवाल का भी आभारी हूं । साथ में इलाहाबाद डिग्री कालेज के पुस्कालयाध्यक्ष श्री रमेश कुमार श्रीवास्तव एव उपपुस्तकालयाध्यक्ष डा0 त्रिपुरारी नाथ दुबे का मुख्य रूप से सहयोग मिला । विज्ञान संकाय विभाग के संयोजक श्री सालिग राम अग्रवाल एवं अपने पुस्कालय सहायक श्री कैलाश नाथ

वैद्य का सराहनीय सहयोग भी प्राप्त होता रहा । हमारे पुस्तकालय के वरिष्ठ सहयोगी श्री पृथ्वी पाल कुशवाहा के सहयोग को मैं कैसे भूल सकता हूं । ये समस्तजन बधाई के पात्र है जिनके आसीम सहयोग से मैंने यह कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न किया ।

मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख्य पुस्तकालय अध्यक्ष तथा हिन्दुस्तान एकेडमी के पुस्तकालयाध्यक्ष के कर्मठ सहयोगियों का आभार प्रदर्शित करता हू । अन्त में शोध प्रबन्ध के लेखन कार्य सम्बन्ध व्यवस्थापक श्री प्रेम प्रकाश श्रीवास्तव एवं राजू मौर्य का बहुत आभारी रहूंगा जिन्होंने इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न कराने में मेरी भरपूर सहायता की ।

****

प्रथम अध्याय

कला दृष्टि और सामाजिक दृष्टि के स्वरूप की व्याख्या

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य और कला विषयक दृष्टिकोण को भली प्रकार से समझने के लिये यह अनिवार्य है कि हम उनक जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझें, और इसके लिये उनकी निम्नलिखित पँक्तियाँ यथेस्ट होंगी।

> बडे भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।
>
> साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा।
>
> सो परमदुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
>
> कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।।
>
> येहि तन करफल विषय न भाई। स्वगहु स्वल्प अन्त कठिनाई।
>
> नर तनु पाइ विषय मनदेही। पलटि सुध्रते सठ विष लेहीं।
>
> ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुजां ग्रहैपर समनि खोई।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि तुलसीदास जी इस जीवन के परे भी एक जीवन मानते-हैं और उस परम जीवन के लिये ही इस जीवन का एक सोपान मात्रा के रूप में ग्रहण करते है। जो व्यक्ति इस जीवन को उस परम जीवन के लिये मानता है, वह ''कला के लिए कला'' के सिद्धान्त को नहीं ग्रहण कर सकता वह स्वत: प्रमाणित है। और ''कला जीवन के लिये है'' इस मत को भी वह पूर्णत: स्वीकार नहीं कर सकता यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वह कला को भी वहीं तक जीवन के लिये ग्रहण करेगा जहाँ तक कि वह उस परम जीवन के सहायक होती है। तुलसीदास का यह परम जीवन राम भक्ति क रूप म प्रस्फुटित होता है राम भक्ति के अभाव में शेप समस्त परमार्थ को यह हेय समझते है यहाँ तक की मुक्ति को भी, और इस मत को उन्होंने नाना

रूपों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनका सारा "रामचरित मानस" इसी मत को प्रस्तुत करने का एक विराट आयोजन मात्रा प्रतीत होता है। राम अपनी वन यात्राा में जब ऋषियों, मुनियों और परमार्थ साधकों स मिलते हैं। वे अपनी समस्त साधनाओं का फल राम को अर्पित कर उसके बदले में उनकी भक्ति की याचना करते हैं।

"जोग जग्य जप तप जत कीन्हा। प्रभु कहुं दइ भगति वर लीन्हा।
ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति वर लयऊ।

राम अपने उपासकों को सब कुछ यहाँ तक कि मोक्ष भी देते हैं। परन्तु सब कुछ से उनके भक्तों को संतोष नहीं होता है। वे केवल उनकी भक्ति चाहते हैं।

"काग भुसुंडि माग वर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनमादिक सिध ऊपर रिधि मोक्ष सकल सुख खानि।

फलतः राम भक्ति ही तुलसीदास के सम्पूर्ण जीवन वृत्त का केन्द्र बिन्दु है। यही कारण है कि उनकी एक भी रचना ऐसी नहीं है जिसके केन्द्र में यह परम जीवन साधना न मिलती हो ऐसा नहीं कि काव्य के विभिन्न उपादानों से वे परिचित नहीं थे। भले ही वे कहें।

जदपि कवित्त रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रकट येहि माही।
भनिति भदेस वस्तु भलि वरनी। राम कथा जग मंगल करनी।
कवि न होऊँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।
कवित्त विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

कवि न होऊं नहि चतुर कहऊं मति अनुरूप राम गुन गावों।

राम सुकी रति भनिति भदेसा। असमंजस असमोहि अन्दसा।

कविता के प्राय: सभी आवश्यक गुण उनकी रचनाओं में मिलते है। और कभी कभी प्रचुर परिणाम में मिलते है। इनके उपर्युक्त कथन का आशय यही ज्ञात होता है कि काव्य रचना में भले ही वे सभी उपादान मिलते हो, जब तक उसमें वह परम जीवन तत्व न हो वह कविता नहीं है। और यदि परम जीवन तत्व हो तो काव्य के उपर्युक्त उपादानों से हानि होते हुए भी रचना स्तुत्य होती है।

भनिति विचित्रा सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोहन सोऊ।
विधु वदिनी सब भाँति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी।
सब गुन रहति सुकवि कृत वानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहि सुनहि बुध ताही, मधुकर सरिस सन्त गुन ग्राही।
स्याम सुरभि पथ विसद अति, गुनद करहिं सब दान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहि सुजान।''

और इसलिये वे प्राकृत जनों और प्राकृत विषयों को अपनी कविता का वर्ण्य बनाना कवि के पवित्रा उत्तरदायित्व के प्रतिकूल समझते हैं।

भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।
राम चरित्रा सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाए।
कवि के विद अस हृदय विचारी। गावहि हरि बस कलिमल हारी।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।
हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना।
जो वरसै वर वारि विचारू। होहि कवित्त मुकता मनि चारू।।4।।
जुगुत वेधि पुनि पोहि अहिं, राम चरित्रा वर लाग।

पहिरहिं सज्जन विमल उर, शोभा अति अनुराग।।5।।

आज के समालोचक को फलतः यदि तुलसीदास के रामचरित्रा मानस अथवा अन्य रचनाओं में भी सर्वोपरि आग्रह राम भक्ति के लिये दिखाई पड़ता है। तो उसे विस्मृति नहीं होना चाहिए। उसे तो यह भली भाँति समझते हुए ही उनकी रचनाओं को हाथ में लेना चाहिए कि उसे पग-पग पर संसार के स्वप्नवत और असत्य होने के विषयों के दुखद होने के और एक मात्रा रामभक्ति के सुखद होने के कथन मिले एवं स्थान-स्थान पर राम का परमेशरत्व प्रतिपादित होगा। उसको तुलसीदास के कला के मोती उनके भक्ति सागर में पैठ कर निकालने होगे। किन्तु यह विश्वास उनको अवश्य दिलाया जा सकता है कि उनका यह परिश्रम अनुपात से अधिक फलदायक होगा। क्योंकि इकट्ठी मोतियों की इतनी बड़ी राशि उसे अन्यत्रा कठिनाई से मिलेगी। नीचे इसी विश्वास से तुलसीदास जी की कृतियों में विशेष रूप से ''रामचरित मानस'' में देखेंगे।

पूर्वी और पश्चिमी साहित्य में कला के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। पूर्व की अपेक्षा पश्चिमी साहित्य में इसकी विवेचना अधिक सार्गो पाग व्यापक और व्यावहारिक हुई है। इस देश में कला को अन्य विषयों की तरह दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। कला सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण पूर्णतया: सचेतन, शास्त्रा सम्मत तथा प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक और अन्तर ज्ञानात्मक भी है। इसका फल यह हुआ कि कला के क्षेत्रा में काव्य आदि को वहिष्कृत कर दिया गया है। यहां पर पूर्व और पश्चिम के उन मौलिक प्रश्नों को उठाया जायेगा जो दो जीवन दृष्टियों के द्योतक है। कला की चर्चा करते समय सबसे पहले कामसूत्रा का उल्लेख करना अनिवार्य है। कामसूत्रा में 64 कलाओं का उल्लेख किया गया है। जिसमें गीत वाद्य नास्य नृत्य, नाटय, काव्य, समस्या पूर्ति, आशुकविता, मालाग्रन्थ प्रहेलिका आदि का उल्लेख मिलता है। इन कलाओं का

अध्ययन करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता हैं कि ये बहुत कुछ उपयोगिता और वाणिज्य व्यापार से सम्बद्ध है। पूर्वी विद्वानों न कला का स्वरूप अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करके व्यावहारिक ससार में प्रत्येक कार्य को कला की संज्ञा दी है। साथ ही विचार और वाणी को भी उन्होंने कला का मुख्य विषय प्रतिपादित किया है। मनुष्य निर्मित प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध कला से है। एक प्रसिद्ध विद्वान समस्त विश्व को कला मानता हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के वे सभी कर्म जिनमें कुछ चातुरी या कौशल हो कला है।

सस्कृत साहित्य में ज्ञान का विभाजन दो भागों में किया गया है।(1) विद्या (2) उपविद्या। विद्या के अन्तर्गत काव्य को रखा गया है। तथा कलाएं उपविद्या के अन्तरगत आती है। शब्द और अर्थ में सहभाव को बताने वाला साहित्य विद्या कहलाता है। इस विद्या की 64 उप विद्यायें है। जिन्हें विद्वान कला कहते हैं। ये उपविद्याये या कलाएं काव्य का जीवनहै। विद्या और उपविद्या का विभाजन ज्ञान और विज्ञान के धरातल पर किया गयाहै। क्योंकि विद्या का सम्बन्ध ज्ञान से और उपविद्या का सम्बन्ध विज्ञान से है। भारतीय काव्य शास्त्रा में क्रियायें कलात्मक है। अत: भारतीय कला का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। और इसलिये वहजातीय जीवन के अनुभवों का एक चित्रा मात्रा कही जाती है।

भारतीय कला में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की भावना किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है। यही कला का सत्य है। जिसे दृष्टिपथ में रखते हुए किसी भारतीय विचारक ने कहा है 'कला सत्यम् शिव सुन्दरम् से सजी कामिनी है।'' कला मूलत: आत्माभिव्यजन और आत्मपरक साधना है। वह सृष्टि है। सौन्दर्य का साकार स्वरूप है।

पाश्चात्य दार्शनिक अनुकरण की प्रकृति से कला का उदय मानते हैं। मनुष्य अपने चारों ओर, प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन करता है। और उससे प्रभावित

होकर वह पार्थिव माध्यम द्वारा उसका चित्राण करता है। मनुष्य में अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अतएव कला सृजन अनुकरण की क्रिया होती है। और कला सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रतिविम्ब है। यूरोपीय कला की प्रवृत्ति वाीय जगत से प्राप्त प्रेरणा को ही रूप देने की रही है। अनेक पश्चिमी विद्वान ऐंद्रिक सौदौर्याभिव्यक्ति को कला मानते हैं। होगेल जैसे आध्यात्मवादी ने भी सौन्दर्य को बौद्धिक प्रत्यय की ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति मानी है। पश्चिमी कला में सवेदना को अधिक महत्व दिया गया है। अनेक विचारकों न कला में कल्पना की दृष्टि को उसमें सृजन का मूल कारण माना है। उनका कथन है कि मानव हृदय अपने चारों ओर की प्रकृति की अनेक अपूर्णताएं पाकर असन्तुष्ट होता है। इसी असंतोष के कारण उसने कल्पना से सुन्दर और सर्वांगीण वस्तुओं का सृजन कला के रूप में निहित बुद्धि अथवा अध्यात्म तत्व को व्यक्त करने की क्रिया भी कहा है। पाश्चात्य कला में कल्पना और भावना का संयोग अधिक दृष्टिगत होता है।

किसी कला में अभिव्यक्ति को सदैव उसकी प्रक्रिया तथा कार्य में एक प्रमुख तत्व माना जाता है। इस प्रकार कला में किसी विचार या अनुभूति की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण मानी गयी है। मुख्य रूप से कला अभिव्यंजना का ही मूर्त रूप है। उसमें दिव्यता रहनी चाहिए। इसलिये वह सत्य की सजीव और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कला समाज और जीवन का प्रतिबिम्ब है। और वह उसकी मीमांसा भी करती है। इसमें यर्थाथ का पुट अधिक है। यर्थाथ का तात्पर्य विस्तृत विवरण की सच्चाई विशिष्ट चरित्रों के सच्चे प्रतिफलन औरविशिष्ट परिस्थितियों के पर्यायचित्राण से है।

पाश्चात्य विद्वानों की यह भी मान्यता रही है कि जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह कला उतनी ही उच्चकोटि की होगी। तात्पर्य यह

है कि साहित्य को सर्वोत्कृष्ट कला के रूप में स्वीकार किया गया है। साहित्य में मूर्त आधार नहीं होता। अर्थ की रमणीयता ही इसका प्रधान गुण माना जाता है।

(1) "यहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिवाद्य राम भगवाना।
व्यापक अकल अनीह अज,निगुर्ण नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्रा अनूप।

(2) कीरति भेनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सन सब कर हित होई।

(3) बुध विश्राम सकल जानिरंजनि। राम कथा कलि कलुष विभंजनि।

(4) हरिहर जससुरनर गिरहुँ बरनहि सुकवि समाज।
हाडी हाटक घटित चल, राधे स्वाद सुनाज।।

भारतीय कला और पाश्चात्य कला में यत्रा तत्रा कुछ समानताओं के साथ असमानता भी दृष्टिगत होती है। समस्त महान कलाकृतियाँ अर्न्तज्ञान की एक क्रिया से उद्भूत होती हैं किसी बौद्धिक विचार या उज्ज्वल कल्पना से नहीं। ये तो केवल मानसिक रूपान्तर है। जीवन या सत्ता के किसी सत्य के सीधे अन्तर ज्ञान और उस सत्य के किसी अर्थपूर्ण रूप से मनुष्य के मन में हुए उसके किसी विकास से इनका प्रार्दुभाव होता है। इस विषय में महान यूरोपीय और भारतीय कला या रचना में कोई भेद नहीं है।

भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता आनन्दोपलब्धि है। जबकि पाश्चात्य कला सुख को कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता मानती है।

पश्चिमी मन रूप से आकृष्ट और आबद्ध होता है। उसकी स्थित पर रूप ही है। जिसमे मोहक आकर्षण से परे वहन नहीं जा सकता उसके अपने सौन्दर्य के लिये ही वह इससे प्रेम करता है। उसकी अत्यन्त प्रत्यक्ष भाषा से सीधे ही जो भावमय बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक सुझाव उत्पन्न होते है उन्हीं पर निर्भर रहता है। वह आत्मा को देह में कैद कर देता है। या हम यह भी कह सकते हैं कि

इस मन के लिये अय आत्मा की सृष्टि करता है। आत्मा को अपनी सत्ता के लिये जो कुछ कहना होता है। उनके लिये वह रूप पर निर्भरकरती है। इस विषय में भारतीय मनोभाव इस विचार के सर्वथा विपरीत है। भारतीय मन के लिये रूप आत्मा की एक सृष्टि के रूप में ही अस्तित्व रखता है किसी अन्य रूप में नहीं। वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मा से ही आहरण करता है। इस प्रकार हम देखते है कि भारत में आत्मा ही रूप को वहन करती है। जबकि अधिकाश पश्चिमी कला में रूप ही आत्मा के उस अंश को वहन करता है। जो कुछ वहाँ विद्यमान रहता है।

''बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाहिन जेहि पर लोक संवारा।
सो परम दुःख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।
यहि तनु पाइ विषय मन देही। स्वर्गहु स्वल्प अन्त कठिनाई।
नर तनु पाइ विपय मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।
ताहि कपहुं भल कहई न कोई। गुला ग्रेहे पर सिमन खोई।।

पश्चिमी दृष्टि सजीव तत्व पर जुडी हुई है। जो अपने जीवन में आत्मा के एक अल्प अंश को वहन करती है। किन्तु भारतीय मन और भारतीय कला की दृष्टि उस वृहत् असीम आत्मा एव अध्यात्म सत्ता की दृष्टि है जो अपनी उपस्थिति में हमारे सामने अपने जीवन आकृति को ले आती है। वह आकृति उसकी अपनी अनन्त तुलना में चाहे छोटी हो जाती है किन्तु जो शक्ति इस प्रतीकको अनुग्रहीत करती है। उसके द्वारा अनन्त की अभिव्यक्ति मे ंकिसी रूप को आश्रय देने के लिये यह पर्याप्त होती है।

पश्चिमी कलाकार वाह्य प्रकृति के रूपों को कठोरता पूर्वक सही सही नकल करते हुए अपना कार्य करता है। बाह्य जगत ही उसका आर्दश नमूना होता है। और उसको इसे अपनी दृष्टि के सामने रखना पड़ता है। उसे वस्तुत: विचलित होने के किसी भी चेष्टा को दबाना होता है। भौतिक दृष्टि का दबाव तो गौड़ होता हैं। और उस सदा ही जान बूझकर हल्का कर दिया जाता है। जिसमें एक अत्यन्त प्रबल आध्यात्मिक एव अन्तरात्मिक छाप डाल दी जा सके। ऐसी हर एक वस्तु दबा दी जाती है। जो इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं कर पाती। अथवा जो मन को इस उद्देश्य की पवित्राता से विचलित करती हो।

''जदपि कवित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रगट यहि माही।।
भनिति भदेस वस्तु भलि बानी। राम कथा जग मंगल करनी।
कवि न होऊ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित्त दोष गुन विविध प्रकारा।
कवित्त विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौ लिखि कागद कोरे।
कवि न होऊ नहि चतुर कहावौं। मति अनुरूप राम गुन गावौं।
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस असमोहि अन्देसा''

महान कलाकारों के हाथों में पड़ने से यह ऊचा उठकर जीवन के ऐन्द्रिय आकर्षण की महत्ता और सुन्दरता काम स्वभाव भावा वेग, और कर्म की काया आश्चर्य जनक शक्ति और प्रेरक ध्येय का अभिव्यंजक बन जाताहै। यूरोप में सौर्न्दयात्मक कृति का सामान्य रूप यही रहा है। किन्तु भारतीय कला में यह हेतु कभी सर्वोपरि नहीं होता यह सत्य है कि ऐन्द्रिय आकर्षण यहाँ विद्यमान है। किन्तु वह उस चैत्य श्री सुषमा और सुन्दरता की आत्म समृद्धि में मुख्य नहीं है। केवल

एक तत्व के रूप में परिमार्जित कर दिया गया है। जो भारतीय कलाकार की दृष्टि में सच्ची सुन्दरता या लावण्य है।

पश्चिमी कला की यह सामान्य प्रवृति है कि वह सदा प्रकृति के प्रति प्रत्यक्ष रूप में सच्ची रहने के लिए लालायित रहती है। परन्तु भारतीय कलाकार इस पद्धति का परित्याग करके अन्दर से आरम्भ करता हुआ वस्तु की अभिव्यक्ति करना चाहता है। उसे अपनी अन्तर आत्मा में देखता है। और अपने अन्तर ज्ञान को यर्थाथ रेखा वर्णिका और योजना को खोजने की चेष्टा करता है। यह रेखा जब भौतिक धरातल पर प्रकट होती है तब वह भौतिक प्रकृति की रेखा वर्णिका और योजना को यर्थाथ और स्मारक प्रतिकृति आकार का चैत्य रूपान्तर प्रतीत होती है। वास्तव में जिन आकारों को वह चित्रित करता है। वे पदार्थो के ऐसे रूप होते हैं जिन्हें वह चैत्य स्तर में अनुभव कर चुका होता है। यह आरम्भिक आकार होते है। जिनकी भौतिक वस्तुएँ एक स्थूल प्रतिरूप हे। ओर इतनी सूक्ष्मता एवं दृढता से उस चीज को तुरन्त प्रकाश में ले आती हैं। जिसे भौतिक वस्तु अपने आवरणों की स्थूलता से ढक देती है। यहां जिन रेखाओं और रंगों की खोज की जाती है। वे चैत्य रेखाएं और चैत्यरंग है। जो कला कालू के उस अन्तर दर्शन की अपनी चीजें है जिन्हें पाने के लिये वह अपने भीतर गया होता है।

भारतीय कला प्रबल आध्यात्मिक भाव से पूर्णतः आप्लावित हैं। वह भक्ति के अवर्णनीय एवं वास्तविक उच्छवास और अस्तित्व से परिपूर्ण है। सचमुच यह एक ऐसा संकेत या एक ऐसा सत्योन्मेष है। जो बाह्याकृति पर निर्भर रहने के बजाये रूप से प्रकट हो उठता है। या उमड़ पड़ता है। परन्तु पाश्चात्य कला केवल उदातीकृत शारीरिक या ऐन्द्रिक आनन्द को जागृत कर सकती है।

"भनिति विचित्रा सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।

विधु वदिनी सब भाँति सवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन रहित कुमति कृत वानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहि सुनहि बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुन ग्राही।
स्याम सुरभि पय विसद अति, गुनद करहि सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहि सुजान।

पाश्चात्य कला बाह्य रूप पर बल देती है। और उसके द्वारा यह एक कल्पनात्मक दृष्टि से युक्त अंत:प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित करती है। जिसका लक्ष्य किसी दिव्य शक्ति को प्रकट करना होता है। और इसलिये वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करती है। जो सौन्दर्य वोधात्मक । सुख से कही अधिक होती है। भारतीय कला स्थूल कल्पना से तो अधिक दूर पर आत्मा के अधिक निकट होती है। वह भौतिक रूप को उस वस्तु के मुकाबले गौड़ स्थान प्रदान करती है।

पाश्चात्य कला अन्त: स्फुरित जीवन और प्रकृति में विद्यमान किसी बाह्य रूप से मिलने वाले संकेत के द्वारा निर्मित होती है अथवा अन्तर आत्मा के किसी वस्तु से उद्भूत होती है। यह अपना सम्बन्ध एक बाह्य अवलम्बन के साथ जोड़ लेती है। कलाकार उस अन्त: स्फुरण को अपने सामान्य मन में उतार लाता है। और बौद्विक विचार एक बुद्विमत कल्पना के द्वारा उसे उस मानसिक उपादान का जामा पहनाने के काम में लगा देता है जो प्रेरित बुद्वि भावावेश और सौन्दर्य बोध के अपने ही रूप में परिणति कर डालने में सक्षम होता है। वह अपनी आँख और हाथ को उन रूपों में क्रियान्वित करने में नियुक्त कर देता है। जो जीवन और प्रकृति के आयात सुन्दर (अनुकरण) से आरम्भ करते है। और साधारण हाथों में अधिकांश यही समाप्त हो जाते है। इसके दूसरी तरफ भारतीय कला का लक्ष्य अन्तर आत्मा की दृष्टि से सम्भव परमात्मा, अनन्त एवं भगवान के कुछ अन्श को प्रकट करना है। उसका कार्य अन्तर आत्मा की बोध शक्ति को प्रकट करना,

प्रकाशमय रूप में उनकी व्याख्या करना या किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि भारतीय कला अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक है।

''भगति हेतु विधि भवन विहाई, सुमिरत सारद अवति धाई।
राम चरित्रा सर बिनु अन्हवाये, सो समुझाइ न कोटि उपाए।
कविकोविद अस हृदय विचारी, गॉवहि हरि जस कलिमल हारी।
कीन्हे प्राकृत जनगुन गाना। सिर धुननि गिरा लगति पछिताना।
हृदय सिंधु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना।
जो वरषै वर वारि विचारू। होइ कवित मुकता मनि चारू।
जुगुति वेधि पुनि पोहि अहि, राम चरित्रा वर ताग।
पहिरहि सज्जन विमल उर, शोभा अति अनुराग।

भारतीय कला और पाश्चात्य कला के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला के स्वरूप का विस्तुत एवं गहन विवेचन दोनों देशों में पर्याप्त मात्राा में सम्पन्न हुआ है। भारतीय कला यदि एक पक्ष पर संसार में अपना गौरव रखती है। तो पाश्चात्य कला दूसरे पक्ष पर, इस प्रकार दोनों देशों की विचारधाराओं में कला का मजुल रूप छिपा हुआ है। अत: इस स्वरूप को उभारने के लिये दोनों देशों के पश्चिमी कलाकार बाह्य प्रकृति के रूपों को कठोरतापूर्वक सही-सही नकल करते हुए अपना कार्य करते है।

वाह्य जगत ही उसका आदर्श नमूना होता है। और उसको इसे अपनी दृष्टि के सामने रखना पड़ता है। उसे वस्तुत. विचलित होने की किसी भी प्रवृत्ति को या सूक्ष्मतर आत्मा के प्रति अपनी प्रमुख निष्ठा प्रर्दशित करने की किसी भी चेष्टा को दबाना होता है। भारतीय कला में समस्त सर्जना शक्ति आध्यात्मिक एवं अन्तरआत्मिक दृष्टि से प्राप्त होती है। भौतिक दृष्टि का दबाव तो गौड़ होता है।

और उसे सदा ही जान बूझकर हल्का कर दिया जाता है जिसमें एक अत्यन्त प्रवल आध्यात्मिक एवं अन्तरात्मिक छाप डाल दी जा सके। ऐसी हर एक वस्तु दबा दी जाती है। जो इस उद्देश्य को सिद्ध नहीं कर पाती। अथवा जो मन को इस उद्देश्य की पवित्राता से विचलित करती है।

महान कलाकारों के हाथों में पड़ने से यह ऊँचा उठकर जीवन के ऐन्द्रिय आकर्षण की महत्ता और सुन्दरता का या स्वभाव भावा वेग, और कर्म की आश्चर्य जनक शक्ति और प्रेरक ध्येय का अभिव्यंजक बन जाता है। यूरोप में सौन्दर्यात्मक कृति का सामान्य रूप यही रहा है। किन्तु भारतीय कला में यह भी हेतु कभी सर्वोपरि नहीं होता यह सत्य है कि ऐन्द्रिक आकर्षण यहॉ विद्यमान है। किन्तु वह उस चैत्य श्री सुषमा और सुन्दरता की आत्म समृद्धि में मुख्य नहीं है। केवल एक तत्व के रूप में परिमार्जित कर दिया गया है। जो भारतीय कलाकार की दृष्टि में सच्ची सुन्दरता वाला रूप है।

''नाना पुराण निगमागम कसम्मत यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्य तादि।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबधनेति मन्जुल मातनोति।''

पश्चिमी कला की वह सामान्य प्रवृति है कि वह सदा प्रकृति के प्रति प्रत्यक्ष रूप में सच्ची रहने के लिए लालायित रहती है। परन्तु भारतीय कलाकार इस पद्धति का परित्याग करके अन्दर से आरम्भ करता हुआ वस्तु की अभिव्यक्ति करना चाहता है। उसे अपनी अन्तर आत्मा में देखता है। और अपने अर्न्तज्ञान की यर्थाथ रेखा वर्णिका और योजना को खोजने की चेष्टा करता है। यह रेखा जब भौतिक धरातल पर प्रकट होती है तब वह भौतिक प्रकृति की रखा वर्णिका और योजना की यर्थाथ और स्मारक प्रतिकृति नहीं होती, वरन उससे कहीं अधिक एक ऐसी चीज होती है। जो हमें प्राकृतिक आकार का चैत्य रूपान्तर प्रतीत होती है। वास्तव में जिन आकारों को वह चित्रित करता है। वे पदार्थो के ऐसे रूप होते

है। जिन्हें वह चैत्य स्तर में अनुभव कर चुका होता है। ये आत्मिक आकार होते है। जिनकी भौतिक वस्तुएँ एक स्थूल प्रतीक रूप हैं। और इतनी सूक्ष्मता एव शुद्रता से उस चीज को तुरन्त प्रकाश में ले आती है। जिसे भोतिक वस्तु अपने आवरणों की स्थूलता से ढक देती है। यहॉ जिन रेखाओं और रगों की खोज की जाती है। वे चैत्य रेखायें और चैत्य रंग है। जो कलाकार के उस अन्तरदर्शन की अपनी चीज है। जिन्हें पाने के लिये वह अपने भीतर गया होता है।

''बंदौ मुनि पद कंज रामायन जेहि निरमयऊ।

सरवर सुकोमल मन्जु दोष रहित दूषन सहित।

सभु कीन्ह पद चरित्रा सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।।

सोइ शिव काग भुसुण्डि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा।

भारतीय कला प्रबल आध्यात्मिक भाव से पूर्णतः आप्लावित है। यह भक्ति के अवर्णनीय एवं वास्तविक उच्छवास और अस्तित्व से परिपूर्ण है। सचमुच यह एक ऐसा संकेत या एक ऐसा सत्योन्मेष है जो बा्रय प्रकृति पर निर्भर रहने के बजाय रूप से प्रकट हो उठता है, उमड़ पड़ता है। परन्तु पाश्चात्य कला केवल उदीप्तोकृत शारीरिक या ऐन्द्रिय आनन्द को ही जागृत कर सकती है।

पाश्चात्य कला बा्रय रूप पर बल देती है। पर उसके द्वारा यह एक कल्पनात्मक दृष्टि से युक्त अन्तः प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित करती है। जिसका लक्ष्य सौन्दर्य की किसी दिव्य शक्ति को प्रकट करना होता है। और इसलिये वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करती है जो सौन्दर्य बोधात्मक निरेन्द्रिय सुख से भी अधिक होती है। वह भौतिक रूप को उस वस्तु के मुकाबले गौण स्थान प्रदान करती है।

"तेहिसन जाग बल्कि पुनि पावा । तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ।

एक बार त्रोता जुग मांही । संभु गये कुंभज रिषि पांही ।।

रामकथा मुनि वर्ज बखानी । सुनी महेष परम सुख करनी ।

सुन सुभ कथा भवानि रामचरित मानस विमल

कहा भुंसुडि पखानि सुना विहग नायक गरूण ।

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि । सो प्रसग सुनि सुमुखि सुलोचनि ।

तह बसि हरिहि भजै जिमि कागा । सो सुनि उमा सुमुखि अनुरागा ।

तब कछु काल मराल तनु धरि तहं कीन्ह निवास ।

सादर सुनि रघुपति गुन, पुनि आनऊं कैलाश ।।

पुनि मोहि कछुक काल तहं राखा। रामचरित मानस तब भाखा ।।

पाश्चात्य कला अन्तः स्फुरित जीवन और प्रकृति मं विद्यमान किसी बाह्य रूप से मिलने वाले संकेत के द्वारा निर्मित होती है । अथवा अन्तरात्मा की किसी वस्तु से उद्भूत होती है । यह अपना सम्बन्ध एक बाह्य अवलम्बन के साथ जोड़ लेती है । कलाकाल उस अन्तःस्फुरण को अपने सामान्य मन में उतार लाता है और बौद्धिक विचार एव बुद्धिगत कल्पना को उसे उस मानसिक उपादान का जामा पहनाने के काम में लगा देता है । जो प्ररित बुद्धि, भावावेश और सौन्दर्यबोध के अपने ही रूप में परिणति कर डालने में सक्षम होता है । वह अपनी आँख और हाथ को उन रूपों में क्रियान्वित करने में नियुक्त कर देता है। जो जीवन और प्रकृति के आपात-सुन्दर अनुकरण से आरंभ करते हैं । और साधारण हाथों में अधिकांश यहीं समाप्त हो जाते हैं । इसके दूसरी तरफ भारतीय कला का लक्ष्य अन्तर आत्मा की दृष्टि के सम्मुख परमात्मा अनन्त एवं भगवान के कुछ अंश को प्रकट करना एव परम आत्मा को उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा और भगवान को उनकी शक्तियों के द्वारा प्रकट करना है । उसका कार्य अन्तरात्मा की बोधशक्ति को प्रकट करना, प्रकाशमय रूप की व्याख्या करना या

किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है । इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय कला अन्तर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक है ।

भारतीय कला और पाश्चात्य कला के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला के स्वरूप का विस्तृत एव गहन विवेचन दोनों देशों में पर्याप्त मात्रा में सम्पन्न हुआ है । भारतीय कला यदि एक पक्ष पर संसार में अपना गौरव रखती हैं तो पाश्चात्य कला दूसरे पक्ष पर । इस प्रकार दोनों देशो की विचारधाराओं में कला का मंजुल रूप छिपा हुआ है । अत: इस स्वरूप को उभारने के लिए दोनों देशों की कलाओं का विस्तृत विवेचन करना अनिवार्य है। विवेच्चनोपरान्त ही हम कला के वास्तविक स्वरूप तक पहुँच सकते हैं । इसलिए भारतीय और पाश्चात्य कला की सागोपांग एवं स्पष्ट व्याख्या द्रष्टव्य है ।

भारतीय दृष्टिकोण :

'वाचसयत्पम' में लिखा हुआ है कि कला 'स्त्रीलिंग' कलपति कलते वर्कर्तरिअन कल्पेत ज्ञापते कर्मणि अन्यवा ।

सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर मे 'कला' शब्द का अर्थ कार्य कौशल से लिया गया है । कला - किसी कार्य को भली भाँति करने का कौशल, फन - हुनर।

भारतीय ग्रन्थों में कला शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से ही मिलता है । चौसठ कलाएँ और सोलह कलाएँ विविध चातुरी का ही निर्देश करती हैं ।

'अमर कोश दर्श' में भी कला को शिल्प या कारीगरी के अर्थो में प्रयुक्त किया गया है ।

हिन्दी विश्वकोष में भारतीय परम्परा के अनुसार कला का अर्थ कौशल से लिया गया है । यूरोपीय परम्परा के अनुसार कला उन सारी क्रियाओं को कहते हैं जिनमें कौशल अपेक्षित हो यूरोपीय शास्त्रियों ने भी कला में कौशल को महत्वपूर्ण माना है ।

यूरोपीय साहित्य में भी कला शब्द का प्रयोग शारीरिक या मानसिक कौशल के लिये अधिकतर हुआ है । वहाँ पर प्रकृति स कला का कार्य निम्न माना जाता है । कला का अर्थ ही रचना करना अर्थात् वह कृत्रिाम है, कला उस कार्य में है । जो मनुष्य करता है । कौशलपूर्ण मानवीय कार्य को कला की संज्ञा दी जाती है । कौशलहीन या भोड़े ढ़ंग से किये गये कार्यो को कला में स्थान नही दिया जाता ।

'हिन्दी साहित्य कोश' में भी कला को कर्म कुशलता माना गया है । कला को उपयोगी और ललित कला में विभाजित करते हुए लिखा भी है - "कर्म कुशलता ही कला है ।"

इस प्रकार कला स्वरूप को दिग्दर्शन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जिस कार्य में भी थोड़ी सी कुशलता अपेक्षित है उसी को कला कह सकते है । कला में कौशल का स्थान शरीर में मुखमण्डल के समान है । कला का अर्थ रचना कौशल से लेने पर विचार स्पष्ट हो जाते हैं ।

डॉ0 कान्तिचन्द्र पाण्डेय का मत है कि "संस्कृत भाषा में कला की सिद्धि 'कल' धातु से हुई है । जिसका अर्थ साख्यान है । साख्यान शब्द की सिद्धि रूपा धातु से न होकर जिसका अर्थ कथन, कहना घोषणा करना या सम्पादन होता है । चिक्षिण के स्थान पर 'स्व्पा' आदेश हो जाता है। जिसका अर्थ अवधानपूर्वक देखना भी है। जिसका अर्थ संस्थान है । संस्थान 'कथन' कहना घोषण करना या सम्वादन होता है । चक्षिड़ के स्थान पर आदेश हो जाता है । इसका अर्थ अवधान पूर्वक देखना भी है । (अथं दर्शनउपि सि0 कौ 374) सम उपवर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना । गणना करना अथवा संकलन करना होता है । इस अर्थ के आधार पर 'संस्थान' शब्द का अर्थ मनन चिन्तन एवं ध्यान भी होता है । इस प्रकार कला शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है । जिसका विशेष

ध्यान दृष्टि से देखना, गणना अथवा संकलन करना मनन और चिन्तन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है ।

कुछ प्रसंगों में कला शब्द का अर्थ कलाकृति भी हाता ह । इस अर्थ म इस शब्द की सिद्धि कल् धातु से भाव प्रक्रिया के अनुसार कल्पेत अस्वात्रा होती है । तदनुमार कला शब्द का अर्थ एक ऐसी कति होती है जो उस मानवीय क्रिया से उत्पन्न होती है । जिसके विशेष गुण ध्यान पूर्ण दृष्टि संकलन एव स्पष्ट प्रकटन है । इस अर्थ में कला शब्द की सिद्धि व प्रत्यान्त कल् धातु स दाणिनी क छ: प्रापण युक्ति संज्ञा पर छ प्रापेण 3-3-118 सूत्रा क अनुसार हुई ह । उपर्युक्त परिभाषाओं से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं

1 कला कर्म करने का कौशल है ।

2. कला द्वारा आल्हादाकता रमणीयता आदि का समावेश होता ह ।

3. कला कर्म में अवधानपूर्वक देखना, संकलन करना और अभिव्यक्त करना अनिवार्य है । इन निष्कर्षो में प्रथम सामान्य कथन, द्वितीय में कला, रमणीयता आदि आन्तरिक व्यापारों को अर्थ रूप रग से रूपायित करती है।

काव्य में रमणीय अर्थ की जो परिकल्पना की गयी है वह काव्य की समस्त प्रक्रिया का अंग है परन्तु कला द्वारा उसमें विशेष निखार संयम और सन्तुलन आता है । तीसरी विशेषता का सम्बन्ध कला के संयोजन से है । अवधानपूर्वक देखना कला की पहली शर्त है । अभिप्रेत अर्थ प्रतीति के लिये कलाकार को अपेक्षित उपकरणों का चयन करना पड़ता है । उन उपकरणों को उनके ठीक स्थान पर संयोजित करना आवश्यक होता हे । चित्रा कला में रंग और रेखाओं को, काव्य में शब्द, अलंकार वक्रोक्ति आदि को यथास्थान नियोजित करना कलाकार का कर्त्तव्य है । जो व्यक्ति इस नियोजन को आत्मोष्कर्ष का जितना अधिक उपकारक बना सकेगा वह उतना ही श्रेष्ठ कलाकार होगा । यह

कलात्मक विन्यास सौन्दर्य का अनिवार्य अंग है । कला का महत्व सौन्दर्य को सँवारने और उसे पूर्णत: आनन्द विधायक बनाने में ही है ।

कला शब्द सर्वप्रथम प्रयोग भारत के 'नाट्यशास्त्रा' में मिलता है । वात्स्यायन के कामसूत्रा और उशनस के शुक्रनीति में भी कला शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । सामान्यत: भारत में वेदकाल से ही सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण रहा है । सौन्दर्य का कलाओं के प्रसंग में ही विचार किया गया है । शुक्रनीति, मानसार, विष्णु धर्मोन्तर पुराण उस बात के पुष्ट प्रमाण हैं ।

महाकवि दण्डी ने नृत्य गीत को कला माना हे । नृत्य गीत प्रभृतय: कला कार्माय सश्रथा: ।

सस्कृत विद्वान क्षेमराज ने कला को वस्तु को सँवारने वाली कहा है । कालपति स्वरूप आवेशपति वस्तूनि वा । तम तम प्रमाणतौर कलमे काला अर्थात् नव नव स्वरूप प्रथमोलेख शालिनी संवित वस्तुओं ने पन प्रमाता में स्व को या आत्मा को परिमिति रूप में प्रकट करती है । इसी क्रम का नाम कला है। आचार्य भामाह ने अपने मत की पुष्टि में कला को धर्म अर्थ काम मोक्ष का साधन माना है - धर्मार्थ काम मोक्ष वैवक्षण्यं मोक्षणायम वैवक्षाण्य कलासु च प्रीति करोति कीर्तिन्च साधुकाव्य निबन्ध पम । पुन: आचार्य क्षेमचन्द्र ने लिखा है ऐसा कोई शब्द वाच्य विधा और कला नहीं जो काव्य का अंग होकर न आए । अहो! कवि का उत्तरदायित्व कितना महान होता है ।

"न तच्छव्यों न तद्वाच्य न स विधा न स कला ।

जायते पत्रा का काव्यांग महो भार: महान कवे: ।

अभिनव गुप्त ने कला को गाना बजाना आदि वर्णो में प्रयुक्त पर्वो किया है । कलागीत बाछादिका ।

संस्कृत साहित्य के मेधावी महाकवि वाण ने लिखा है 'तस्मिन सचक्राम सकल: कलाकलाप:। तथाहि . . . . . कथासु नाटकेपु आख्यायिकासु काव्येषु . अन्येपवायि कला विशेषयु परं कौशलमवाय। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकवि वाण ने कला के भीतर काव्य की परिगणना की है। महाकवि राजशेखर के काव्य या साहित्य को विधा और कलाओं को उपविधा माना है । और कहा भी है कि कलाओं के सन्निवेश स काव्य को सजीवता मिलती हे ।

"भव्दार्थ योर्थ वात्पनाह भावने विद्या साहित्य विभा । उपविभा स्तु चतुपष्टि. ताश्च कला इति विदग्धवाद: । स आजीव काव्यस्चै।

अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाला साहित्य विद्या कहालाता है । इस विद्याा की 64 उपविपायें है जिन्हें विद्वान कला मानते है । उपविधाएं या कलाएं काव्य का जीवन है । राजशेखर ने कलाओं के अनिवार्य अध्ययन पर विशेष बल देते हुए लिखा है ।

"ग्रहीत विधोपविध: काव्यक्रियाएं प्रपतेत । नाम धातु परापणे अभिधान कोश छदोविचित अलंकार तंत्रा च काव्य विद्या कला वस्तु चतुषटि रुप विद्या:। अर्थात् काव्य विद्या के शिक्षाथियों को चाहिए कि सर्वप्रथम काव्यो प्रयोगिनी विधाओं और काव्य की उप विधाओं को भलीभांति अध्ययन करके काव्य रचना की और प्रवृत्त हो व्याकरण, कोश, छन्द और अलंकार ये चार काव्योपयोगी मुख्य विधाए हैं कलाए 64 हैं ।

आचार्य भावभूति ने कला सदश ही साहित्य सायावाणी को ही आत्मा की कला कहा है ।

"विन्देभ देवताम् वाचमृतम आत्मन: कलाम।

अर्थात् मैं उस वाणी की वन्दना करता हूँ जिसमें आत्मा की कला अमृत रूप से विद्यमान है।

संस्कृत साहित्य में ज्ञान के दो विभाग मिलते हे 1. विद्या 2. उपविद्या । काव्य को विद्या और कलाओं को उपविद्या माना गया हे । सस्कृत के विद्वान काव्य या साहित्य को कला से भिन्न समझते थे । उपर्युक्त उदाहरण विधा और उपविधा के विभाजनों की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं ।

भतृहरि ने भी काव्य और कला को भिन्न भिन्न मानकर कला की सार्थकता और उपयोगिता के विषय में लिखा है ।

"साहित्य संगीत कला विहीन: ।

साक्षात्पशु पुच्छ विषाण हीन: ।।

इस श्लोक की दृष्टि से हम देखते हैं । कि जीवन के समुचित एवं सर्वागीण विकास में कला का योगदान और महत्व अमूल्य है कला शिष्ट सयंत सुन्दर और कल्याणमयी विधि का विस्तार करती है । कला की अनुपस्थिति हमें अशिष्ट और समय पड़ने पर मानव की संज्ञा से अपदस्थ कर पशु बना देती है । मनुष्य ने अपने विकास और उपलब्धि के लिये कला का अविष्कार कर जीवन को प्रकाशित किया है । इसलिये जहां कला नहीं है वहां मानव सींग पूंछ रहित साक्षात पशु है ।

आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूमवृत्ति में काव्य के उत्कर्ष के लिये कलाओं का अस्तित्व आवश्यक माना है ।

कला शास्त्रोभ्य: कला तत्वस्च सविंत । कला गीतानुदिका . दिका स्त्राकचिकामिधापकानिशास्त्राणि विशाविलादि प्रणीतानि कला तात्वानूनपालभ्यौ कलावस्तु सम्पक विवद्धुश्म्य मिति ।

1. भवभूति - उत्तर रामचरित 2. वामन कयालंकार सूचवृत्ति ।

अर्थात् कला तत्व का ज्ञान कलाशास्त्रों द्वारा करना चाहिए । गाना, नाचना और नृत्य आदि कला है । उनके प्रतिवादक विथाखिल आदि कलाओं के तत्वों

का ज्ञान आवश्यक है । कला तत्व परिचय के बिना कलात्मक वर्णन असम्भव है। इसलिये कलाओं का ज्ञान काव्य के लिये आवश्यक है ।

गायत्री कवचम में भी 64 कलाओं वाली विद्या का वर्णन दृष्टिगोचर होता है ।

अधेरा वैश्चतु: षण्डया सपर्तो तावती: कला: ।

चतु: षष्टि कला विद्या ईश्वरी प्रीतिवर्धनम् ।।

जैसा कि पूर्व में लिख चुके है कि कला 'क' शब्द क आनन्द ओर प्रकाश 'ला' धातु का अर्थ है लाना । इसीलिये कला का स्पष्ट अर्थ हुआ कि क्रियाशक्ति जो आनन्द और प्रकाश लाती है । आनन्ददायक होने के लिये रमणीयता आवश्यक है । और रमणीयता का स्वरूप ही "क्षणे क्षणे पननवताभुपैति तदेवरूपं रमणीयताया: अर्थात् प्रतिक्षणं जो नवीनता कारग रखती हो उसे रमणीय कहते है ।

अभिव्यक्ति को विद्या की कला कहते है । यह वह कौशल है कि जिससे कोई कार्य सम्पन्न हो ।

"कला प्रधानतय: मूल्य विषयक अभिधान नही करती अपितु साक्षात अनुभव के लिये मूल्यों को प्रस्तुत करती है । वह मूल्यों के बारे में भाषा नही है। "वह मूल्यों की भाषा है ।"

"कला की कोई अपनी मौलिक अभिरूचियां भाव नहीं होते जो बात कला को अलग करती है। वह है उसकी इच्छा को तृप्त करने का प्रकार . . . . . इच्छा के तृप्त करने के इस प्रकार को में कल्पना में तृप्त करना कहूंगा । . . . . यही कान्त का भी अर्थ था जो विषयों के रूप प्रस्तुत करने मात्रा से प्राप्त होता है । और उस सबसे स्वतंत्रा है । जो विषयों की सत्ता से प्राप्त हो सकता है ।"

डीविट, एच0 पार्क 'नेचर ऑफ आर्ट' "कला-कर्म-चेतना के भय में मन की क्रिया है जो कि अनुभव को कल्पना में बदलती है । जबकि इस रूपान्तरण के बिना वह अनुभव ऐन्द्रिय होता है । यह क्रिया सहयोग पूर्वक क्रिया है । और एक व्यक्ति में कृतिशील न होकर एक समुदाय में रहती है । . . . . यह समुदाय सब मनुष्यों का आदर्श समाज नहीं है । . . बल्कि साक्षी कलाकारों, सहायकों और सहद्रयों का है । जिसके साथ कालान्तर का वास्तविक सहयोग होता है ।

(प्रिन्स पल्स ऑफ आर्ट)

"कलाकृति एक संकेत है जो कि मूल्य या मूल्य संस्थान को घोषित करता है । जिसकी यह विशेषता होती है कि वह प्रतिभात्मक संकेत होने के कारण, अपनी वाचकता के सामान्य होने के बावजूद जिस मूल्यों को वह सांकेतिक करता है । वह कलाकृति में ही मूर्त हो जाता है । और जिसके फलस्वरूप कलाकृति को देखने वाला सीधे मूल्य संस्थान को देखता है । और उसे उन सब अर्थो से माथा पच्ची आवश्यक नहीं हैं । जिसका कलात्मक संकेत अभिधान करता है । परिभाषा का संकेत वाहक के अतिरिक्त अन्य अभिधेष डिनोटेड कला मूल्य सम्प्रेषण की भाषा है ।

चार्ल्स मेरिस 1939

"कला प्रधान तथा मूल्य विषयक अभिधान नही करती अपितु साक्षात् अभुनव के लिये मूल्यों को प्रस्तुत करती है । वह मूल्यों के बारे में भाषा नहीं है वह मूल्यों की भाषा है ।"

"कला की कोई अपनी भौतिक अभिरूचियां का भाव नहीं होते जो बात कला को अलग करती है । वह है उसका इच्छा को तृप्त करने का प्रकार इच्छा के तृप्त करने के इस प्रकार को मै कल्पना में तृप्त करना चाहूंगा ।

. वही काट का अर्थ था । जब उसने रसास्वाद को अनासक्त कहा था अरवाद जा विषयों के भय में प्रस्तुत करने मात्रा से प्राप्त हाता ह । आर उस मबस स्वतंत्रा ह । जा विषयों की सत्ता से प्राप्त हा सकता ह ।

डेविट एच पार्क, नेचर ऑफ आर्ट, 1939

1 "माहित्य सगीत कला विहीना: साक्षात पशु पुच्छ विपाण हीना·" ।

मृत्राहरि

2 . नृत्य गीत प्रभुतय: कला कार्मथ सश्रपा:" "दण्डी काव्यादर्श"

3 . कलपति स्वरूप आवशेगपति वस्तुनिपा" क्षेमराज शिवसूत्रा विपिर्षणो"

4 . "कला गीत वाद्यादिका" "अभिनव गुप्त आचार्य"

5 . "न तत् ज्ञानं न तच्दिव्यं न सा विद्या न मा कला:। "भारतमुनि नाचशास्त्रा"

6 . "धर्माय काम मोक्षाणां वैचक्षव्य कला सुच ।

पीतम करोति कीर्ति च साधुकाव्यं काव्य - निबन्धनम:" भामाह

पाश्चात्य विद्धान अरस्तु -

अरस्तु की पोइटिप्स में कला का प्रत्यक्ष नाम तो कही भी नही दिया गया किन्तु काव्य नाटक वेणु वादन नाद आदि का अनुकरण कहा गया है ।

हीगल

1 . हीगल ने भी अपनी पुस्तक चीपसवेचील वर्ि थ्यदम ।तज में कला पर अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया है । वह कला और सोन्दर्य में प्रार्थक्य नहीं समझते।

2 दूसर शब्दों में सौन्दर्य की कला के हेतु इतनी अधिक आवश्यकता है कि हम सौन्दर्य को ही कला मानते हैं । कहने का अभिप्राय यही है कि

सौन्दर्य की ही कला के हेतु इतनी अधिक आवश्यकता है कि हम सौन्दर्य तत्व को कला की परम आवश्यकता मानकर उसे अलग नहीं कर सकते।"

क्रोचे -

कला के सम्बन्ध में क्रोचे का विचार भी बहुत महत्व रखता है । क्रोचे अभिव्यजनावादी विद्धान था । उसका कला सम्बन्धी सिद्धान्त इस पर आधारित है। वह अभिव्यजना को ही सौन्दर्य मानता था । सौन्दर्य कला का प्राण है । उसके मतानुसार मूर्त तथा अमूर्त अभिव्यंजना ही कला है ।

टालस्टाय

टालस्टाय ने 'टमींज प ।तज' नामक एक पुस्तक लिखी है । इसमें उन्होनें कला सम्बन्धी विविध प्रचालित मतों की समीक्षा की है । पुनश्च उन्होनें अपना मत प्रतिपादन किया है । उनके मतानुसार कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति की क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि आदि शब्द के सहारे आगे और स्पष्ट करने की चेष्टा है । यहां पर उस पक्ष को उद्धत कर देना अनुचित न होगा कला जैसा कि आध्यात्मवादी कहते हैं । ईश्वर पर सौन्दर्य के किसी रहस्यपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति नहीं है । वह तत्व वेताओं के कथनाानुरूप अपने एकाकीभूत ओज के बाहुल्य का उपयोग करने वाली क्रीडा भी नहीं हैं। तथा हम उसे आनन्द भी नहीं कह सकते । वास्तव में उसका कार्य मनुष्य को एक भाव में परस्पर बांधना है । तथा व्यक्ति और मावन की हित कामना करना है ।"

ब्रेडले

ब्रेडले ने "Oxbond gecture on Poretruy" के अपने कविता विषयक व्याख्यान में तर्को के विराट आयोजन के साथ कला कला के लिये ही मानी है । उन्होने कला को वाह्य संसर्ग से बिल्कुल मुक्त रखकर उसको अलग

ही में स्वतंत्रापूर्ण और स्वनुशासित संसार माना है । ब्रेडले की अन्य बातों को हम महत्व नहीं देते किन्तु कला का अर्थ कला ही है । ऐसा कहकर उन्होनें बड़ी मार्मिकता का परिचय दिया है ।

काडवेल -

इन्होनें अपनी पुस्तक Ucissem and Rearity में कला पर अन्य वर्णनों के साथ कला का विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होनें जीवन से निरपेक्ष रहकर कला की सार्थकता मानी है । किन्तु जीवन पक्ष को छोड देने से कला में कुछ तत्व ही नहीं रह सकता ।

रिचर्डसन -

रिर्चडस, महोदय ने मार्मिक युक्तियों से कलावाद की बढ़ती हुई प्रकृति पर अच्छा कुठाराघात किया है । उनके मतानुसार कविता विश्व श्रृष्टि शेष श्रुद्धि से भिन्न कोई पदार्थता ही नही रखती । इसके न खास नियम हैं । और न खास विचित्राताएं । प्रत्येक कवित हमारी अनुमति का एक खण्ड मात्रा होती है । इन सभी बातों से यह निश्चित होता है कि कला किसी नई और अपरिचित दुनिया की चीज नहीं हे । वह इसी ससार की वस्तु हे । आर उसस हमारा घनिष्ट सम्बन्ध हे ।

मूर्धन्य विद्धानों के विचारों को उल्लखित करने के बाद निम्न बातें मुख्य रूप मे दिखाई पड़ती है ।

1 कला अभिव्यंजना का ही मूर्तरूप है ।

2 . कला में दिव्यता भी रहनी चाहिए ।

3 . कला सत्य की सजीव और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हे ।

इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य विद्धानों द्वारा कला सम्बन्धी अनेकानेक उदाहरणों के पश्चात में यह कहना चाहूंगा कि जितनी कसौटियों कला के सम्बन्ध

में बताई गयी है वे सभी सम्पूर्ण रूप में गोस्वामी तुलसीदास जी कृत रामचरित मानस में पूर्णत: विद्यमान है । जो उनकी कला का पर्याप्त नमूना है ।

कला का स्वरूप -

कला के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यद्यपि उनकी हजारों परिभाषाए दी गयी हैं । लेकिन कला का कोई निश्चित स्वरूप अभी तक निर्धारित नहीं हो पाया है । यह सच है कि कला शब्द इतना विस्तृत व्यापक और गहन है कि विभिन्न विद्धानों की परिभाषाएं मात्रा एक विशेष पक्ष को ही स्पर्श कर पाती है। इस प्रकार यदि हम किसी से परिभाषा को पूर्ण मान ले ता वह हमारा भ्रम होगा ।

भारत के प्राचीन विद्धानों ने कला को अन्तर्ज्ञानात्मक और अध्यात्मिक मानते हुए कला शब्द का प्रयोग दार्शनिक अर्थो में ही किया है । लेकिन आधुनिक विद्धानों ने ही प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करते हुए तथा पाश्चात्य मनीषियों के मतों को स्वागत करते हुए जिस कला पक्ष का अनुसंधान किया है। वह नये युग के अनुकूल है । भारतीय कला क्षणिक आनन्द तक नहीं सीमित ह अपितु वह परमानन्द प्रदान करती है । इसी के अन्तर्गत धार्मिक, नैतिक तथा आदर्शवदी विचारधाराओं का समन्वय हुआ है । और यही भारतीय कला दर्शन का कारण है । आज कला हमारे जीवन विचारधाराओं आध्यात्मिक समृद्धि तथा लोक कल्याण को समेटे हुए उस उच्च शिखर पर ले जा रही है जहां से हम समस्त विश्व को देख सकते हैं ।

आज की कला मानव निर्मित एक कृति है । जो उस पर जाने या अन्जाने एक गहन प्रभाव डालती है । वह उसमें मस्तिष्क को उद्धेलित कर उसकी भावनाओं को उत्तेजित कर उसमें चरित्रा को उसके नैतिक मूल्यो को विशद पर व्यापक एवं महान बनाती है । यहां कला मानव की गम्भीरतम अनुभूतियों

विचारधाराओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति है । कला की सच्ची और यथार्थ सृष्टि मे इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहीत तत्व रूप और अभिव्यक्ति तीनों ओत प्रोत और परस्पर अनुस्यूत रहते हैं । जिस वस्तु में समान भाव स अधिष्ठित होती है उस सुदूर कहते है । और उस सुन्दर को प्रादुर्भाव करने वाली शक्ति कला हे ।

संयोजन की कला के परिप्रेक्ष्य में देखने से भी इस मत की पुष्टि होती है कि दो या उससे अधिक वस्तुओं को समुचित संयोजन कला है । कलाओं में उनके माध्यम का सयोजन कति में एक अनूठा एवं आकर्षक चमत्कार उत्पन्न करता है । यही आकर्षक और चमत्कारिक सृष्टि कला है । प्रस्तुत मत की पुष्टि में संयोजन को स्पष्ट करते हुए रामाचन्द्र शुक्ल का मत है कि "काव्य में शब्दों का संयोजन संगीत में स्वरों का सयोजन होता है ।" संयोजन के बिना कला हो ही नहीं सकती ।

1. इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोजन कला का एक आवश्यक गुण है ।

कला चातुर्ययुक्त गुण से सम्पन्न क्रिया को भी कहते हैं । इसमें किसी कार्य को करने की चतुरता ही कला की संज्ञा प्राप्त करती है । क्योकि चातुर्ययुक्त क्रिया आकर्षक एवं आनन्द देने वाली होती है । यही मत कुछ आगे खिसककर नवीन एवं सुष्ठ शब्द कौशल को ग्रहण कर लेता है । जिससे कला का अर्थ कौशल हो जाता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्रीयुत बेकर सुव्वइया की सूची देखकर कला के विषय में कहा है । इस सव सूचियों को देखने से पता चलता है कि कला के विषय में कहा है कि कला उस सब प्रकार की जानकारी को कहते है जिसमें थोड़ी सी चतुरायी का आवश्यकता हो । फिर उन्होनें यह भी माना कि इसी कला का अर्थ आग चलकर चतुराई से कौशल हो जाता है । प्राय: यह देखा जाता है कि वाह्य जगत को देखकर

कलाकार के हृदय में एक अजीब तूफान सा उठने लगता है हृदय उद्देलित होने लगता है।। कुछ क्षण के लिये उनकी अनुभूतियां उसे बेचैन कर देती हैं । उसकी व्याकुलता अभिव्यक्ति के लिये लालायित हो उठती है । वो उसे रूप प्रदान करने के लिये प्रयत्नशील हो उठता है । यही अभिव्यक्ति रूप प्रदान करने की कला ही चेष्टा है । कालिदास की लालित्व योजना में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी न कला क इसी सर्वागीण स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि उसके लिये साधना की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार व्याकुलता उसके चित्त में होगी उस प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सह्रद्रय के ह्रदय में उत्पन्न कर सकती है । उससे ज्यादा नहीं इसलिये यदि कलाकार समाधिनिष्ट हो सका है तो बदले में सहृदय को भी समाधिनिष्ट कर सकता है यदि वह सिथिल समाधि है तो सहृदय की समाधि भी शिथिल होगी ।

इस प्रकार हम देखते है कि कला और कुछ नही मात्रा अभिव्यक्ति कौषल है । कलाकार की विचारधारा, अनुभूतिया भाव आदि किसी न किसी रूप में तो व्यक्त होते ही हैं । लेकिन इसी भाव , विचार और अनुभूतियों को इस सजधज से अभिव्यक्त करता है । कि सहृदय उसकी तरफ बरबस आकृष्ट हो जाते हैं । यही कला की महानता है । इस प्रकार हम देखते है कि अपनी सहज क्रियात्मक शक्ति के बल पर कलाकार आत्म अभिव्यक्ति के लिये रचनए करता है । यह रचना ही कला का स्वरूप ग्रहण कर लेती है । मात्रा इस रचना पर अभिव्यक्ति को सशक्त और मनोहरी होना चाहिए । अभिव्यक्ति कौशल प्राय: सभी कलाकारों द्वारा निरूपित कला के स्वरूप में अन्तरभूत हैं । अत: अभिव्यक्ति कौशल किसी न किसी प्रकार सभी कलाओं के मूल में स्थिति हैं ।

कला की अभिव्यक्ति के समय प्रथम कलाकार द्वारा वाह्य जगत की शक्तियों को आत्मसात किया जाता है पुन: कुछ सजधज के साथ उसकी

अभिव्यक्ति की जाती है।। जिसके मूल में रूप सृजन की क्रिया निरन्तर कार्य करती रहती है । यदि हम इसी रूप सृजन की प्रक्रिया को कला कहें तो अधिक उपयुक्त होगा । इस प्रकार हम देखते है कि वस्तु जगत की मानस लता में ही भाव जगत की कला रूप ग्रहण करती है । वास्तविक वस्तु की सी वृद्धि और उनमें अनूठापन मनोहारिता लाने का अभीष्ट साधन कला है । युक्तियुक्त ढग से यथोचित स्थान पर आकर्षण प्रदान करने में साधन का सन्निवेश भी कला की संज्ञा प्राप्त करता है । प्रस्तुत मत की पुष्टि में शन्ति प्रिय द्विवेदी का मत जो भी उल्लिखित है । उन्होनें लिखा है कि "सादगी और अलकृति का उचित स्थान उचित सन्निवेश भी कवि की एक कला है ।

कला का एक अर्थ कारीगरी भी है । जिस स्थल पर सौन्दर्य के समस्त उपकरण स्वभावतया नही रहते वहां उन्हें उपस्थित करना या ले आना ही कारीगरी या कला है । इस पुष्टि से सौन्दर्य कला का प्रेरक है । पा हम यह भी कह सकते हैं कि कला सौदर्य की श्रुष्टि है । सौन्दर्य कला का सार है । सौन्दर्य का आकर्षण सहज होने के कारण सामान्यत: सभी लोग उससे परिचित होते हैं । सौन्दर्य का रूप का अतिशय कहा जाता है । रूप के अतिशय के परिप्रेक्ष्य में कला सौन्दर्य की अर्थात रूप के अतिशय की श्राष्टि है । यहा रूप अभिव्यक्ति का माध्यम है । अभिव्यक्ति में कला का सौन्दर्य मनुष्य के अभ्यतर में प्रस्पुटित होता है । तथा वाह्य कला रूपों में साकार होने के लिये उत्सुक होता है ।

वास्तव में कला से हमारा तात्पर्य कार्वे की उस कुशल अभिव्यजना शक्ति से जिसके सहारे से कवि अपनी आत्मा की अनुभूति को साकार रूप प्रदान करता है । श्राष्टि के व्याप्त अनेकश: छोटे-छोटे सौन्दर्यात्मक उपकारणों को सहानुभूति द्वारा चित्रित करने के लिये कवि या कलाकार जिन समुचित साधनों का प्रयोग करता है । वही कला का मुख्य तत्व है । इस प्रकार भावाभिव्यंजना का सुन्दर

साधन कला है । कला कलाकर के हृदय के भावों को दूसरों तक उसी संवेदना के प्रारूप मे प्रेषित करती है । इस प्रकार हम कला को भावों की सेविका भी कह सकते हैं ।

स्पष्टत: कला शब्द का अर्थ आत्माभिव्यक्ति से हैं। किसी कवि की कला उसमें सम्पूर्ण आत्म की अभिव्यक्ति का परिचायक है । नाना प्रकार की अनुभूतियों से रूपायित उसका आत्म स्वाभिव्यक्ति हेतु प्रयत्न करता हुआ सहज रूप में एवं रेखा शब्द आदि में अभिव्यक्ति होकर जो रूप ग्रहण कर लेता है । वही उसकी कला है । इस पुष्टि से हम कह सकते हैं कि कला सचेतावस्था में अनुभूतियों को रेखा एवं शब्द आदि में बांधने का प्रयास है । इन उपकरणों से सौन्दर्य का सृजन होता है । और यही सौन्दर्य भावना की कवियों की कला है। कला में भावनाओं की भव्यता अनिवार्य है ।

सत्यं शिवं सुन्दर की अभिव्यक्ति भी कला है । सत्य ही शिव है । शिव ही सुन्दर है । और सुन्दर ही कला है । कला में सत्यं शिंव सुन्दरं की भावना किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है । यही कला का सत्य है । सृष्टि के चतुर्दिक एक चिर सौन्दर्य परिलक्षित हो रहा है । एक चिरत्तन सत्य का आभास मिल रहा है । इसी की अभिव्यक्ति पर व्यक्तिकरण को कल्पना से सवांर कर चारों तरफ प्रकट कर देना ही कला है । इसी रूप से हम कह सकते हैं कि जब किसी अभिव्यक्ति में उस सौन्दर्य में स्वानुभूति कल्पना का रग संवार देती है । तो वही कला है । विश्वकवि रवीन्द्र भी कला में सत्य और सौन्दर्य के सच्चे हिमायती कहे जाते हैं । उन्होने प्रस्तुत मत की पुष्टि में लिखा है कि कला का कार्य मानव के लिये सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है ।

मनुष्य की समग्र चेतना को सत्यं शिवं सुन्दर में ही बांधा जा सकता है। सत्य दर्शन का विषय है । शिव धर्म का अनुसंधान ही और सुन्दर की खोज कला का मुख्य विषय है । इस प्रकार मानवीय चेतना का एक प्रमुख अंग ही कला से परितोष प्राप्त करता है । दर्शन ज्ञान मूलक है तो धर्म नीति मूलक । कला ज्ञान और नीति से पुष्ट होकर सौन्दर्य विधान करती है । मानव जीवन में निहित सत्य को उभारना या चित्रित करना कला का सच्चा स्वरूप है । कला में सत्य को उभारते हुए पन्त जी भी प्रस्तुत मत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि "सर्वोच्च कलाकार वह है जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निजी व प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि मान्स की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की सांसे भरता है । उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है । उसके हृदय प्रदीप को जीवन के प्रेम से पर्याप्त कर देता है । इस प्रकार पन्तजी ने भी कला को सत्य और सम्पूर्णता के सोंदर्य का जामा पहनाकर एक अनोखा रूप खड़ा किया है ।

कला के मूल में आनन्द को रखकर भी कला स्वरूप का विवेचन हुआ है। कला के प्रत्येक व्यापार का अन्तिम छोर आनन्द ही रहा है । कुछ विद्वानों ने इस प्रकार आनन्द को लोकोत्तर आनन्द भी माना है। जिसके अनुसार भी श्रेष्ठ कला वही है । जो आत्मा को परम आनन्द में लीन कर द । सुख परम आनन्द के लिये लालायित मानव इसी कला की खोज जन्म जन्मान्तर से करता चला आ रहा है । आज कला समाज के समक्ष उपस्थिति हो कर सप्तम मानव समुदाय को आनन्द के लिये आह्वाहन कर रही है । इसलिये यहां कला आनन्द दायी कल्याणकारी और पुष्प उत्पादन के कार्यो में नित्य-प्रति प्रयत्नशील रहती है । इसी से उसकी श्रेष्टता की माप भी की जाती है। जीवन में अनुभूत या अनुभूत्यामास की अहलादमयी चमत्कार पूर्ण जनमन को अनन्द या सुख देने वाली अभीव्यक्ति

का नाम ही कला है। इस प्रकार मानव निर्मित भौतिक और मानसिक आनन्द के उपादानों या साधनों में जो कुछ भी हम सुन्दर, विलक्षण और असाधारण देखते है। उसी को कला संज्ञा से अभिहित करते है। अत: जीवन का वह मधुरतम साधन जो हमें भौतिक या मानसिक उल्लास या आनन्द की उपलब्धी कराये वह कला है

कला स्वरूप निरूपण में रामचन्द शुक्ल ने भी आनन्द का मूल में स्थापित करते हुए लिखा है कि कला काम करने की वह शैली है जिसमें हमें आनन्द या सुख मिलता है। 1. जिस कला में उपकरण पर उपादान कारण जितने ही अधिक सूक्ष्म होगे उसका आनन्द या लालित्य उतना ही अधिक होगा उसप्रकार जिस गुण या कौशल से किसी वस्तु से आनन्द मिलाता है उसकी सज्ञा कला है।

अत: स्पष्ट है कि जीवन आनन्द के लिये हाथ प्रसारता हैं । और कला उसे आनन्द का दान देती है । इस प्रकार हम देखते हे कि मानव मन में सौन्दर्य भावना का अस्तित्व एक निर्विवाद सत्य है और इसी की परिपुष्टि के लिये कला का सृजन होता है । कला का एक मात्रा प्रयोजन आनन्द ही सृष्टि हैं । वही कला उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है जो आत्मा निर्भर रहकर अपनी स्वतंत्रा सत्ता द्वारा विशिष्ट प्रकार के आनन्द की उपलब्धि करती है । मूलत: कला का प्राण आनन्द है। आत्मभिव्यंजन के मूल में भी आनन्द उपलब्धि ही साध्य है। कला का आनन्द भोजन के सम्पूर्ण गुणो के स्वाद के समान है । स्वाद अच्छा लगने से ही भोजन अच्छा लगता है । इसी प्रकार आनन्द देने वाली अभिव्यक्ति या कला ही श्रेष्ठ है ।

कला शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थो में होने लगा है कि शायद ही कोई सुकुमार या बुद्धि मूलक क्रिया का इसी सीमा में प्रवेश निषेध हो । मानवीय

कौषल से सम्बन्ध रखने वाले सभी काम चतुराई से युक्त प्राय: सभी जानकारी कला है ।

भारतीय कला को एक प्रकार से साहित्य की मार्मिक व्याख्या भी कह सकते हैं । कला के अन्तर्गत रीति, अलंकार और बक्रोति, ध्वनि, छन्द, सगीतात्कता चितात्मकता प्रबध सम्बन्धी वस्तुएं आती ह । निराला जी क मत म भी कला का सोन्दर्य काव्य क सभी गुणों का मिश्रित रूप ह । उनका मत ह कि कला, वर्ण, छन्द, अनुप्रास, रस या ध्वनि सुन्दरता नही है । किन्तु उन सभी से सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है । पूरे अंगो की 17 साल की सुदरी की आंखों की पहचान की तरह देह क्षीणता दीनता में तरंग सी उतरती चढ़ती हुई भिन्न वर्णो की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः भव्य मधुर तल्लीन होती हुई जैसे बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नही होती न अंकुर से न डाल से न पौधों से न जड़ से तना डाल, पल्लव, फूल के गन्ध तक फूल की पुरी कला हेतु आवश्यक है। वैसे ही काव्य के कला के लिये काव्य के सभी लक्षण साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या मानी जाने वाली भारतीय कला सचमुच अपना एक गौरवपूर्ण स्थान रखती है । डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने कला के नेत्रों से साहित्य और साहित्य के नेत्रों से कला की चाक्षुय करने का प्रयास करते हुए लिखा है कि "भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है । यदि हम कथावस्तु मनोभाव चित्राण नाट्य और अभिनय के कारण और मुद्रायें वस्त्रा आभूपण और नावस्त्रा उपकरण और अलंकरण इनके विपय और पारिभाषिक शब्दों का समूह करने के लिये कला की दृष्टि से प्राचीन वाडभय का मन्थन करें तो हमें बहुत विलक्षण सामग्री प्राप्त हो सकती है । इस सामग्री की सहायता से जब हम कला को समझने का प्रयत्न करेगे तो कला में एक नयी अर्थवत्ता और रस की उपलब्धि होगी । आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में साहित्य ने

कला के रूप में जीवन धारण करता है । शब्द या भाषा से उसका शरीर निर्मित होता है । कला का सम्बन्ध इसी भाषा का शब्द से है। काव्य को सौन्दर्य प्रदान करना, आकर्षक मनमोहक या काव्य भाव के जितने भी गुण है सबका विस्तृत प्रयोग करना ही कला का मुख्य स्वरूप प्रतिपादित होता है । इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है ।

1. कला आत्मा का प्रकाशक है ।
2. कलाकार की आन्तरिक अनुभूतियों का वाह्य प्रकाशन की कला है ।
3. कला वह है जो मानव की कल्पना निर्मित रचना से सबको चकित कर दे ।
4. प्रकृति की शोभा के अनुकरण का नाम कला है ।
5. कला भावाभिव्यक्ति है या भावों की मूर्ति कता कला है ।
6. कला नवीन रूपों की विशिष्ट रचना है ।
7. साहित्य में कला का अर्थ है मनोहर ।
8. कला सत् चित् आनन्द की अभिव्यक्ति है ।
9. सूक्ष्म संवेदनाओं और उदात्ता भावनाओं को आकर्षक भाषा में वाणी रूप देना कला है ।
10. कला अभिव्यक्ति विविधा है । कला वह कौशल है जिससे कोई कार्य सम्पन्न हो ।

यूरोपिय दृष्टि -

यूरोप में कला का स्वरूप जिसे विशदत्ता महत्ता और व्यापकता को गहनता से समेटे हुए है। वह वास्तव में यूरोपीय कला का ही परिचायक है । कला के क्षेत्रा में यूरोपिय कला का एक गौरवपूर्ण स्थान है । अतः यूरोपिय कला का स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । पाश्चात्य साहित्य पद्धति

नही रही है । जो आदि से अन्त तक कला स्वरूप विवेचन में विषम विचारों को समन्वय कर सके । इसलिये विभिन्न विद्धानों ने व्यक्तिगत रूप से इसकी अभिव्यंजना पर व्याख्या की है ।

यूरोप में सबसे मुख्य विचार "कला प्रकृति का अनुकरण है" का पर्याप्त मात्रा में प्रचार एवं प्रसार था । जिसके प्रतिपादक यूरोपिय काव्य शास्त्रा के जनक अरस्तु हैं । विवेचन में प्रकृति और अनुकरण को कला की संज्ञा दी। इनके स्वरूप समझकर ही हम कला स्वरूप का स्पष्ट अर्थ बाध कर सकते हैं । अरस्तु द्वारा प्रयुक्त अनुकरण शब्द भी विचारकों द्वारा सशय का विषय रहा है । लेकिन साधारणतया अनुकरण का अर्थ है । 'साहित्य में जीवन का वस्तु परक अकन जिसे हम अपनी भाषा मं जीवन का कल्पनात्मक पुर्नर्निर्माण कह सकते हैं । स्पप्टत: अनुकरण भाव का कल्पनात्मक पुन: सृजन है । अनुकरण अपने लक्ष्य का आकृति प्रधान संकेत ग्रहण नहीं करता । अपितु उसका यथावत पुर्नबिम्बन करता हे । इस प्रकार अनुकरण शब्द का अर्थ स्पष्ट हा जान पर प्रकृति शब्द का स्पष्ट बोध भी आवश्यक है । प्रकृति में अरस्तु का तात्पर्य जीवन के समग्ररूप है अर्थात् अर्न्तृवाह्य दोनों रूपों की समष्टि का ही पर्याय है । अतएव उसका अनुकार्य इस प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकती है। जैसी वे थी या है । जैसी वे कही पर समझी जाती है । अतएव जैसी वे होनी चाहिए । उक्त तीनों प्रकारों में से प्रथम प्रकृति अथवा जीवन के वहिरंग का द्योतक है । शेष दोनों अन्तरंग के । अर्थात् प्रकृति वह है जिसमें गति का एक अन्तरंग सिद्धान्त सक्रिय हो इस प्रकार प्रकृति और अनुकरण का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर कला का स्वरूप स्पष्टत: सामने आ जाता है ।

अनुकरण के विषय का सम्बन्ध उसके अन्तरंग अथवा अनुभूति एवं कल्पना आदि से है । अनुकरण वस्तु के पर्याय तत्व का नही अपितु प्रतिमान वस्तु का

किया जाता है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इन्द्रियों के माध्यम से उसका जो प्रभाव या प्रतिबिम्ब कवि तक पहुंचता हैं । कवि उसी को अभिव्यक्ति देता है । अत: यह स्पष्ट है कि सामान्यत: कला तो उन सबको पूर्ण करती है । जिसे प्रकृति पूरा न कर सकी हो और अंत: प्रकृति का अनुकरण करती हं । कला विचार के अनुकरण मं हे । अनुकरणात्मक कला का कार्य अपने पूर्ण रूप में सार्वभौमिक की अभिव्यक्ति हे । कला सार्वभौम के अनुकरण में आदर्श का अनुकरण करती है । अत: प्रस्तुत मान्यताओं से स्पष्ट है कि अरस्तु ने कला को मानव जीवन के मानस प्रत्यक्षकर्यो की उनके चरित्रा भावना क्रिया कलाप की आदर्शत्मक अभिव्यक्ति माना है । कलात्मक अनुकरण सृजनात्मक कार्य हं । कलात्मक गठन द्वारा वास्तविक जीवन की अविश्वसनीय वस्तुएं सम्भवित प्रतीत होने लगती है । असम्भव केवल सम्भव नही हो जाता हैं। अपितु वह स्वाभाविक आर अनिवार्य भी लगने लगता है । काव्य में चमत्कार का श्रेष्ठ स्थान निर्धारित करने का श्रेय अरस्तु को ही मिलता है । क्योंकि अरस्तु ने ही प्रतिपादित किया है कि कला शब्द नियम तथा कलात्मक गुणों पर ही आधारित रहेगी । कला का संसार और यथार्थता के नियमों द्वारा परिचालित नहीं वह परिचालित है । कुछ अन्य अनुभवात्मक तथा देवी अथवा अमूर्त सिद्धान्तों द्वारा . . . . ।

प्लेटो भी कला को प्रकृति को अनुकृति मानता है। उसका पुष्टीकरण है कि जिसका प्रकृति से सीधा सम्बन्ध नही है। वह अनुकरण है। कवि की कला आभास का अनुकरण है । प्लेटो ने कला को प्राकृतिक जगत का अनुकरण मानकर प्राकृतिक जगत की अपेक्षा उसे हीन बताया । क्योंकि प्राकृतिक जगत का अनुकरण करके ही कला जगत उत्पन्न होता है । इसलिये प्रकृतिक जगत जीवन्त है और कला जगत उसकी अपेक्षा प्राणहीन । अनुकरण से प्लेटो का अभिप्राय था

पर रूप धारणा । उसके अनुसार "अनुकार्य के निकट अनुकरण जितना ही होगा उतना ही सिद्ध माना जायेगा । अनुकरण मे अनुकार्य अधिक महत्वपूर्ण हैं । और वह स्वय एक कला है ।

प्लटा कवि को अनुकर्त्ता और काव्य या कला का अनुकरण मानत हुए बढ़ई और चित्राकार का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि करता हैं । बढ़ई अपने मन में प्राप्त भावना का अनुकरण करता है । इस प्रकार बढ़ई की कुर्सी अनुभृति मात्रा है । नकली है, असली नहीं । असली कुर्मी ता भावना की है । जिसका मूलकर्त्ता ईश्वर है । अत: बढ़ई असली कुर्सी नही बनाता अपितु बढ़ई की कृति सत्य की छाया मात्रा है ।

अस्तु प्लेटो कला को कौशल जन्य न मानकर प्रेरणा का परिणाम मानता है। कलाकार जो भी अभिव्यक्त करता है । वह कलाकार की अपनी निजी वस्तु न होकर काम देवी की काव्यहती प्रेरणा है वह उसके आधीन रहता है अनुकरण में दूसरे के विचारों और मानव मनोभावों की अभिव्यक्ति अधीन रहती है । इस तरह प्लेटो काव्य पर कला को अनुकृति मानकर उसे सत्य से दो बार दूर बताया और उसे नकल मात्रा कहा है । वह काव्य पर कला का कर्ता ईश्वर का मानता है । और जगत में प्रेषण का माध्यम कवि को मानता है । इसलिये प्लेटो स्वीकार करता है कि "काव्य पर कला का सृजन रोगी मन. स्थिति में संभव है । जब कवि का सहज मावन सुलभ विवेक प्रबुद्ध रहकर किन्ही देवी शक्तियों से बाध्य हो जाता है । और वह आरोपित व्यक्तित्व धारण कर लेता है ।"

यूरोप दूसरी प्रमुख विचारधारा कला को विशुद्ध एव सहज कलात्मक रूप मानने की रही हे । जिसमें, प्रतिष्ठापक क्रोचे माने जाते हैं । क्रोंचे अभिव्यंजना वादी विद्वान था वह अभिव्यंजना को सौन्दर्य और सौन्दर्य को कला

का प्रमाण मानता था उसके मत से "मूर्त अथवा अमूर्त अभिव्यजना ही कला है।" उसने कला को विचार और प्रज्ञा की वस्तु न मानकर कौशल जन्य उत्पाक्ष्य मानकर अपितु कला को विशुद्ध एवं उत्पाक्ष्य कलात्मक सहज रूप माना है । क्रोचे आत्मा की दो प्रक्रिया मानता है ।

1 विचारत्मक प्रक्रिया 2. व्यवहारिक प्रक्रिया।

विचारात्मक प्रक्रिया के अन्तरगत दो प्रकार का ज्ञान स्थित है । 1. स्वय प्रकाश ज्ञान । 2. तर्क, इसी प्रकार व्यवहारात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत आर्थिक एवं नैतिक क्रिया आती है। विचारात्मक प्रक्रिया के स्वयं प्रकाश ज्ञान का सम्बन्ध व्यक्तियों और विशेष पदार्थो से होता है। यही ज्ञान कल्पना द्वारा कला का उत्पादक होता है । स्वयं प्रकाश ज्ञान को ही सहजानूभूति कहा गया है । यही क्रोचे के सिद्धान्त का मूल आधार है । क्रोचे कला को मूलत: एक आध्यात्मिक कृति मानता है और कलात्मिकता को इसका मूर्त भौतिक रूप । अस्तु क्रोचे के अनुसार कलाभाव रूप न होकर ज्ञान रूप है क्योंकि सहजानुभृति ज्ञान का ही एक रूप है । अत: क्रोचे के अनुसार कला अखण्ड आन्तरिक और स्वयं प्रकाश ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया है । अभिव्यक्ति उसके साथ स्वाभाविक रूप से लगी रहती है । किन्तु अभिव्यक्ति ही होती है ।

क्रोचे ने सहजानुभूति को एक काष्ठा सत्य माना है । इसके अनुसार अभिव्यजंना एक आत्मा चैतन्य क्रिया है । अत: सनातन है और परिवर्तनशील का सम्बन्ध केवल विषय से है ।

1. उत्कृष्ट कला का सम्बन्ध सहजानूभूति के उस पक्ष से हे जिसमें प्रभाव और संवेदन संचित रहते हैं । अत: उत्कृष्ट कला अभ्व्यिक्ति न होकर प्रभावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है ।

2 . क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति कला सौन्दर्य आदि पृथक तत्व नही हे । बल्कि अभिव्यंजना के ही दूसरे नाम हैं । कल्पना भी कला का आधार स्तम्भ है। उसने कई स्थलों पर कल्पना को ही कला माना है । किन्तु यह कलात्मक कल्पना पूर्णरूपेण स्वतंत्रा है । यह चेतना की वह स्वछन्द क्रिया है जो अपने रूप ओर उपादन दोनों का सृजन करती है। वेदान्त को ब्रह्म भांति वह कलात्मक सृष्टि का उत्पादन और नियमित कारण दोनों है वस्तुत: क्रोचे की कल्पना की अनुभूति मूलांक है । अनुभूति ही कला का स्वरूप है किन्तु क्रोचे अभिव्यक्ति और अनूभूति को एक आकार मानते है । अनूभूति कलात्मक हे । कल्पना करने के उदभावना की शक्ति है ।

क्रोचे कलात्मक चेतना को व्यक्तिगत मानते हैं । क्रोचे के अनुसार कला एक ऐसा सुन्दर और सुकुमार स्वप्न है जो जागरण के यर्थाथ से भग हो जाता है।

क्रोचे ने एक और तो कला के क्षेत्रा से कोरी भावना को निष्कासित किया और दूसरी ओर बाह्य जगत के स्थूल तत्वों को भी महत्वसील नहीं माना । स्वयं प्रकाश ज्ञान पर एक आधारित उनका कला दर्शन मूलत: स्वच्छतावादी है ।

टालस्टाय -

यूरोप में एक अन्य विचारधारा काफी तीव्र गति स गतिमान हो रही थी । जो कला को हृदय की अभिव्यक्ति मानकर प्रेषणीपता को उसका प्रमुख गुण मानती थी । ऐसे विचाराकों में टालस्टाय अग्रगण्य माने जाते हैं । टालस्टाय का मत है कि कला हृदय की अभिव्यक्ति है । (कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि या शब्द आदि के सहारे दूसरों के हृदय तक पहुचा देती है)। सारांश रूप में प्राप्त अनुभूति को जागृत कर इस प्रकार व्यक्त करना जिससे श्रोता और पाठक वेसी ही अनुभूति

प्राप्त कर सके, कला की कोटि में आता है । 1 . उनके मत से कला भावों को व्यक्त करने का वहम मात्रा है और उसकी भावुकता यदि सबके लिये सुलभ और सुगम न हो तो उस हम कला नहीं कह सकत । अत: कला वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य भाव का अनुभव कर लेनें पर उद्‌दश्य सहित उसे दूसरों तक सकलित कर देता है। यही भावों की प्रेपणीयता कला एवं कलाकार की महानता का निर्णायक है ।

प्रेषणीयता का मूल में रखकर कला स्वरूप पर विवेचन करने वाले अपर मनीसी आई0ई0रिचर्डस है। उन्हाने सम्प्रेषण क्रिया पर महत्व दते हुए कहा कि कलायें सम्प्रेषण की श्रेष्ठ रूप हैं । कला का आस्वाद मूल्यवान मन: स्थिति उत्पन्न करता है। उनके मत क निराधार और पूर्ण रूप म स्वतंत्रा विचारो और भावनाओं की कोई सन्ता नही है । इसलिये साहित्यक मूल्य जो कला का प्राण है, आवश्यक एवं अनिवार्य है । मूल्य की व्याख्या करते हुए उन्होनें लिखा है कि हमारे लिये वही मन:स्थिति मूल्यवान है । जिसमें सभी मूल प्रवृत्तियां सक्रिय रहती हुई अपनी इच्छाओं की तृप्ति प्राप्त करती है और यह तृप्ति ऐसी होती है कि उसमें अन्य प्रवृति की जो कि उसके समान ही या उससे अधिक आवश्यक है । अवहेलना पर परितुष्टि नही होती । सबग अधिक महत्वपूर्णदर्शन वह मनोदशा है । जिसमें सबमे अधिक विस्तृत एवं व्यापक समाचार होता है । और विरोध नियंत्राण तथा अतृप्ति की मात्राा न्यूनतिन्यून होती है । इस तरह कलाकृति वह माध्यम ही जिसके द्वारा कलाकार की संतुलित मनोदशा पाठक के लाभार्थ प्रेषण होता है । जिससे पाठक भी कला की साधना द्वारा वैसी ही मनोदशा को प्राप्त कर सके । कवि पर कलाकार स्वान्त: सुख के लिये ही कला का निर्माण नहीं करता । कला की प्रेषणीयता के लिये उपर्युक्त भाषा अनिवार्य है । कला की भाषा और भावात्मक शब्दा व्यन्जनाशक्ति मे परिपूर्ण तथा रूपक

आदि अलंकारों से सजे होते है रिर्चडस का मत ह कि काई भी काव्य का कला विश्व श्रष्टि से भिन्न कोई यथार्थता ही नही रखती । उसमे न खास विचित्राताए । प्रत्येक कविता या कला का हमारी अनुभूति का एक खण्डमात्रा होती है ।

प्रस्तुत विवेचना से स्पष्ट है कि कला में साहित्यिक मूल्य के साथ प्रेषणीयता भी अनिवार्य है। कला निर्माण के मूल में यही प्रयोजन है। प्रेषणीयता कला के धर्म में सन्निविष्ट हो गयी है । प्रेषणीयता अपने आप में साध्य नहीं है। वह अनुवृत्तियों के सामाजस्य का साधन है । इस सामजस्य को ही सौन्दर्य कहा गया है ।

यूरोप में कला को आत्मा या मन का चैतन्य धर्म मानने की परम्परा भी पर्याप्त सुद्ढ़ एवं महत्वपूर्ण रही है । इस मतावलम्बियों ने कला को प्रकृति से उच्चतर मानकर चैतन्य मन की सृष्टि होने के कारण उसे अलौकिक तथा आदर्शमयी माना है । और कला के परिवेश से सीमित एव संवाारित विषयगत इच्छाओं तथा वासनाओं को बहिष्कृत कर दिया । इस प्रकार के विचारकों में हेगल प्रमुख थे हेगल कला को मनुष्य की सिसृक्षावृत्ति का परिणाम मानते हैं । और यह विश्वास करते हैं कि कला स्वत: स्फूर्ति प्रतिभा व्यापार के द्वारा निरन्तर नाना रूपों में प्रकट होती है । अत: उसके किसी निश्चित रूप के अभाव में उसमें मूल रूप को किसी भी प्रकार के विश्लेषण द्वारा नही समझा जा सकता । उसका विश्वास था कि हम कला को बहिरंग साधनों स ही समझ सकते हें । मन की गम्भीरता से स्वाभाविक व्यापारों में प्रकाशित होने वाले नाना प्रकार के आकृति और भाव विश्वास के सौन्दर्य में किसी प्रकार की ज्ञानजन्य परम्परा का निर्देश करना सहज नहीं है । समस्त व्यापार मानो एक आवेश या अनुप्रेरण के फलस्वरूप शिल्पी के अनजाने ही उसमें अन्तर से निर्झर तरंग के समान पड़ते है

। इसी को आवेश कहते हैं । यही एक अज्ञात शक्ति के समान अपने अन्दर से नाना सम्प्रदाय प्रकाशित कर सकता है । परन्तु बौद्धिक चिन्तन के द्वारा उस विलक्षण आमग निर्गम के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण निर्णय नही किया जा सकता मानवीय क्रिया सृष्टि को कला मानकर हेगल ने उसे सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है ।

भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त के समान ही हेगल मानता है कि उच्च कोटि की कलाकृति कला सौन्दर्य की विशिष्ट अनुभूति का एक मात्रा माध्यम है। और यह अनुभूति भौतिक स्तर पर ऊपर उठते हुए आध्यात्मिक स्तर पर पहुचने वाले सहृदय की साधना का चरम लक्ष्य है ।

एक दूसरे वर्ग ने 'औदात्य' को कला के मूल में स्थिर कर उसकी सम्यक विवेचना की है । जिनमें लांजिनस प्रमुख है । उन्होने औदात्य में ही कला की स्थिति स्वीकार की है । क्योकि उदात्ता महान आत्मा की प्रतिध्वनि है । डॉ0 नरेन्द्र ने लिखा है कि उदात्ता अभिव्यक्ति की विशिष्ट और उत्कृष्टता का नाम है।

औदात्य के पांच कारणों में से दो सहज हैं जैसे उदार विचार तथा प्रबल भाव और तीन उत्पाद है । जैसे अलंकारो का उपयुक्त प्रयोग उचित शब्द चयन तथा कलात्मक प्रबन्ध रचना । लांजिनस औदात्य में कला की स्थिति स्वीकार करते हुए कहता है कि उदात्ता आवेश या अतिरेक में स्थित रहती है । लांजिनस का कथन है कि "कला में यथा तथ्य या अत्यन्त शुद्ध कृति की प्रशंसा होती है। प्रकृति की कृतियों में महत्ता ही मनुष्य प्रकृत्या वाणीयुक्त प्राणी है । इसलिये मूर्तियों में से हम मनुष्य की अनुरूपता की खोज करते हैं । और वाणी के मानक मापदण्ड का अतिक्रमण कर जाते हैं । लांजिनस दूसरी तरफ कला को प्रकृति का सहायक भी मानता है । अदभुत कार्य न हाने की सफलताकला के कारण होती

हे । उच्च उत्कृष्ता को सफल प्रतिभा के कारण इसलिये कला को प्रकृति की सहायता के लिये लाना चाहिए जहा पर पारम्परिक [illegible] [illegible] उन्मुख होते हे वहा पूर्णता का परिणाम होना चाहिए । एक स्थल पर वह कहता है कि कला उस समय सफल होती है जबकि कला के समान प्रतीत हो या दिखाई पड़े और प्रकृति उस समय सफल होती है जबकि कला उसके तल में आलक्षित रूप में रहती हे । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिभा स्वनियत्राण तथा विकास हेतु कुछ गुप्त नियमों को मानकर अग्रसित होती है । वे नियम उससे प्रसूत हे और उसी में निहित है । कला इसे ही अपने अथक परिश्रम और अध्यवसाय से उसे प्रकाशित करती है अस्तु कला के दो प्रमुख कार्य हुए ।

1. उच्छंखलता का निवारण और संपत शैली की रक्षा ।

2. प्रकृति प्रदत्त सहज अभ्व्यंजना ।

प्रस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि 'उदतत्ता अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता का पर्याय है जो कला का वास्तविक स्वरूप है ।

कुछ समय तक यूरोप मे कला को निर्लिप्त सन्तुष्टि भी माना जाता रहा है। जिसके प्रमुख समर्थक महान दार्शनिक कान्ट माने जाते हैं । निर्लिप्त सन्तुष्टि से कान्ट का अभिप्राय वासनाओं के आन्दोलन से अप्रभावित रहकर कला में प्रत्यक्ष सर्म्पक स्वादन एवं सामयिक उपयोगितावादी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन न बनने से था । कोई भी वाह्य रूप जब हमारी एक विशिष्ट अन्तर चेतन के वशवर्ती होकर उसी विशिष्ट आकार में ढलकर प्रकट होता है उसी को कान्ट ने सौन्दर्य कला कहा है । कान्ट अन्तर्गत जगत के साथ वर्हिजगत के सामजस्य को महत्व देते हैं । और मानते हैं कि किसी वस्तु के सौन्दर्य बोध के समय हमें ऐसा लगता है कि हम जिसे अब तक अपने अर्न्तलोक में अज्ञातरूप से खोजते रहे हैं वही वहां प्रकट हो गया है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तरंग स्वरूप के

साथ वहिरंग का मिलन होने पर तत्परिणामी व्यापार ही वास्तविक कला का साध्य स्वरूप है ।

अतः कान्ट के अनुसार कला अनुभूति नहीं होती वह एक आदर्शवस्तु होती है । जिसमें प्रतिभाशाली कवि के दिव्य भाव विद्यमान रहते हें जो कि पाठको के मन में उसी तरह के भावों का सक्रमण करते हैं । मुक्त कल्पना का चमत्कार ही भाव का भावन करता है । और कला में आत्मा की विशिष्ट आभा का उदभव भी । इसलिये कल्पना का सहयोग भी उपादय ह ।

यूरोप में एक दूसरी विचारधारा भी काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी । जिसने कला जगत के व्यापार में प्रवाहित होने वाली चिरप्राणों की धारा को प्रकाशित करने की चेष्टा कहकर उसका स्वरूप निर्धारित किया चिदभिव्यक्ति को कला मानने वाले मनीषियों में प्लाटिनस मुख्य थे । इनका मत यह है कि केवल सामजस्य के द्वारा कला की सिद्ध नही होती अपितु उसकी सिद्धि का कारण है चिदभिव्यक्ति । मृत और जीवित दोनों के शारीरापयव का सामजस्य एक ही प्रकार का होता है । उसमें केवल चिदभिव्यक्ति का अन्तर है । एक में वह नही है और दूसरे में है । इसी कारण मृत और जीवित के सौन्दर्य में इतना पार्थक्य है । सर्वप्रथम एकमात्रा प्लाटिनस ने ही चित्प्राण को कला का प्रधान लावण्य बताया है । प्लाटिनस ने सामाजस्य रूप और विशिष्ट रूप में अन्तर प्रतिपादित किया है । किसी प्रस्तर खण्ड मे कुछ न कुछ रूप तो होता ही है । किन्तु जब उस पर जब कोई प्रबल रूप अकित कर दिया जाता है तब उसकी रूपवत्ता अधिक स्पष्ट होकर कलात्मक हो जाती है । कलाकार आत्म निहित अलौकिक प्रतिमाओं को मूर्तिमान करने की चेष्टा करता हे । कला को एक अलौकिक अनुभूति से अनुप्रमाणित करने वाला कलाकार एक साधक होता है । जिसकी साधना के परिणाम स्वरूप ही सुन्दर वस्तुओं मं निहित भौतिक आत्मतत्व

क दर्शन होत है । जिसका कलाकार अपनी तूलिका द्वारा एक सुन्दर शरीर में प्रतिष्ठापित करता है ।

आनन्ददायी भावनाओं की अत्यन्त एकाग्रता को कला मानने वाले विद्वानों की सख्या कम नही है । यूरोप में यह वर्ग भी पर्याप्त आदर और सम्मान की दृष्टि स दखा गया था । इनमें कलावादी पन्टर मुख्य थ । उन्हांने कला की स्वतत्रा सत्ता प्रतिष्ठापित करत हुए उसमें औचित्य सान्दर्य तथा कल्पना पर विशप बल दिया है । कला के स्वतत्रा तथा निरपेक्ष होने का आधार उत्कृष्ट शैली है । इस शैली में मानस तत्व तथा आत्म तत्व दोनों समाहित हैं । श्रेष्ठ एवं आदर्श कला में रूप विधान का वस्तु अथवा सामग्री के साथ विषय का अभिव्यक्ति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है ।

सोपेन हावर ने कला में आन्तरिक वेदना जीवन का स्पन्दन गति, तन्मयता और आनन्द की विह्वलता पर विशेष रूपेण दृष्टिपात किया है । शोपेन हावर जीवन में एक ही वेदना स्वीकार करते हैं । जिसे हम जीवन की इच्छा कह सकते है । वह मानता है कि जीवन कि महा वेदना को विस्तृत करने वाला एक ही साधन कला है । कला हमें ऐसे लोक में पहुंचा देती है जहां वह वेदना भूल जाती है । सगीत में यह क्षमता सर्वाधिक है । इसलिय सगीत सब कलाओं का आदर्श है । प्रत्येक कला शोपेन हावर के अनुसार अपने चरम विकास की अवस्था में संगीत का रूप धारण करती है । इस दृष्टि में कला में संगीत का मुख्य रूप मे प्रतिपादन हुआ है ।

होरेस ने भावना निग्रह को श्रेष्ठ कला माना हैं । कलाकार अपने भावों को बहाव में न प्रवाहित कर उन्हें सयत रखने की व्यवस्था करता है । वही श्रेष्ठ कला है । कैनेथ वर्क का मत है कि सम्पूर्ण कलाएं हमारे भाव या

राग को उत्तेजित करती है । अतः जो भी क्रिया हमारे राग को उत्तेजित कर वही कला है ।

फायड के अनुसार कला हृदय की दबी हुई भावनाओं का पर्नुत्थान पर उभरा हुआ रूप है। जिन बातों को हम दैनिक जीवन में सकोच के कारण व्यक्त नही कर सकते उन्हें हम कला में नि:सकोच व्यक्त करते हैं । इस प्रकार कलाकार की अतृप्त दमित आकाक्षाओं की पूर्ति का साधन कला है । यह कला की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है ।

युग वैयक्तिकता के परिवेश से आगे सामूहिक जगत में प्रवेश कर कला की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं । युग ने वैयक्तिक अचेतन के नीचे दबे हुए सामूहिक अचेतन को प्रधानता दी है । जिसमें स्थित जातीय पुरातन आदर्श रूप कला में प्रकट होता है । कला एक प्रकार का आदि जात अन्तर्वेग है । निष्कर्ष में कला स्वरूप यूरोप में इस प्रकार रहा है ।

1. कला प्रकृति का अनुकरण है ।
2. मूर्त अथवा अमूर्त अभिव्यंजना कला है ।
3. कला हृदयाभिव्यक्ति है । जिसमें प्रेषणीयता अनिवार्य है ।
4. मूल्यवान भावों की अभिव्यक्ति एवं उनकी प्रेषणीयता कला है ।
5. कला चैतन्य मन की सृष्टि है या आत्मा का चैतन्य धर्म है ।
6. उदात्ता ही कला है ।
7. कला निर्लिप्त सतुष्टि है ।
8. कला चित्प्राणों की धारा को प्रकाशित करने का साधन है ।
9. आनन्ददायी भावनाओं की अत्यन्त एकाग्रता कला है ।
10. वेदना विस्मरण क्रिया जिसमें संगीत सर्वोच्च है, कला है ।
11. भावना निग्रह कला है ।

12 . दमित वासनाओं का वाह्य रूप या अभिव्यक्ति कला है ।

तुलसीदास की सामाजिक दृष्टि तथा स्वरूप --

काव्य कला के क्षेत्रा में तुलसीदास जी का दृष्टिकोण सामाजिक तथा जीवनवादी था । वे कला के लिये कला नामक सिद्धान्त के समर्थक नही थे । वे कला को साधन मानते थे । साध्य नही । उनका साधन तो रामभक्ति है । जा धर्म की रसात्मक अनुभृति हैं । जो जीवन के प्रति अनराग उत्पन्न करने वाली है । जिसमें लोक, धर्म, व्यक्ति धर्म, शील, शक्ति तथा सोन्दर्य एव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का समन्वय है ।

1 . राम नाम छोड़ि जो : भरोसो करै और रे ।

तुलसी परासों त्याग मागे कूर और रे ।

2 . सरल कक्ति कीरति विमल, सुनि आदरहि सुजान ।

सहज बैर विसराय रिपु, सादर करहि बखान ।।

और उस भक्ति के आलंबन राम लोक रक्षा लोक रजन, लोक मंगल आदि लोक धर्म सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियों के चरम विकसित रूप है । वे कला में उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुयायी हैं ।

1 . इसलिये वे कविता की सार्थकता सुरसरि के समान सबका हित करने में है ।

2 . गंगाजल के समान जीवन को स्वच्छ तथा निर्मल बनाने में तथा अन्ततोगत्वा मोक्ष दिलाने में गंगा की उर्वरा मिट्टी के समान मानव जीवन को उदात्त तथा मल रहित बनाने में मानते हे । इस कारण वे स्थान स्थान पर कविता को स्पष्ट शब्दों में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, प्रदायिनी कल कलुष विभजनी सुरूचि सम्वादनी सकल सुमंगल दायिनी, सुजन मन भावनी, बुद्ध विश्राम, सकल जन रन्जनी, भव

दास विनासिनी, सुख सम्पत्ति दायिनी कहते है । उन्होंने अपनी काव्य कला में वरार्य या काव्य विषय को प्राथमिक महत्व दिया है।

3 कला या शैली दक्ष को उसकी तुलना में गौड़ स्थान दिया है ।

4 वे जीवन में उदात्तता, महत्ता, भव्यता, शक्तिशील तथा सौन्दर्य की प्रेरणा देने के लिये कविता या कला विषय बहुत ही उदात्त पर महान सुन्दरतम, चरम शक्तिमान तथा चरम चरित्रावान मानते थ । साधारण मनुष्य या पदार्थ का व काव्य कला का विषय इसलिये नही मानते थे क्योकि उससे जीवन निर्माण तथा विकास की प्रेरणा लघु या लघुत्तर कोटि की मिलेगी । उनकी काव्य कला का वर्णन राम का चरित्रा है । जो मानवता के परिपूर्ण विकास तथा मानव की असीम समभावनाओं का प्रतीक है । राम के चरित्रा के माध्यम से उन्होनें मानव जीवन के जिस चरम सौन्दर्य, चरमशील, परम सत्य, परमोच्च चेतना, परम आनन्द, उच्चतम वास्तविकता, असभवनीय, सभावना का दर्शन किया हे। उसका प्रत्यक्षीकरण कराना है । उनकी कला का प्रमुख उद्देश्य है । काव्य कला में तुलसी की सहज प्रवृत्ति कविर्यनीसी परिभृ स्वमभ्यू: तथा कवय: मन्त्रा द्रष्टार: के समान अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कराने की है । इसलिये उन्होनें अपनी काव्यकृतियों के माध्यम से व्यन्जित किया, उसे हम निराकार, अतीन्द्रिय अगम, अगोचर, अकल, अनीह अज आदि की संज्ञा देते है ।

उन्होनें मानव जीवन का मंथन करके मानवता का अनवरत विकास हेतु मानव जीवन के परम पवित्रा आदर्शो, उदात्ततम सत्यों, सुन्दरतम् तत्वों, परम रमणीय उपादानों, उच्चतम वास्तविकताओं की राम की कथा तथा चरित्रा के माध्यम से प्रतिबिम्बित किया । इसलिये तुलसी का पाठक भारतवर्प में अपने जीवन को राममय देखना चाहता है । वह अपने से बाहर सर्वत्रा राम को देखता है । राम के व्यक्ति धर्म समाज धर्म, लोक धर्म को अपना आदर्श मानता है । उनके लोक

रंजन, लोक रक्षा सम्बन्धी कार्यो का उदाहरण रूप में प्रस्तुत करता है । राम के त्याग, उत्साह, शौर्य, क्षमा, शरणवत्सला, मैत्री भाव, पुरजन, परिजन आदि शील सम्बन्धी गुणों को अपने जीवन का लक्ष्य समझता है । तथा उन्हें अपने धर्म और सदाचार का सबसे ऊचा उदाहरण मानता है ।

रामजन्म के अन्तर्गत कार्य का महत्व था। इस पर पहले कहा जा चुका है किन्तु उस प्रसग में इतना और कहना है कि चाहे कोई कितना भी बड़ा पद का हो, वह भी कार्य करता था । इसका भी हमें प्रमाण मिलता है । सीता को सभी सुविधायें प्राप्त थीं नियमतः उसके पास सेवक और दासियां थीं । पर फिर भी वे अपना और घर का काम स्वय करती थी ।

"पद्यपि घर सेवक सेवकिनी , विपुल सदा सवा विधि गुनी ।

निजकर गृह परिचरचा करई, राम चन्द्र आयसु आदरहि ।।

इस प्रकार समान स्थिति समान योग्यतानुसार कार्य और सम्पत्ति विभाजन आदि समाजवादी धारणा की प्रमुख बातें हमें तुलसी की समाज सम्बन्धी धारणा गहरी नींव पर रखी हुई थी । वास्तव में हम विचार कर देखें तो कह सकते हैं कि तुलसी मानव जीवन की सामाजिक व्यवस्था पर ही आस्था रखने वाले व्यक्ति थे । राजकीय व्यवस्था पर उनका उतना विश्वास न थाजितना सामाजिक व्यवस्था पर । तुलसी के राजाराम भी प्रारम्भ से अन्त तक समाज और उसकी एक छोटी इकाई के पुरूष हैं । प्रजा के राजा नहीं । दशरथ की अपनी प्रबल इच्छा राम को राज्य देने की होते हुए भी सब की सम्मति के अनुसार ही काम करते हैं ।

"जो पांचे मत लागे नीका, देबु हरषि हिय रामहि टीका ।

गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा सामाजिकता का एक उत्कृष्ट उदाहरण जानकी तथा रामजी के विवाह के समय की है । जो इस तरह से व्यक्त हो रही है ।

"राम को रूप निहारति जानकी, कगन के नग की परछाहीं ।"

उत्कृष्ट उदाहरण जानकी तथा श्री राम जी के विवाह के समय की है । जे इस तरह से व्यक्त हो रही है । माने उस समय वह उन्मुक्त होकर श्री रामजी को सामाजिक बन्धनों की वजह से देखे तो नही सकती थी । पर कुतुहल श्री रामजी कैसे हैं । का मोह सर्वरण नही कर सकती है तथा शादी में दाहिने कगनों के नग के द्वारा वह श्री रामजी के रूप को निहार रही है ।

"फूल खिला रही पादप, कल्प से अल्पना-चित्रिाता सी अवनी है"

कथामयी है विदेह विशिष्ट दन्त उमा सुत सुतभाव ध्वनी हैं । ।

3. श्री तुलसीदास की कला अभिव्यजंक, कीर्ति गणश कपूर मर्ना ह ।

इसी संदर्भ में भी हरिऔध जी पक्ति है "कविता लसी या तुलसी की कला ।" तुलसी की कला में क्या वस्तु है । यह मुझे डॉ0 गणेश दत्त सारस्वत के ग्रन्थ का काव्य "तुलसी की कला" को पढ़ने पर मिला । बहुत कुछ लिखा गया है । परन्तु वास्तविकता यह है कि पारम्परिक परागत कविता कला से बहुत कुछ अलग है । अपनी कला में वे गुणों की प्रतिबद्धता स्वीकार नही करते, जिसके आधार पर कविता की परख होती रहती है । इसी से वे ललकार कर कहते है

"गणित मोरि सब गुण रहित, विश्व विदित गुण एक"

कवित्त विवेक एक नही मोरे, सत्य कहौ लिखि कागद कोरे ।।

उनके पास कहने लायक महत्वपूर्ण सत्य है और वह सत्य सुन्दर है । सत्य मगलमय और शिव तो होता ही है । इसलिये तुलसी की कला केवल उक्ति चमत्कार नही है । उक्त चमत्कार तो सजावट के लिये उन्हें चाहिये जिनके पास कहने के लिये कोई वजनदार सत्य नही या ~~सत्य बिल्कुल~~ हीन हो उससे भिन्न तुलसी की कला है । जिनको सुन्दर सत्य के उदाहरण के साथ साथ कला का सौन्दर्य स्वत: निखरता चलता है । इसलिये तुलसी की कला एक अलग वस्तु है।

फिर तुलसी के कला के अलग अलग रूप हैं यह विविध रूप उनकी प्रत्यक रचना में दखे जा सकते हैं ।

रामचरित मानस की कला एक प्रकार की है विनय पत्रिका की दूसरे प्रकार की गीतान्जली की आभा निर्मल और धवल है । तो कवितावली की छटा निराली है । दोहावली में परिपक्व अनुभव और लोकनीति कि शिक्षा देने वाली सूक्तियां हं । ता बरवै रामायण में मोहक रूप सौन्दर्य और भाव सौष्ठव है । लोकजीवन की एक सतरगी झाकी है तो दानों मगलों मं मार्गलिक उत्सव का उल्लास । कृष्णा गीतान्जली में कृष्णा का नटखट बाल वर्णन हं । पर वैराग्य सदीपनी मं ज्ञान वैराग्य भरी शक्तिदानियी रचना है । इन सबके अलग अलग वर्णन एक कथा है । साथ ही अलग अलग अभिव्यक्ति भंगिकाए भी । इन सबकी अलग अलग विशेषताओं के बोध के साथ ही तुलसी की कला का वास्तविक मर्म समझा जा सकता है ।

मुझे डॉ0 सारस्वत का यह काव्य ग्रंथ पढ़कर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ क्योकि उन्होने तुलसी की काव्य कला की विविधता का मर्म गहराई से समझा है । इन्होने इस काव्य ग्रंथ में तुलसी की प्रत्येक रचना की विशेषता को अपने ढंग से उदघाटित किया है । यह कार्य प्रत्येक कवि या आलोचक के बस का नही है । यह वही कर सकता है । जो तुलसी मानस के अवगाहन के साथ साथ अनके रचना सागर में पूरी तरह से डूबा हो तो सागर मानस में रत्न है मानस में मोती है तो सागर में रत्न है इसी भावना के आधार पर रामचरित मानस के समतुल्य भक्त हैं ।

डॉ0 गणेशदत्त सारस्वत गोस्वामी तुलसीदास जी को प्रणाम कहते हैं ।

"वन्दन बन्धु गौरि गणेश का , देवि इला विमला को प्रणाम है ।

बन्धन बन्धु संकेत है राम का मैथिलि की मिथिला को प्रणाम है ।

वचन पावन भाग्य का हे, सारयू तट की आत्मा का प्रणाम हे ।

वचन में हुलसी है गिरा हुलसी तुलसी की कला को प्रणाम हैं ।

भक्त प्रबर गोस्वामी तुलसीदास राम के अनन्य उपासक थे उन्होंनें राम भक्ति विषयक उदगार स्वात: सुखाय सुख के लिये व्यक्त किया था जो तीव्र भावात्मक उद्रक के कारण काव्य बन गया । उनका काव्य भक्ति के गम्भीर सागर मं परिपल्वित होते हुए भी युगीन चित्राण से असमप्रक्त नही हे । तुलसी के काव्य में जीवन और जगत की पदार्थ और व्यवहारिक व्याख्या प्राप्त होती है। नवनीत के समान कोमल हृदय वाले इस संत का स्वान्त: सुखाय लोक या सुखाय का पर्याय है । यही कारण है कि तुलसी का अर्न्तमन पर पीडा मे द्रवीभूत भक्ति के उदगारों से सृवित होता हुआ दृष्टिगोचर होता हैं । तदयुगीन समाज के दुखावस्था की विशिष्ट प्रतिक्रिया उनके काव्य में परिलक्षित होती है।

तुलसी के काव्य का रचना काल और जहांगीर का शासन काल है । भारतीय इतिहास में अकबर, महान की उपलब्धि से भूपित है । और जहांगीर के विषय में अदल ए जहांगीर का आमाणक प्रमिद्ध है । ये उपलब्धियां या तो ततकालीन मुसलिम समाज द्वारा प्रदत्त है । अथवा स्वत: धारण की गयी है । किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है । अकबर की उदारता एवं साम्राज्य की समृद्धि एव विस्तार में केन्द्रित सम्बद्ध व्यक्तियों तक ही सीमित थी तथा जहांगीर का (अदल) उनका विज्ञापन था । यदि ऐसा न होता तो उदारता और अदल का वरदान सर्व साधारण जनता को भी प्राप्त होता । ऐसी स्थिति में तुलसी जैसे उच्च संत को अपना क्षोभ निम्न पक्तियों में व्यक्त न करना पड़ता।

गोड गवांर नृपाल महि, यवन महा महिपाल ।

सांम न दाम न भेद कवि, केवल दण्डु कटाल ।।

यवन महिपाल महान बनकर भी दण्ड नीति से शासन चला रहे थे । उनके दण्ड क विविध रूप थे । तुलसी के "भूमि चोर भूप भय" उक्ति के अनुसार जन साधारण को भूमि का भय दिखाकर हस्तगत, कर लेना साधारण कार्य था । दण्ड क दूसरे स्वरूप में अनेक प्रकार के करों का प्राविधान था । मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दुओं से जजियाकर प्रत्यक्षतया वसूल किया जाता था। अन्य अनेक प्रकार के करो का भी प्राविधान था । यद्यपि मुगल शासकों ने बाद में जजियाकर लेना बन्द कर दिया था । किन्तु अन्य प्रत्यक्ष करो से हिन्दू जनता पीडित थी । कर तो राजकीय आय के स्रोत हैं किन्तु वे जितने अप्रत्यक्ष होते है । उतने ही कम उत्पीडित करते हैं । मुगल सम्राटो में प्रत्यक्ष कर द्वारा सर्व साधारण का रक्त चूस उससे प्राप्त धन को सुरा, सुदरी विलास क्रीडा तथा हरमों की सज्जा में व्यय करने में रचमांभ भी संकोच नही किया । अकबर का मीना बाजार और जहांगीर का नशा इतिहास प्रसिद्ध घटनाएं हैं । तुलसी का भावुक हृदय उससे आहत हुआ और उन्होंनें अपनी भावनाओं को संकेतो द्वारा व्यक्त करने का प्रयास किया ।

"बरसत हरपत लोग सब, कसरत लखै न कोय ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भान ते होय ।।

यद्यपि विनय प्रत्रिाका तुलसी को विशुद्ध भक्ति विषयक कृति है । किन्तु उसमें भी उन्होनें कुराज्य की कुनीति से पीड़ित होकर अपनी व्यथा व्यक्त की है।

"राज समाज कुसाज कोटि कपु,
कल्पत कलषु कुचाल नई है ।
नीति प्रतीति प्रीति परिभितिपति,
हेतु वाद हठ हरे हई है ।

राजा का व्यवहार प्रजा के प्रति कठोर, अनुदार एव कृपा रहित था छल प्रपंच द्वारा प्रजा को ठगकर अपनी सुख सुविधा एकत्रित करना ही राज समाज का कर्तव्य था । मध्य युग में मुगुल सम्राटों द्वारा हिन्दू धर्म और सस्कृति पर जो प्रहार हो रहा था उनके मंदिरों तथा धर्म ग्रन्थों का जो अपमान हो रहा था बलपूर्वक अथवा आतंक द्वारा हिन्दू बहू बेटियों का जिस प्रकार अपहरण हो रहा था उसकी व्यजना गोस्वामी तुलसीदास ने रावण के अत्याचारों के माध्यम से किया है ।

"भुजवल विश्व बाचकर, राखेंसि कोउ न सुतत्रा ।
मण्डलीक मन रावन, राज करई निज मत्रा ।।

1. देव जच्छ गंर्धव नर, किन्नर नाग कुमारि ।
जीति परौ निजप्बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि ।।

2. करहि उपद्रव असुर निकाया, नाना रूप धरहिं कर माया ।
जेहि विधि होई धर्म निर्मूला, सो सब करहि वेद प्रतिकूला ।।

3. बरन न जाई अनीति, धोर निसाचर जो करहि ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहि कवनि मिति ।।

डॉ0 रामचरित्रा सिंह द्वारा रचित मानस को लोकप्रियता पुस्तक मे

तुलसीदास की सामाजिकता पर -

भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम कवि और काव्य शब्दों का प्रयोग वेदों में हुआ है । शुक्ल यर्जुवेद में कवि को परमेश्वर माना गया है । तथा प्रशन्सा की गयी है । "कवपति सर्व जानाति सर्व वर्णयातीत कृति: अर्थात जो कविता करता है । सबको जानता है । और सबका वर्णन करता है । वही कवि है । अर्थात् कवि का कर्म ही काव्य है ।

सस्कृत विद्वान आचार्यो द्वारा काव्य की विभिन्न तरह से परिभाषाएं की गयी हैं । उनमें आचार्य भरतमुनि सर्वप्रथम है । भामाह ने काव्य में शब्द और अर्थ की स्थिति को ही महत्व प्रदान किया है । आचार्य कुन्तक ने वाक्य को वक्रोक्ति गर्भित शब्दार्थ कहा है । आचार्य मममट ने कहा है। शब्द और अर्थ वह समन्वित रूप है । जो दोष रहित हो तथा कहीं अलकार युक्त भी हो (काव्य) है । रसवादी आचार्य विश्वनाथ कविराज की काव्य परिभाषा बहुत प्रसिद्ध हैं । उन्होनें रसयुक्त वाक्य को (काव्य कहा है) पण्डितराज जगन्नाथ न रमणीया अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य बताया है ।

हिन्दी विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है । उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है । हृदय शब्द विधान करती आयी है । उसे कविता कहते हैं । चिन्ता की मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "काव्य आत्मा की सकलानात्मक मणि भाग पृष्ठ 14 जयशंकर प्रसाद रस दशा की अनुभूति विज्ञान से नही है । वह एक श्रेयमयी प्रेषय रचनात्मक ज्ञान धारात्मक अनभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प था जो श्रैय सत्य को मूल चारूत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। आत्मा की मनन शक्ति कि वह असाधारण अवस्था काव्य में संकलात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है ।

पाश्चात्य विद्वान :

आरस्तू "काव्य वह कला है जिसका आधारभूत सिद्धान्त भाषा के माध्यम से किया हुआ अनुकरण है ।

26 अक्रोध एवं क्षमा 27 . धैर्य एवं सहिष्णुता

28 . अहंकार हीनता एवं विनम्रता 29 लोभहीनता और सन्तोष

30 . शौच और निर्मलता 31 . शुभाशुभ शकुन 32 तीर्थ और व्रत

33 मांगलिक कार्य 34 साम्प्रदायिक धर्म

35 वद प्रमाणव्य सम्बन्धी विचार 36 . सोडस सस्कार

37 [illegible] 38 परोपकार और सेवा 39 [illegible] और [illegible]

40 अक्रोध एवं क्षमा 41 धैर्य एवं सहिष्णुता

42 . अहकार हीनता एवं विनम्रता 43 . लोभहीनता और सन्तोप

44 . शौच और निर्मलता 45 . न्याय और विवेकशीलता

46 . समता भावना

सामाजिक दृष्टि में तुलसीदासजी के कुछ उदाहरण :-

1 . सत्संग 2 . रामकथा में प्रीति 3 . गुरू चरणों की सेवा

4 राम गुणगान 5 .भगवान में विश्वास एवं जप

6 . दानशील और धर्मान्तरण 7 .रामराज्य विश्व दर्शन एवं साख्य भाव।

8 . सन्तोष एवं दूसरे का दोष न देखना

9 सरलता छल हीनता एव भगवान में भरोसा

सामाजिकता की दृष्टि क्या है ?

1 . आडम्बर हीनता 2 . सम्प्रदाय निरपेक्षता 3 . साम्य भावना

4 सरलता मन वाणी कर्म से होनी चाहिए । 5 समाजिकता

सामाजिकता :-

रामराज्य बैठे त्रौलोका, हरिषित भये गये सब शोका ।

बायरू न कर काहू से कोई रामप्रताप विषमता खोई ।।

बरनाश्रम निज निज धरम, नित वेद पथ लोग ।

चलहि सदा पावहि सुखहि, नहि भय सोक न रोग ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य काहुहि नहि व्यापा ।

सब नर करहि परसपर प्रीती, चलहि स्वधर्म निरत प्रति नीती ।

चारहि चरन धर्म जग माही, पूरि रहा सपनेहू अध माही ।

राम भगति रत नर अरू नारी, सकल परम गति के अधिकारी ।।

तुलसी के सामाजिक दृष्टि में सामान्य माननीय जीवन स्थितियों की अभिव्यक्ति -

गोस्वामी तुलसयीदास जी ने रामायण में प्रजातियों वर्णो और जातियों का यथास्थान उल्लेख किया है । और सबके सम्बन्ध में ऐसे प्रसगो अथवा वस्तु वर्णनों की योजना की है । जो मानव जीवन की सामान्य स्थितियों से सम्बन्धित है । ये स्थितिया मानव के रागात्मक सम्बन्धों और मानवीय अनुभूतियों तथा भावों की देन है । जहा भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है । वहां मानम के चरित्रा प्रजाति वर्ण, वर्ग और संकीर्ण जाति के घेरे से ऊपर उठकर विशुद्ध मानव मात्रा रह गये हों ये स्थितियां तीन वर्गो में विभक्त की जा सकती हैं ।

1. भावगत 2. शीलगत 3. वस्तुगत ।

1. भावगत स्थितियां -

भारतीय साहित्य संसार में रस सिद्धान्त का सर्वोपरि स्थान है । और इस को ही काव्य की आत्मा माना गया है ।

रतिभाव - यद्यपि रति भाव का संसारक्षेत्रा बहुत व्यापक है किन्तु संकीर्ण अर्थ में केवल स्त्राी पुरूष के रति को ही श्रृंगार रस कहा जाता है ।

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सम राम हृदय गुनि ।

मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय कह कीन्ही ।।

उदाहरणार्थ जनकपुरी में वाटिका में राम को सीता को दिखना । श्री रामचन्द्र जी के विवाह मं तीन पद्धतियां अपनायी गयी हैं 1. गन्धर्व विवाह विवाह की प्रक्रिया जो पुष्प वाटिका में घटित होती है । 2. स्वयम्बर विवाह की प्रक्रिया जो धनुष यज्ञ के मण्डप में सीता द्वारा राम को जयमाल पहिनाने में होती है । वैदिक विवाह प्रक्रिया जो ब्राहमण द्वारा राजा जनक के आगन मे परिपूर्ण होती है ।

"तत्व न प्रेम कर गम अरूतीरा, जानत पिया एक मनु मोरा ।

मा मन सदा रहत तोहि पाही, जासु प्रीति रस एतनहि माही ।।

2. उत्साह भाव- रामकथा मूलतः वीर युग की कथा होने के कारण वीर रस प्रधान है । किन्तु मध्यकाल के भक्त कवियों ने उसपर भक्ति और रीति कालीन कवियों ने उसमें श्रृंगार रस को इतना अधिक चढ़ाया है कि उसका मूलअंग वीर रस गोड हो गया है । मानस में भी भक्ति का ही प्रधान्य हे । क्योंकि इसके प्रति पाघ भगवाल राम ही है मानव राम नही ।

"गुरूहि प्रणमु मनहि मन कीन्हा, अति लाधव उठाव धनु लीन्हा ।

दमकेऊ दमिनि जिम जब लयऊ, पुनि चद धनु मण्डल समभयऊ ।

लेच चढ़ावत खैचत गाढ़े, काहु न लाखो देखि सब ढाढे ।

तेहि धन राम मध्य धनु तोरा, भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ।।

उत्साह भाव चरम पर :-

निसचर हीन करहु महि, भुजउठाई पन कीन्ह,

लंका पहुचने पर राम के शौर्य और पराक्रम का अन्तिम अध्याय प्रारम्भ होता है । वह राम के ही जीवन का नही भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण युद्ध था जो वस्तुतः सत्य और असत्य का धर्म और अधर्म न्याय और अन्याय का अधंकार और प्रकाश का युद्ध था । युद्ध भूमि में राम, लक्ष्मण, हनुमान, आंगद

आदि वीर अपने वैयक्तिक पराक्रम का प्रदर्शन और साहस और उत्साह से करते हैं । और प्रतिदिन राक्षसों के प्रबल वीरों का नाश होने लगता है। युद्ध भूमि में राम का वीर रूप देखते ही बनता है ।

"कपि अकुलाने माया देखें, सब कर मरना बना एहि लेखे ।

कौतुक देखि राम मुसुकाने, भये सभीति सकल कपिजान ।

एक बान काटी सब माया, जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया ।

कृपादृष्टि कपि भानु त्रिलोके भये प्रबल रन रहहिन रोके ।।

अन्य स्थायी भाव :-

गोस्वामी तुलसीदास जी ने समाज को उत्प्रेरित करन हतु अपने काव्य में हास्य, आश्चर्य, क्रोध, जुगुप्सा, भय नामक भावों के रसो का परिपाक किया है।

"जौ तुम्हार अनुशासन पाऊं, कन्दुक इव ब्राह्मण उठाऊ ।

काचे घर जिमि डरौ फोरी, सकल मेरू मूलक जिमि तोरी ।

बाल प्रहमचारी अति कोही, विश्व विदित क्षत्रिाय कुल द्रोही ।

भुजवल भूमि भूप बिन कीन्ही, विपुल बार महि दवन्ह दीन्हीं ।।

शोकभाव

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में कई प्रसंग ऐसे प्रस्तुत किये है जिनसे शोक भाव प्रमुखता से मानवता को अध्ययन के समय रूला देता है । या मनुष्य शोक में भाव विहल हो जाता है । उदाहरण स्वरूप दशरथ मरण, रामवन गमन, लक्ष्मण मूर्छा, मेघनाथ रावण वध आदि ।

"शेक विकल सब रोवहि रानी, रूप सील बल तेजु बखानी ।

करहि विलाप अनेक प्रकारा, परहि भूमि तल बारहि बारा ।।

सामाजिक समस्यायें :-

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में जनवादी समस्याओं का अनेकानेक प्रकार से उल्लेख किया है । जनवाद से तात्पर्य गोस्वामी जी के समय में किस तरह की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा भौगोलिक स्थितिया थीं । तथा क्या क्या दुस प्रथाए थीं। आदि का विषय विवेचन किया गया है । इसमें प्रथम समाज में गुरु का सर्वोच्च स्थान प्रदर्शित किया गया है । जिसका उदाहरण निम्न है

"पुनि रघुपति सब साथ बुलाएं, मुनि पद लागह सकल सिखाव ।

गुरू वशिष्ठ कुला पूज्य हमार, इसकी कृपा दनुज [illegible]

माता पिता पुत्रा का सम्बन्ध -

गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रथम अवधारणा रही है । जनवाद की समाजिकता का क्या परिणाम रहा समाज में माता, पिता, गुरु तथा पुत्रा, बहन, बुआ आदि तमाम रिश्तेदारों का क्या सम्बन्ध है ।

भारतीय संस्कृति रही है कि माता पिता को भी गुरु के समान देवतुल्य माना गया है । तथा पुत्रा को माता पिता की आज्ञा के बिना तर्क वितर्क के मानना आवश्यक बताया गया है । माता पिता पुत्रा को जन्म देने के बाद पुत्रा का अचरण भी उन्ही के समान बनता है । इसलिये गोरवामी तुसलीदास जी ने पित्राभक्ति को बहुत ही ऊचा स्थान दिया है । वस्तुतः राम कथा का मूल आधार ही पिता के आदेश का पालन करना है । यदि राम पिता की आज्ञा का पालन न करते तो राम कथा कुछ और ही हुई होती कैकेई के वरदान मांगने पर राम की पितृभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत है ।

"मन मुसुकांहि भानुकुलभानु राम सहज आनन्द निधानू ।

मुनि जन मिलन विशेष वन, सर्वहि भांति हित मोर ।।

तेहि मंह पित्रा आयसु सेमत जननी तोर ।

भरत प्रानप्रिय पावहि राजू, विधि सब विधि मोहि सन्मुख आजू ।।

जौ न जाऊ ऐसे काजा, प्रथम गनहि मोहि मूढ समाजा ।

समय समय सनेह बास, सोचू परिहारऊ तात ।

आपासु दइऊ हरपि हिय, कहि पुलक प्रभु गात ।

बिदा भागु सब आवहि भागू चालिहऊ बनहि बहुरि पग लागी ।।

वन जाने पर श्री राम जी सीता को घर में ही रहकर माता पिता की सेवा करने को कहते हैं तथा प्रजनो से भी यही कहत हं ।

"बारहि बार जोरि जुग पानी, कहत राम सब सन मृदु बानी ।

सोई सब भांति मोर हितकारी, जेहि ते रहे भुआल सुखारी ।।

"मातु सकल मेरे विरह, जेहि न होई दु:ख दीन ।

साई ऊपाय तुम्ह करेहू, सब पुरजन परम प्रवीन ।।

जब भरत पूरे समाज सहित रामचन्द्र जी से मिलने चित्राकूट जाते हैं उन्हें अयोध्या वापस लाने के लिये उसका एक मार्मिक दृश्य क्योंकि समाज में माताओं सहित पूरा अयोध्या नगर समाहित है ।

"प्रथम राम भेरी कैकेई , सरल सुभाय भगति मति भई ।

पग पर कीन्ह प्रबोध बहोरी, काल करम विधि सिर धरि खोरी ।।

भेंटी रघुवर मातु सब, करि प्रबोध परितोप।

अब ईश आधीन जसु काहू न देइऊ दोषु ।।

चित्राकूट से बिदाई पर रामचन्द्र जी ने विशेष रूप से कैकेई के पास जाकर चरण स्पर्श किया ।

"भरत मात पद बन्द, प्रभु सुचि सनेह मिलि ।

चौदह बरस के वनवास के बाद श्री रामचन्द्रजी जब अयोध्या लौटते हैं तो उनकी व्याकुलता देखते ही बनती है ।

मात्रा सम्बन्ध :- भारतीय सस्कृति में सयुक्त परिवार क सभी सदस्यों क पारस्परिक सम्बन्ध तत सम्बन्धी शिष्टाचार पूर्णतय. निश्चित कर दिय गये ह । रामजी को अपने भाइयों से विशेष लगाव था । अपने पुनराज्याभिषेक से पहिले उनक मुख से यह शव्द निकलते हैं ।

"जनमें एक सग सब भाई, भाजन मयन केलि लरिकाई ।
करन बधहा उपवीत विआहा, सग सग सब भय उछाहा ।।
विमल वश यह अनुचित एकू, वधु विहाई बडेहि अभिषेकू ।।

राम अपने भाइयों को वहुत प्यार करत थ वनवास जान पर लक्ष्मणजी वन जाने का तैयार हैं । परन्तु राम लक्ष्मण से कहते हं कि आप यही रहकर सबकी देखभाल करं राम की बात सुनकर लक्ष्मण का क्लेप उन्ही के मुख से ।

"सिमर वदन सूख गये केस, परसत तुहिन तामु-रमु जस ।
उतरू न आवत प्रम वस, गहे चरन अकुलाई ।।
नाथ दास मैं स्वामि, तुम्ह तजहु न काहि बसाई ।
दीन्हि मोहि शिवनोकि गोसाई, लागि अगम आपनी कदराई ।
मन क्रम वचन चरन रति होई, कृपा सिन्धु परिहरऊ कि सोइ ।

श्रगवेर पुर में जब राम कुश आशन पर आराम कर रहे थे तो लक्ष्मण जी रात्रि मं निषाद के साथ जागकर रखवाली कर रहे थे ।

उठे लखन प्रभु सोवत जानी, कहिसचि वाहि मावन मद बानी ।
कछुक दूरि सजि वान सरासन, जागन लये वैठि वीरासन ।।

राम चरित्रा मानस में श्री रामचन्द्र जी के बाद चरित्रा मं उज्ज्वलता भरत जी के चरित्रा में है । भरत को तुलसीदास जी ने सेवा भाव प्रेम व सेवा धर्म का प्रतीक बना दिया है । मां के कारण जो ग्लानि होती है । मातृ भक्ति में रंग और निखर उठा है । उनके स्वभाव का उल्लेख इस प्रकार है ।

भरत सभाउ सुशीतलतापी, सरा एक रस वरिन न पाई।

तुलसीदास जी कहते हैं कि भरत का प्रेम ही निराला है । चूंकि राम पैदल ही वन गये थे तो भरत सुविधाओं के होते हुए भी पैदल ही जाना पसन्द किया । जिससे वे राम के कष्ट को स्वय अनुभव कर सक ।

गवने भरत पयोदहि पाये, कोतल सग जाहि आरिपाए।

कहहि सुसेवक बारहि वारा, होइह नाथ अश्व अश्वारा।

राम पदादहि पाए सिधाएं। हम कह रथ गज बाजि बनाएं।

सिर भर जाऊ उचित अस मोरा, सबसे सेवक धर्म कठोरा।

देखि भरत गति सुनि मृदवानी सब सेवक गन करहि गलानी।

सुनहु लखन भल भरत सरीखा, विधि प्रपंच मह सुना न देखा।

भरतहिं होहिय राज मदु, विधि हरि हर पद पाई।

श्री राम तथा भरत दोनों एक दूसरे को परस्पर प्यार करते हैं । भरतजी को समाज सहित मिलने पर सेवक शंकर करता है कि कही भरत समाज सहित युद्ध करने तो नही आ रहे हैं । परन्तु राम जी का भरत के प्रतिअगाध विश्वास का नमूना देखिये ।

****

द्वितीय अध्याय

कलादृष्टि-कला और साहित्य का अर्न्तसम्बन्ध

गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में कला और साहित्य का अर्न्तसम्बन्ध पग-पग पर दृष्टिगत होता है जिसे मैं उपर्युक्त विवरण से सिद्व करने का प्रयास कर रहा हूँ।

कला के सामान्य विश्लेषण के अन्तर यह आवश्यक है कि कला और सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन कर लिया जाय। सौंदर्य शब्द का प्रयोग अति प्राचीन है। सौंदर्य के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। इसलिये सौंदर्य के स्वरूप पर विचारको का मतैवैभिन्य सौंदर्य शब्द की व्यूत्पत्ति की भी अपेक्षा रखता है।

सौंदर्य शब्द संस्कृत के सुन्दर शब्द से भाव अर्थ में की व्यत्पत्ति प्रत्यय जुड़कर होती है। वाचस्वत्प कोष में ''सुन्दर शब्द का अर्थ हुआ 'सु' उपर्सग पूर्वक'उचद' धातु से 'अरन' प्रत्यय जोड़कर सिद्व किया गया है।

इसलिये धात्वर्य के अनुसार 'सुन्दर' शब्द का अर्थ हुआ 'सु' अर्थात् सुष्ट या अच्छी प्रकार और 'उच' अर्थात् आर्द्र करना और अरन र्कात वाचक प्ररयय इस प्रकार इस शब्द का अर्थ हुआ अच्छी तरह आर्द या सरस करने वाला।

इस शब्द की निष्पत्ति 'भ्वादि' गण 'दुनादि समृदो' सूत्र से भी माना गया है। सु उपर्सग अर्थात् अच्छी तरह नन्दपति जो प्रसन्न करता है। अर्थात् जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करें वह सुन्दर कहलाता है।

सुन्द रति इति सुन्दरम् तस्य करवा सौन्दर्यम् अर्थात् सुन्द को जो लाता है। वह सुन्दर और उसका भाव जहां हो वह सौदर्य कहलाता है। सुन्द पूर्वक 'रा'

धातु अर्थात् आदाने (लाना) धातु मे औणादिक अच्च प्रत्यय से 'सुन्दर' शब्द तथा गुण वचन' ब्राम्हणादिभ्य: राज इस पाणिनी सूत्रा से पव्य प्रख्योप्रत्योरान्त सौदर्य शब्द व्यूतपन्न हुआ भारतीय विधाविदों का कहना है।कि ऋग्वेद के नवम् मण्डल में ही सोंदर्य की मीमामा की अर्पूव झलक मिलती है। इसलिये वे ऋग्वेद मं (सु।अ) मे ही सुक का सम्बन्ध जोड़ते है। जिससे सुन्द-सुन्दर और सौंदर्य क्रमश: उत्पन्न हुए हैं।

सौंदर्य शब्द के आर्य में वस्तुत: अनेक भाव तरेगं समविष्ट है। जैसे उदान्त, रूचिर, सोम्य, मनोहर, रमणीय, मनाज मनारम मधुर पशल (वेरीगट्ड) चारू मन्जुल शेभन साधु कान्त लावण्यवान, ध्रतिवान, छविवान,सुपमावान, अभिराम, मगलकारी भला, शुक आदि। इनमें से प्रत्येक भव्य सौंदर्य की सामान्य भावना के अतिरिक्त एक दूसरेस पृथक अपना स्वतंत्रा रग आर झाई (कलर ऐण्ड शड) रखता है।

सौंदर्य के व्यापक अर्थक्ता क सन्दर्भ में दृश्य जगत की अनेकानेक वस्तुएं और उनके व्यापार बहुत ही आकर्पक ओर मनारम प्रतीत हात ह।

-प्राकृतिक सौंदर्य के अतरगत वे छवि विपय या दृप्टि विपय आत है। जिनको देखकर ह्दय में एक अनूठा एवं लोकोत्तर रस संचार होता है। उदाहरणार्थ गगन चुम्बी हिमाच्छादित गिरि श्रृंखलाएं कल-कल निनाद करती हुई मंदगति से पर्वाहित हान वाली सरिता असख्य वक्ष और लताओं मे युक्त कानन, अनेक रग विरंगं पुप्प और फल नाना आकार-प्रकार एवं रग के मनुष्य पशु-पक्षी आदि वस्तुएं प्राकृतिक सौंदर्य चित्त को बरबस अपनी तरफ आर्कषित कर लेते हैं। इनसे एक अवर्णनीय मनोहारिता और आनन्द प्राप्त होता है। इन प्राकृतिक वस्तुओं में प्राप्त मनोहारिता को हम सौदर्य कहते है।

किन्तु सौंदर्य शास्त्रा के अन्तरगत इसको समाविष्ट नहीं किया गया है। इसका विवेचन मानवीय कला के ही सन्दर्भ में किया जाता है। कलागत सौन्दर्य

से तात्पर्य अभिव्यंजना के सौन्दर्य से है। प्राय: यह देखा जाता है कि विषय अथवा पतिपाध्र विषय चाहे जितना ही सौंदर्य युक्त हो यदि उसकी अभिव्यक्ति में सौंदर्य नहीं है तो उसका प्रभाव निष्प्राण हो जाता है। अभिव्यंजना का माध्यम रंग रेखा तरासे हुए पत्थर आदि भी होते है। परन्तु यहां पर शब्द का माध्यम प्रमुख है। सफल कवि जितना प्रतिपाध के प्रति ध्यान रखते हैं। उतना ही प्रतिपादन अथवा अभिव्यजना के प्रति भी चेतन्य रहत हे। यहा तक कि कव्य और अभिव्यंजना में कोई भेद नहीं रह जाता। अभिव्यंजना ही कव्य है। उसके अतिरिक्त वह हो भी क्या सकता है। अभिव्यजना के सौदर्य के अन्तरगत मुख्यतय: शब्द सौदर्य, संगीत सौंदर्य, अलंकार सौन्दर्य आदि आते हैं। सौन्दर्य की स्वीकृति चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित होती है। वाणी के माध्यम से ही सम्पूर्ण तथ्य नहीं स्पष्ट हो पाता। लेकिन जो भी तत्व कुछ अर्थ प्रकट करते है।उन्हें वाक् या वचन की सज्ञा दी जाती है। जो कुछ अभिव्यक्ति का माध्यम है वह वाक् है और जो कुछ भी अर्थ से प्रकाश्य है वह अर्थ है। वाक् और अर्थ अभिव्यक्ति के माध्यम और विषय है। अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का माध्यम रस, अलंकार रीति गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य सभी समान भाव से स्वीकृत है। कतिपय विचारक रीति या गुण को कुछ वक्रोक्ति को कुछ ध्वनि आदि को सौन्दर्य मानते हैं।

कैरिट ने एक स्थान पर कहा है कि कलागत एवं वास्तविक सौन्दर्य दोनो पूर्णतय: समान जातीय है। तथा प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है। वह न केवल अपने भावों को भाषा के माध्यम से दूसरे तक पहुंचाता ही है। अपितु वह प्रकृति तथा कलाकृति दोनों को सौन्दर्य की दृष्टि से देखता और समझता भी है।

सचमुच यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो दोनें ही एक जाति की चीजें प्रतीत होती है। इनमें से किसी प्रंकार के उपद्रव्य को देखकर हमारे अवचेतन के

सुप्त संस्कार जागृत होते है। और देश काल, पात्रा परिस्थित आदि से सम्बद्व होकर नवीन रूप में उपभोग्य बनते है। किसी किसी तत्वज्ञानी ने बताया है कि इस प्रकार की उत्तेजक सामग्री के कारण होने वाले अवचेतन को आत्मोपलब्धि का नाम सौन्दर्य है। इसमें उद्यीपक सामग्री और उदीप्त संस्कार दोनों का योग होता हैं। दृष्टा दोनों की सत्ता का अनुभव करता है। यही कारण है कि एक ओर दृष्टा जहां सौन्दर्य बोध से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करता है वही उस वस्तु को सुन्दर भी कहता है। अर्थात् ज्ञान के साथ ही साथ की सत्ता को भी अनुभव करता रहता है। यह एक ही प्रक्रिया प्रकृति प्रदत्त सुन्दर वस्तु के साथ भी चलती है और मानव निर्मित कलाकृति के साथ भी मनुष्य निर्मित चित्रा, मूर्ति काव्य, संगीत आदि से भी द्रष्टा के अवचेतन में विद्यमान संस्कार उदबुद्ध होते है। प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं जैसे तारावचित आकाश निर्झर संस्कार निनादित सानुभूमि, उदधूम गिरि गहर तृणशाटल शोभित वनस्थली आदि से भी उसके अवचेतन में अवस्थित संस्कार ही जागृत होते है। ज्ञान और गे दोनों की प्रतीति अन्यत्रा विद्यमान रहती है। वैदिक ऋषियों ने सृष्टि को देवता का काव्य (पश्ंय देवस्य काव्य न विभेति न स्थिति) कहकर इसी समानधर्मी अनुभृति की ओर संकेत किया था। मनुष्य निर्मित काव्य की ही भाँति ही विधाता निर्मित काव्य भी हमें आनन्द देता है। इस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में ज्ञान और गे सौन्दर्य बोध और सुन्दर पदार्थ की प्रतीति विद्यमान रहती है। दोनों ज्ञाता के चित्त के अन्तर निहित सुप्त संस्कारों के उद्बोधन के साथ ज्ञेय की सत्ता के प्रति सचेत कराते है। इस प्रकार दोनों एक है।

प्राकृतिक सौन्दर्य और कलागत सौन्दर्य में इतनी समानता होने के बावजूद इनमें पर्याप्त अन्तर भी है। प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य जैसा है। व वैसा ही अनुभव का आस्वाद है। लेकिन मनुष्यकृत सौन्दर्य इस अनुभव और जो जैसा होना चाहिए वैसा

इन दोनों से उद्भूत विशिष्ट आनन्द है। दूसरा अन्तर यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य स्वतंत्रा सौन्दर्य है। और कलागत सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य द्वारा चालित होता है। पर है मनुष्य के अनन्तर की अपार इच्छा को रुप देने का प्रयास। प्राकृतिक सौन्दर्य केवल अनुभूति प्रदान कर विमुख हो जाता है। लेकिन कलागत सौन्दर्य अनुभूति का अभिव्यक्ति देकर अनुभूत परम्परा का निर्माण करता है।

कला और साहित्य के अन्तर सम्बन्ध में विभिन्न मत: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा हे कि भापा में धर्माचारण में मूर्ति में चित्रा में बाधा अभिव्यक्ति मानवीय शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है। अन्य किसी उचित शब्द के अभाव में हम उसे लालित्य कहेंगे। लालित्य अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से निम्न, किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला मानव रचित सौन्दर्य।

सौन्दर्य के स्वरूप को उद्भाषित करते हुए बाल सीताराम मर्ढ़ेकर ने लिखा है कि सौन्दर्य वह शक्ति है जिसके द्वारा कोई सौन्दर्य जनक संवदेना उस अर्थ की अपेक्षा करते हुए जिसको संवेदना से सम्बन्धित किया जाय किसी व्यक्ति को आर्कषित करती है। दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य पार्थिव जगत के ध्वनि रंग आदि किसी विशिष्ट अंग की केवल उस अंग के रूप में किसी बाह्य अर्थ को ध्वनित किये बिना आर्कषण करने वाली शक्ति है।

क्रोचे के मतानुसार आत्मा की दो क्रियाएं है। विचारात्मक और व्यवहारात्मक व्यवहारात्मक क्रिया कर्म प्रधान होने के कारण समाज स्वीकृति आर्थिक और नैतिक मानदण्डों तक ही सीमित रहती है। इन क्रियाओं से सौन्दर्य का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य की विचारात्मक क्रिया से है। विचारात्मक क्रिया से ज्ञान के दो रुप निष्पन्न होते हैं। सहज ज्ञानसे ही सौन्दर्य

विधान होता है। दूसरी तरफ तर्तात्मक ज्ञान का सम्बन्ध दर्शन विज्ञान इत्यादि के प्रवर्तन ग है।

क्राचे क मत का निष्कर्ष है कि सहज ज्ञान की सफल अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। क्राचे के सहज ज्ञान का एक मात्र लक्षण अभिव्यक्ति हैं। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती वह क्रोचे के अनुसार सवदेन या और कुछ हो सकता है। लेकिन सहज ज्ञान नहीं। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्रियों में क्राचे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिनके अनुसार सफल अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य है।

दूसरे पाश्चात्य विचारक हीगल का सौन्दर्य विवेचन प्रत्यय जगत पर निर्भर है। इसके अनुसार दृश्यमान जगत आभाप मात्रा ह। अतः यह प्रत्यय का ही विकास का मूल तत्व और शक्ति मानते हैं। हीगेल की ही यह विचार धारा पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्रा में हीगेलियन भय नाम से प्रसिद्व है। मूल प्रत्यय अपने को तीन अवस्था में विभक्त करते हैं। मद प्रतिवाद और ममन्वय। इन तीन अवस्थाओं के व्यक्तीकरण का तीन धरातल हैं। तर्क प्रकृति और मन। इन तीन धरातलों पर क्रमशः सूच्छमता से तर से तक की ओर बढ़ता है। मन तक पहुंचकर प्रत्यय पुनः तीन अवस्थाओं में प्रकट होता है। सब्जेक्टिव, आवजेक्टिव और आक्स्योलूट। जब प्रत्यय अन्तिम अवस्थाओं में प्रकट होता है। साब्जेक्टिव, आवजेक्टिव और आक्सयोल्यूट। जब प्रत्यय अन्तिम अवस्था एक्स्पोल्यूट में पहुंचता है। तभी उच्च स्तरीय कला की सृष्टि होती है। भारतीय विचारक भी सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के कथन द्वारा इसी धारणा की पुष्टि करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि सौन्दर्य मानव विरचित सहजानुभूति से सम्पन्न संवदेनापूर्ण समान्वयात्मक और सत्य शिव से सम्पृक्त होता है। समन्वय या समाजस्य के आधार पर कुछ ठोस विचार किया जा सकता है।

सामांजस्य और सामंजस्य के परे अन्तर सम्बन्ध :

कभी-कभी यह दृष्टिगत होता है कि सुन्दर वस्तु के कतिपय गुण आर्कषक मालूम पड़ते हैं। लेकिन यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो यह बात बहुत ऊपरी सिद्ध होती है। उदाहरण के लिये यदि किसी पुष्प का लाल रंग आर्कषक है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु मात्रा लाल रंग के कारण सुन्दर दिखलाई पड़ती है। क्योंकि उस प्रकार का लाल रंग अन्यत्रा असुन्दर पदार्थ में भी देखा जा सकता है। इसी प्रकार उस पुष्प की पखुडी मात्रा का सुन्दर नही कह सकते। उसके आकार मात्रा को सुन्दर नहीं कह सकते। या उसके अन्य विभिन्न अवयवों के अलग रूप को सुन्दर नहीं कह सकते। अपितु ये सभी गुण अनेक परिप्रेक्षों के भीतर होने से ही आकर्षक प्रतीत होते हैं। पुष्प के सभी आर्कषक अवयव मिलकर हमारे चित्त में एक प्रकार का आनन्दोद्रेक उत्पन्न करते है। उस आनन्द के प्रकटी करण के लिये हम उसे सुन्दर की संज्ञा प्रदान करते है। व्यवहार में किसी वस्तु को सुन्दर कहते समय हमारी दृष्टि के समक्ष उसका सन्तुलन, आकार, रुप विकासावस्था विभिन्न अवयवों के मध्य छूटी हुई जगह प्रकाश, रंग, खिचाव और अभिव्यक्ति जैसी चीजें आती है। इन्हीं के आनुपातिक सामाजस्य सन्तुलन के दर्शक चित्त में आल्हाद उत्पन्न होता है। जब यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कौन सी बात दर्शक को विशेष रुप से आकृष्ट कर रही है। कभी-कभी दर्शक को विशेष रुप से आकृष्ट करती है। कभी-कभी दर्शक आश्चर्य चकित भी हो उठता है।

आधुनिक मनौवैज्ञानिकों ने तो परीक्षण करके सिद्ध कर दिया है कि किसी वस्तु की समग्रता का बोध उसके समस्त अवयवों के बोध के योग्य नहीं है। वह उनसे भिन्न और विशिष्ट वस्तु है। वान इर्नफील ने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है। कि वस्तु की समग्रता का बोध अवयव बोध का समुच्चय नहीं है। मनोविज्ञान

के इस सिद्वान्त का नाम गेस्टाल्ट सिद्वान्त है। अपने पूर्ण रुप में यही सिद्वान्त कलागत सौन्दर्य पर भी लागू होता है। वस्तुत: हमारे Âदय का वह आनन्द ही सौन्दर्य है। जो किसी वस्तु के साक्षात दर्शन पर उसके ध्यान से उद्‌बुद्व होकर हमें तन्मय कर देता है। और उस वस्तु पर पड़कर उसे सुन्दर तथा प्रिय बना देता है।

कवि पर कलाकार के शब्द चित्रा में जो सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। उसमें एक तरह की मंत्रामुग्धता होती है। क्योंकि कवि को पत्थर और छेनी पर रंग तथा तूलिका आदि की आवश्यकता नहीं होती वह इनके बदले केवल शब्दों का प्रयोग करता है। और वे शब्द ही सÂदय के चित्रापट पर ऐसे सौन्दर्य की रूप रेखायें खींच देते है। जिनमें वह अपनी रुचि तथा भावना का रग भरकर उसे पूर्ण कर लेता है। कवि के शब्द चित्रा में क्रिया तथा गति का प्रदर्शन भी किया जा सकता है। जो मूर्ति तथा रेखाचित्रा में सम्भव नहीं है। इसलिये कलाकार का शब्द चित्रा साक्षात्‌ न होता हुआ भी अधिक संजीव तथा अधिक रुचियों के अनुकूल होता है। इस विषय में स्व0 मर्ढेकर ने लिखा है कि तर्व''ललित वाडत्राप की पहली महत्वपूर्ण कसौटी शब्द की है। वे शब्द चाहें चूहां द्वारा प्रयुक्त हों अथवा राणा भीमदेव द्वारा, हमारे सामने पहले शब्द होने चाहिए जिससे अर्थ की उत्पत्ति हो। इस प्रकार के वे शब्द वाड्‌मय के परमाणु अथवा एटमस होते है। शब्दों के इन परमाणुओं पर ही ललित वाड्‌मय की श्रष्टि आधारित होती है। इन्हीं शब्दों में से वाक्य निर्मित होता है। वाक्य का अर्थ है। शब्दों के अनुभवों के आकारों को एक विशिष्ट स्वरुप में बांधकर तैयार किया गया पद्‌मबन्ध।

प्रस्तुत पद्‌मवध यदि साम्य विरोध, समतोल लयनिष्ठ है तो उसे वाड्‌ययीन कलात्मक सौन्दर्य के रुप में सम्बोधित किया जा सकता है। श्री मर्ढेकर द्वारा प्रयुक्त तीन शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। शब्द, अर्थ और शब्दों में संघटित अनुभव।

विभिन्न शब्दों अर्थातिरिक्त शब्दों को एकल गुम्फित कर यदि हम उसमें से एक आकार एक शरीर उत्पन्न कर सकें और इस प्रकार के शरीर के लिये या अवयवी के लिए वह सुन्दर है। इस प्रकार का हम विधान कर सकें तो वह भी एक कलागत सौन्दर्य होगा। शब्दालंकारगत यमक, अनुप्रास आदि की सहायता और भी सोने में सुगन्ध सी बन जायेगी।

सोन्दर्य चित्राण में अलकारों का भी विशेष महत्व है। बहुधा यह देखा जाता है कि भाषा सब समय भावमूर्ति को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती। इसी सामर्थ्य के अन्तराल को कलाकार, उपमा, रूपक आदि अलकारों से भरता है। सब समय ये भी क्रियाशील नहीं रह पाते। तब कलाकार, अप्रस्तुत आदि रुप विधाओं का आश्रय ग्रहण करता है। इसमें वह जो नहीं है। उसके द्वारा जो है उसे बताने का प्रयत्न करता है।

जिस प्रकार शब्दों से शब्द का पद्मबन्ध निर्मित किया जा सकता है। उसी प्रकार शब्दों से अर्थ का पद्मबध भी तैयार किया जा सकता है। काव्य के चित्र गुणीभूत व्यंग, और ध्वनि आदि की नियोजन इसके अन्तर्गत की जाती है।

शब्द के माध्यम से कलाकार अपने अनुभव को पुनः सदस्यता पूर्वक उद्घाटित कर सददय संबंध बनाता है। और इस विषय में सदस्य को जितनी ही अधिक सददयता होगी उतनी ही अधिक मात्राा में वह इन शब्द पंक्तियों में अनुभव को साकार कर सकेगा। यह माभावनायुक्त अनुभव कलात्मक सौन्दर्य के लिये नितान्त आवश्यक है। अनुभव और अर्थ काव्य के लिये आवश्यक होने पर भी वे शब्दों से अभिन्न होने चाहिए।

कला का अतिरके और सौन्दर्य में अन्तर सम्बन्ध :

कला सौन्दर्य की भाषा है और विशिष्ट प्रतिमाये कला की भाषा है। इन प्रतिमाओं से ही सर्वप्रथम कला की, तत्पश्चात् सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और

अनुभूति होती है। कला सम्पन्न कार्य प्रस्तुत प्रतिमा निर्माण सामर्थता है। कला और कल्पना में एक बहुत बड़ा साम्य है। यहां तक की कला कल्पना से उद्भूत होती है। जो पहले सेअस्तित्व में है। उसका अनुसंधान कला नहीं करती। मानसिक कल्पना के समान कला भी कुछ न कुछ नव निर्माण करती है। कला के लिये जनक की आवश्यकता होती है। और उसकी कल्पना से ही कला का जन्म होता है। सत्यजगत के परमाणुओं का सृजन के नगों में जड़ना ही वास्तविक कला है। लेकिन प्रश्न उठता है कि इन्हें जड़ा कैसे जाय। सत्य जगत की परमाणुओं की कल्पना को या सृजनात्मकता को किसी न किसी पद्यति से वस्तुनिष्ठ करना ही कला का वास्तविक प्रयोजन है। प्रत्येक कलाकार अपनी-अपनी कला के लिये इस प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण करता रहता है। इस प्रतिमा से ही कला का और कला में सौन्दर्य का दर्शन होता है।

अनुभूति + अभिव्यक्ति - कला

प्रत्येक वाडमय में अनुभूति या अनुभूतियों का संचय अभिव्यक्ति होता है। अपने रमणीक रूप में यही कला है। यही सौन्दर्य का मूल है। इसका स्वरूप विशेषता भावात्मक होता है। लेखक की अनुभूति और पाठक की अनुभूति की एकता का नाम ही ललित रचना है। इससे अभिप्राय निकला कि साहित्यिक या सौन्दर्यकन में अभिव्यक्ति पधति ओर अभिव्यक्ति आशय में अधिक से अधिक परस्पर सुसम्बद्वता आवश्यक है। तथा अभिव्यक्ति पद्यति और आशय में यथा सम्भव घनिष्ट सम्बन्ध होने पर ही कृति में सौन्दर्य का अवतरण होता है।

किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति में मूलत: एक क्रेन्द्रीय भावना होती है। इसका आश्रय ग्रहण कर दूसरी सहायक भावनाएं मूल भावना का कभी अतिक्रमण करती हुई तो कभी समनान्तर रूपसे चलती रहती है। इस प्रकार के भावना निलय से ही कलाकृति का निर्माण होता है। इस भावनात्मक लयों की संवाय विरोध

और समतालता रुप नियमानुकूल अभिव्यक्ति में साहित्यिक रचना के साहित्य और वास्तविक कलात्मकता का रुप निहित है।

जिस तरह मधुमक्खियां फूलों से रस ग्रहण कर उसे अपने मुख में उसके बाद उसे शहद का रुप प्रदान करती हैं। उसी प्रकार कलाकार भी किसी नैसर्गिक वस्तु या ज्ञान को अपने अनुभव का पुट देकर उसकी रमणीय अभिव्यक्ति करता है। तब सचमुच वह कलात्मक सौन्दर्य प्रकृति की वस्तु न रहकर उसके अनुभव की वस्तु बन जाती है। कलाकार का यह अनुभव इस सदृश्य होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इस अह सापेक्ष अनुभव को साकार करने की अथवा जहा निरपेक्ष करने की क्रिया में कला की अभिव्यक्ति होती है। ऐसा होने पर हम यही कहते हैं कि कलाकार ने उसमें प्राण डाल दिए हैं। सृष्टि का अनुभव करने की यह प्रक्रिया इस प्रक्रिया की अपेक्षा निर्माण की प्रक्रिया के अधिक निकट है। भावनामयी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति कला कैथलिस का आवश्यक व्यापार है।

काव्य और कला :

काव्य का स्वरूप इतना व्यापक और जटिल है कि इसे किसी एक परिभाषा या लक्षण से आवद्व नहीं किया जा सकता। काव्य शब्द 'कब' धातु से बना है। संस्कृत के विद्वानों ने 'कवनीयम काव्यम' कहकर काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा हमें अग्निपुराण में दृष्टिगत होती है। अग्नि पुराण में काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है।

संक्षेपाद्वाम्ययिष्टर्थ व्यवच्छिभाः पदावली।
काव्यं स्कुरदलंकारं गुण वद्वोष वर्णितक्।।

अर्थात् संक्षेप में इस अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है। जिसमें अलंकार प्रकट हो, और जो दोष रहित एवं गुणयुक्त

हो। प्रस्तुत परिभाषा से पांच बातों का निर्देश होता है। अर्थात् इष्टार्थ वाक्य, अलंकार गुण व दोष। इस परिभाषा निर्देशित के तत्वों से काव्य के कुछ गुण उभर पाते हैं। शेष नहीं।

अग्नि पुराण के पश्चात आचार्य भाभाह की काव्य परिभाषा भी अनुकरणीय एवं श्लाघ्र है। उसका कथन है। "शब्दार्थो सहितौ काव्यम" अर्थात् शब्द अर्थ का संयोग ही काव्य है।

काव्य स्वरूप का विवेचन यदि काव्य के अतरंग या वहिरग पक्ष को दृष्टि में रखकर निरूपित किया जाय तो सर्वोत्तम होगा। काव्य के अतरंग या वहिरंग तथ्य काव्य के देहवादी और आत्मवादी दो विचार धाराओं को प्राश्रय देते है। इस प्रकार अलंकार, रीति, वक्रोन्ति आदि को देहवादी या वस्तुवादी और ध्वनिवादी तथा औचित्य आदि को आत्मवादी कहा जा सकता है। महाकवि दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "शरीर तावदिर्ष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" अर्थात् उक्त अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली तो शरीर मात्रा है। प्रस्तुत मत का समर्थन ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी किया है। "शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यक" अर्थात् काव्य तो शब्दर्थ के शरीर वाला है। उसकी आत्मा या वास्तविक तत्व इससे भिन्न कुछ अन्य ही है। प्रस्तुत मनतव्यों से ध्वनित होता है कि काव्य पुरूष के दो मुख्य भाग है। 1-देह 2 आत्मा

देहवादी या वस्तुवादी आचार्य काव्य के वाह्य पक्ष के सौन्दर्य पर बल देते है। भाव कीअपेक्षा न करके उसे गौड मानते है। कथन की चारूता को ही वे काव्य मानते है। कत्य जिसमें भाव और विचार दोनों अर्न्तभूत है। कथन की चारूता का ही उगेया उपकरण है। देहवादी विचारधारा में अलंकार सर्वोपरि है। इनका मनतव्य है कि अलंकार है काव्य शोभा के कारण है। अर्थात् काव्य का समस्त सौन्दर्य अलंकाराश्रित है। कवित्त अलंकार में निहित है। काव्यादर्थ में दण्डी

ने लिखा है "काव्य शोभाकरान धर्मान अलंकारान धर्मान् अलंकारन पयक्षेत। इस प्रकार काव्य को शोभा प्रदान करने वाले धर्म अलंकार हुए वामन की काव्यालंकार वृत्ति में अलंकार की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यहां अलंकार दो रुपों में प्रयुक्त है। प्रथम काव्य के समस्त सौन्दर्य के रुप में दूसरे इसी सौन्दर्य के एक उपकरण के रुप में ।

काव्यम् ग्राहकालंकारात। सौन्दर्य अलंकार:।।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य यामाह के अलंकार को काव्य के एक उपकरण के रुप में स्वीकार करते हुए कहा है। कि अलंकार काव्य का एक आवश्यक तत्व है। प्रस्तुत रुपक आदि अलंकार काव्य में इस प्रकार आवश्यक है। जिस प्रकार किसी नारी के सुन्दर मुख की शोभा के लिए आभूषण-

रुपकादिरलकारस्तथान्यैं बहुधोदित:।

न कान्तमपि निर्भूप विकाति वनिता मुखम।।

गुण रस ध्वनि प्रबन्ध काव्य आदि को ये अलंकारवादी, आचार्य विशेषत: दण्डी अलंकार नाम से अभिहित करते है। अत: इनके मत में केवल अनुप्रास उपमा आदि ही अलंकार नहीं है। बल्कि काव्य में वे सभी तत्व अथवा अंग अलंकार कहलाते है। जो काव्य के चमत्कारोत्पादक अथवा सौन्दर्य विधायक है।

निर्ष्कषत: अलंकारवादियों को अलंकार का व्यापक अर्थ अभीष्ट है। दण्डी के शब्दों में काव्य शोभाकार धर्म और वामन के शब्दों में सभी प्रकार का सौन्दर्य अलंकार है। अत: अलंकार व्यापक अर्थ का द्योतक है। समुचित अर्थ का नहीं अर्थात् अलंकार काव्य चमत्कारोत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है। केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नही।

देहवादी या वस्तुवादी विचारधारा का दूसरा रूप रीति है। रीति सिद्वान्त के प्रर्वतक आचार्य वामन का मत है। कि "विशिष्ट पद रचना रीति विशेषोगुणात्मा"

अर्थात् विशिष्ट पद रचना रीति है। उसमें यह विशेषता गुणों के कारण आती है। इसी सूत्रा से रीति और गुण में उभेद भी माना गया है। पद सघटना रीति अंग सस्थान के समान है। रीति शब्द और अर्थ के रचना चमत्कार का नाम है। रीति के शब्दार्थ से ही ध्वनित है। कि वह विधि मात्रा है। तत्व नहीं क्योंकि विधि काव्य क्रिया का मूलाधार होती है। रमणीय शब्द विचार से अर्थ भी रमणीय हो उठता है। रीति सिद्वान्त अलंकार वादियों की अपेक्षा काव्य के वाह्य रूप को कहीं अधिक चमत्कत करने के पक्ष में है। वक्रोत्ति को कुन्तक ने काव्य का जीवित स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ को वक्रोन्ति जीवित नाम से अभिहित किया। विचिम्र नामक मार्ग के प्रसंग में वक्रोन्ति के वैचित्य को जीवित शब्द से संकेत किया:

विचित्रों पत्रा वक्रोन्ति वैचिभ्यं जीवितायते।

परिस्फुरन्ति पास्परत: सा काव्यविश्यामिधा।।1

कुन्तक ने स्वीकार किया है। कि सालंकारस्य काव्यता और वक्रोन्ति काव्य जीवितम् अर्थात् अलंकार रुपिणी वक्रोन्ति ही काव्य का प्राण है। वक्रोन्ति कहते हैं वैदग्ध भगी मणिति को: वक्रोन्तिरेवयम वैदग्धमभंगी मणिति रूच्यते। अर्थात् कतिकर्म कौशल से उत्पन्न वैचित्वपूर्ण कथन वक्रोन्ति है। दूसरे शब्दों में जो काव्य तत्व किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे उसका नाम वक्रोन्ति है। आगे लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्यपूर्ण वक्रोन्ति है। सिद्व से इसका तात्पर्य यह है कि लोकर्वाता से या लौकिक सामान्य वचनसे विशिष्ट कथन वक्रोन्ति के अर्न्तगत आता है। काव्य की प्राण चेतना वक्रोन्ति है। वक्रोन्ति तत्व भामाह आदि के अलंकार तत्व और वामन की रीति तत्व इन दोनों की तुलना में कहीं अधिक निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यो की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वक्रोन्ति के मदोप भेदों में प्राय: सभी स्वीकृति काव्य तत्वों की समाहिति विद्यमान है। अलंकार

के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण इस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण समाद और ध्वनि तथा इसके भेदपभेदों की प्रकान्तार से स्वीकृति, वे सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक है। कि वक्रोन्ति सिद्वान्त की यह वाह्य परकता देहवादी या वस्तुवादी काव्यता अलंकार सिद्वान्त और रस सिद्वान्त की वाह्य परक करमान्यताओं की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है।

आत्मवादी सम्प्रदायों का तो रस सिद्वान्त के साथ प्रत्यक्ष एव घनिष्ट सम्बन्ध है। एक प्रकार से ध्वकि और औचित्य की कल्पना रस के आधार पर ही की गयी है।

ध्वकि सिद्वान्त के महान आचार्य आनन्दर्वधन ने ध्वनि को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए कहा है कि उनसे पूर्व भी विद्वानों ने ध्वकि को काव्यात्मा की मान्यता स्वीकृत की थी· –काव्यारचात्मा ध्वनि रिति वुधैर्य: समाम्नात पूर्व:। ध्वकि उस प्रतीपमान अथवा व्यंग्य अर्थ को कहते है। जिसे अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौड़ बनाकर अभिव्यक्ति करते है।

पत्रार्थ: शब्दौ वा तर्मथ कुपसर्जनीकृत स्वार्थो।

व्यपकत: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सुरभि कथित:।

आनन्दर्वधन ने अलंकार को आर्कषक मानते हुए तथा रीति को एक संघटन मानते हुए ध्वकि को ही काव्यात्मा के रूप में सर्मथन किया है। ध्वनि नितान्त ही आन्तरिक काव्य तत्व है। इसे ही काव्यात्मा कहा जा सकता है। जिसके लिये उनका प्रबल तर्क है कि

प्रतपि मानं पुनस्यदेव वस्तवस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

पत्पत् पसिद्वपवयवातिरिम्तं विभातिलावण्य भिवागंनोसु।

मुख्य महाकविगिरायलंकृति मृताकापि।

प्रतीप मानच्छापैया भूषालज्जेव पोषिताम।

नि:संहेद यही प्रतीपमान अर्थ ही अलंकार और रीति जैसे आन्तरिक तत्वसे सम्मानित किये जाने का अधिकारी है। आनन्दर्वधन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य सौन्दर्य में ध्वनितत्व प्रमुख गौड़ अथवा रूपों में से किसी न किसी रुप में अविवार्पत विद्यमान रहता है। यह धारणा भी ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने की पुष्टि करती है। आनन्दर्वधन और उनके अनुकरण में मम्मट तथा विश्वनाथ के अलंकार गुण रीति और यहाँ तक कि दोष का स्वरूप भी ध्वनि सर्वोत्कृष्ट भेद 'रस' पट निर्धारित किया है। औचित्य रस सिद्वस्य स्थिर काव्यस्य जीवितत्रा, औचित्व को रस सिद्व काव्य की आत्मा स्वीकार कर आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा हैकि जो जिनके अनुरूप होता है। आचार्य लोग उसे उचित कहते है। और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है।

उचितं प्रादुराचार्य : सदृसं किलपस्पयत।

उचितस्य चयो भावस्त दो चित्यं प्रचक्षते।।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है जैसे त्याग की भावना से युक्त ऐश्वर्य तथा शील से समुज्जल शास्त्रा सज्जनों के समान होते है। वैसे ही औचित्य से युक्त वाक्य सदस्यों के अभीष्ट होते हैं।

औचित्य रचितं वाक्यं सततं सम्भवं सताम।

त्यागोद्रगभिवैश्वर्य शीलोज्चल भिवशुतम्।।

रस प्रवाह में यदि कोई वस्तु बाधक है तो वह अनौचित्य ही हो सकता है रस का निर्झर प्रवाह औचित्य पर ही आधारित है। क्या पद्य क्या गद्य सभी प्रकार की कवि रचना का प्राण औचित्य है। अत: औचित्य ही काव्य में वह परम तत्व है जो रस अलंकार आदि को चमत्कारक बनाता है। अत: औचित्य ही काव्य में प्रधान पर उसकी आत्मा है।

काव्य शास्त्रा में रस को बहुत ही आदरकी दृष्टि से देखा गया है। भारत को रस तत्व का प्रवर्तक समझा जाता है। कतिपय काव्य तत्वों अलंकार गुण दोष के रस संश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है।

एवमेतत्यालंकारा: गुण: दोषाश्य कीर्तिता।

प्रयोगमेषां चं पुन: वक्ष्याकि रस संभ्रपम।।

अलंकार वादी आचार्य भामाह दण्डी, उद्‌भट ने रस भाव आदि को रस वद्ध आदि अलंकार से अभिहित किया तथा इनके द्वारा रस को यथोचित सम्मान प्राप्त हुआ भामाह और दण्डी ने रस को महाकाव्य का एक आवश्यक तत्व माना है।

युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्व सकलै: प्रथक। क0आ।

अलंमृतक संक्षिप्तं रस भावनिस्तरम। क0द0

भामाह के अनुसार कटु औषधि के समान कोई शास्त्रा चर्चा भी रस के संयोग से मधुर बन जाती है। दण्डी का माधुर्यगुण रसवत ही है। तथा इसकी यह रसवक्ता मधुपों के समान सदस्यों को प्रटन्त बना देती है। रुद्रमत्त ने भी रस को मुक्त कन्ठ से स्वीकार किया है। भामाह दण्डी की तरह इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिये अनिवार्य माना है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनिकाएकभेद-असंलक्षण क्रम व्यंग ध्वनि नामसे स्वीकृति करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रुप घोषित किया है। आनन्दवर्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रायोजन निर्दिष्ट किया है। कुन्तक ने भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक माना है। प्राय: रस के प्रति सबका भाव आदरणीय था इसलिये इसे आगे काव्यात्मा के रुप में स्वीकार कर लिया गया। ''वाग्वैदग्ध्य प्रधानद्रपि रसएवाम जीवित्'' अर्थात् काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता रहती है किन्तु

उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने रस को सर्वसम्मति से काव्य की आत्मा स्वीकृत करनेका निर्देश दिया। ''काव्य स्वात्मनि संगिनि.......... रसादिमेय न कस्यचिद विभातिः।'' सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ ने अपना काव्य लक्षण इसी मान्यता पर प्रस्तुत किया-''वाक्यं रसात्मकं काव्यम।।

इस प्रकार हम देखते है कि सर्वप्रथम रस के प्रति समादर का भाव प्रकट किया पुनः रस के साथ अन्य काव्य तत्वों को सम्बद्ध किया गया और अन्ततः उसे आत्मा रुप में उद्घोषित किया गया। इन सबका एक मात्रा कारण है रस। जो अन्य काव्य तत्वों की अपेक्षा यह कहीं अधिक आन्तरिक तत्व है। आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के देहवादी और आत्मवादी विचार धाराओं को समेटे हुए कहा है कि ''काव्यस्य शब्दार्थो शरीर''। रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यार्दिवत, दोष काणत्वादिवत् रीतयोउपयव संस्थांन विशेषगत अलंकाराः कटककुण्डलदिवत्। अर्थात् काव्य का शरीर शब्दर्थ है। आत्मा रस आदि शौयादि गुण है। रुानायन दोष है। अवयव संस्थान रीति है करुण कुण्डल अलंकार है।

अंग्रेजी काव्य स्वरूप में कला और साहित्य का अन्तर : संस्कृत और हिन्दी विचारकों के काव्य लक्षण को समझ लेने के उपरान्त पाश्चात्य काव्य स्वरूप की धारणाओं को संभाल लेना भी अपेक्षित है। ''इन्साइकलो पीडिया विद्वानिकों में लिखा है कि पोपट्री आर्ट, वर्क आफ किपोपर' अर्थात् कवि का कार्यकला काव्य है। प्रस्तुत लक्षण कवि की मध्यस्थता से गतिशील होता है। अतः यह परिभाषा उचित और स्पष्ट नहीं है। अंग्रेजी के प्रसिद्व कवि वर्द्र, सर्वथ का विचार है। कविता प्रबल 'अनुभूति का सहज उद्रेक है। जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।'' प्रस्तुत परिभाषा भावानुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के कारण कुछ तथ्य पूर्ण अवश्य है साथ ही व्यापक और दुरूह भी ।

प्रसिद्ध कवि ड्राण्टन ने कविता को सुस्पष्ट संगीत कहा है। (प्रोपट्री इच आटो कुलेट म्यूजिक) प्रस्तुत परिभाषा सर्वमान्य और व्यापक नहीं है। क्योंकि संगीत मात्रा कविता का एक पक्ष है। परन्तु संगीत तत्व काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। संगीत में श्रवण शक्ति अधिक है। जबकि कविता का आनन्द अध्ययन पठन और मनन से भी हो सकता है। अतः यह परिभाषा भी उपर्युक्त नहीं।

कवि शैली ने काव्य स्वरूप पर दृष्टिपात करते समय लिखा है ''सर्वमुखी और सर्वोत्तम मनो के सर्वोत्तम और सर्व सुखपूर्ण क्षणों का लेखा कविता है। प्रस्तुत परिभाषा में सबसे सुखी और उत्तम मन की स्थिति संदेहास्पद है। इसी तरह सर्वोत्तम और सबसे सुखी क्षण भी किसी मापदण्ड के अन्तरगत नहीं है। अतः यह परिभाषा भावुकतापूर्ण ही अधिक है। इसलिये एकांगी है।

मैथ्यू आरनालु ने कहा है कि ''कविता अपने मूलरूप में जीवन की आलोचना है'' प्रस्तुत परिभाषा उत्तम काव्य लक्षणों को संजोये हुए भी संकीर्ण अधिक है। अधिकांश पाश्चात्य विचारकों ने काव्य को कला के रूप में ही देखा है। यहां कला मात्रा चमत्कारिक अर्थो में ही नहीं अपितु व्यापक अर्थो में व्यहत हुई है। इसी धारणा से युक्त परिभाषा अंग्रेजी के चेम्बर कोष में भी दी गयी है। ''कल्पना और अनुभूति सेउत्पन्न विचारों को मधुर शब्द से अभिव्यक्ति करने की कला कविता है'' Poetry is the art of expersing in melodious wordy. Thoughts which are the creations of imagination and feelings प्रस्तुत परिभाषा के काव्य में प्रायः समस्त तत्व समाहित है। इसमें अभिव्यंजना कौशल कल्पना, अनुभूंति और विचारतत्व पूर्णरूपेण विद्यमान है। इस परिभाषा में मात्रा एक दोष अभिव्यक्ति का है। काव्य की अभिव्यक्ति सदैव मधुर शब्दों में ही नहीं होती, काव्य में परूषाकृति भी आवश्यक है क्योंकि इससे भय आदि के भाव प्रकट होते हैं।

प्रस्तुत परिभाषाओं में सार्वभौम तत्व कल्पना और अनुभूति से ग्रहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति को काव्य कहें तो प्रायः समीचीन एवं व्यापक होगा।

इन सभी परिभाषाओं से निष्कर्ष निकलता हैकि काव्य में शब्द अर्थ, सत्य, आनन्द, रमणीयता, कल्पना, विचार, अनुभूति, अभिव्यक्ति, कला, रस गुण अलंकार आदि तत्व समाहित है। जिसमें शब्द अर्थ अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भाषा से है। रस, आनन्द, अनुभूति, रमणीयता आदि का सम्बन्ध भाव है। रमणीयता, कला, अभिव्यक्ति, कौशल आदि का सम्बन्ध कल्पना से है। इन सबका संगठन कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित करना बुद्धि और विचार का कार्य है। सत्य इन सभी उपकरणों में व्याप्त है। अतः काव्य में असत्य की नहीं अपितु सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है। सर्व तो भावने सत्य ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित होती है।

अतः शब्द, अर्थ, भाव और विचार तत्व के समुचित सन्निवेश से ही काव्य का वास्तविक स्वरूप खड़ा होता है।

पाश्चात्य विचारकों ने काव्य की गणना कला के अन्तरगत ही की है। अरस्तू जैसे महाननीषी ने भी काव्य को एक कला माना है। जिसका मूल तत्व अनुकरण है। जिसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। पी0 सिडनी ने भी कहा है कि रुपात्मक दृष्टि से काव्यएक अनुकरणात्मक कला है एक सवाक चित्रा है। जिसका उद्देश्य शिक्षण एवं आनन्द है। प्रस्तुत मत का समर्थन करते हुए जॉनसन ने भी लिखा है। कि विवेक एवं कल्पना के योग से सत्य और आनन्द को संयुक्त करने की कला काव्य है ।

पश्चिम के कुछ विचारकों ने कला को काव्य की तुलना में उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। इस विचारधारा के अनुसार धार्मिक मान्यताएं दर्शनशास्त्रा एवं

नीति आदि सभी कुछ स्तर की दृष्टि से निम्न श्रेणी में गिनी जाती है। ऐसी स्थिति में कला ही मानव के लिये आत्मदर्शन का एक मात्रा सुव्यवस्थित एवं प्रशस्त पथ है। क्योंकि दर्शन ईश्वर की कल्पना ही करता है। कला ईश्वर स्वयं हे। प्रेदरिक ने कलाको अनन्त और अपनी मेष कहा है। कला वास्तव में वन्धनों से मुक्त उस आत्मा के समान है जो अनन्त ब्राम्हाण्ड् में मुक्त हो विचरण करती है।

19वीं शताब्दी के पूर्वाध में यूरोपीय काव्य और कला की जो व्यवस्था थी उसी की प्रतिक्रिया में एक नवीन विचारधारा की उत्पत्ति हुई। इस नवीन विचारधारा की प्रमुख स्थापना यह थी कि काव्य और कला अपनी पृथक और स्वतंत्रा सत्ता रखती है। मानव मन में सौन्दर्य भावना का अस्तित्व एक निर्विवाद सत्य है। और उसी की परितुष्टि के लिये कला का सर्जन होता है। अतः कला वाह्य नियमबद्व नहीं है।

भारतीय परम्परा में काव्य कला से ऊंचे स्थान का अधिकारी रहा है। शास्त्रों में 'कला' उपविद्या के रूप में मानी गयी है। और काव्यविद्या के रूप में क्योंकि कलाएं क्रियात्मक है। और काव्य ज्ञानात्मक है। शुक्राचार्य ने 'शुकनीति' में विद्याओं को उक्ति प्रधान और कलाओं को क्रिया प्रधान माना है। कारण विद्या को सदैव वाणी की आवश्यकता पड़ती है किन्तु कला की सर्जता गूंगे भी कर सकते है।

इसलिये काव्य शास्त्रा शब्दों के माध्यम से मात्रा निर्मित काव्य का विवेचन विश्लेषण करता है। कला में चित्रा, संगीत आदि सभी का समावेश है। राजशेखर ने भी काव्य का साहित्य को विद्या और कलाओं को उपविद्या माना है। इतना होने पर भी काव्य और कला में एक अन्तः सम्बन्ध है। क्योंकि कलाओं के सन्निवेष से ही काव्य को जीवन मिलता है। आचार्य वामन ने भी 'काव्यालंकार

सूत्रा वृत्ति' में काव्य उत्कर्ष के लिये कला को सहायक रूप में स्वीकार किया है। कुछ अन्य उक्तियों से काव्येतर कलाओं के साथ काव्य का अन्तर सम्बन्ध परिलक्षित होता है। भार्तृहरि का यह कथन कि "साहित्य संगीत कला विहीन:" भी इसी दृष्टिकोण का निर्देश करता है। दण्डी के दश कुमार चरित्रा के अष्टम उच्छवास की इस पंक्ति में -बुद्धिश्च निर्सपदवी कलासु नृत्यगीता दीषु चित्रोषु काव्य विस्तारेषु प्राप्त विस्तारा में काव्य कला का अन्त: सम्बन्ध ध्वनित होता है। भामाह ने सभी शिल्पों और कलाओं को समताप सिद्ध करते हुए घोषणा की है। कि न तच्छामं न सविद्या नतच्छिम्यं न स कला । जायते पन्न काव्याग्जाम ।

प्रस्तुत संस्कृत विवेचनाओं से स्पष्ट है कि इन मनीषियों ने काव्य और कला में एक महत्वपूर्ण अन्तर सम्बन्ध माना है। सामान्यतय: काव्य को कला का शब्द मय रूप माना जाता है। काव्य माया के माध्यम से भाव की अभिव्यक्ति है। काव्य कला का प्रकट रूप ह। और ललित कलाओं में यह सूक्ष्मता की दृष्टि से अन्तिम और सर्वगुण सम्पन्न मानी गयी है। यही साहित्य विद्या है जो कि भव्य और अर्थ के यथावत सहभाव से अपना कारोबार निर्मित करती हे। कला इस साहित्य विद्या की उपकर्मी है। वही अलंकारों के रूप में काव्य विषय का महत्वपूर्ण साधन बनती है। अलंकार आदि से शोभकत्व आदि विश्लेषण उसके इसी कला रूप को स्पष्ट करते है।

काव्य भावाश्रयी और कला रूपाश्रयी है। जिस प्रकार कला में प्राय: रूप की प्रधानता पायी जाती है। उसी प्रकार काव्य में प्राय: भाव कीप्रधानता पायी जाती है। साहित्य में रूप और भाव का उत्कृष्ट एवं मनोहारी साक्ष्य ही उसके चारुत्व एवं मंजुल रूप का परिचायक है। काव्य यदि सदस्य की अनुभूति है तो कला उस अनुभूति का वाह्याकार। काव्य यदि भावातिरेक है तो कला उसकी अभिव्यंजना और हर अभिव्यंजना रूप के आकार में बंधती है। तभी वह साकार

होकर पाठक को अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। जीवन का भाव तत्व काव्य को मर्मस्पशी बनाता है। और अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बनाती है। अत: जहाँ शब्द और अर्थ दोनों अपने आपको रसानुभूति के आधीन कर देते है। और अपने लय गति ताल और सोष्ठव आदि गुणों के द्वारा 'भव्यता' का निर्माण करते हे। वहाँ काव्य कला की भूमिका ग्रहण कर लेता है।

अत: स्पष्ट रूप से हम यह कह सकते हैं कि काव्य और कला एक ही सिक्के के दो पहलू है। दोनों का मान और मूल्य एक है। काव्य यदि सदस्य है तो कला उसका शरीर। काव्य मूक वाणी है तो कला उसकी भाषा। सभी के मूल में यह धारणा अवस्थित है कि काव्य भाव है और कला रूप।

काव्य में शब्द और अर्थ का सहितत्व समान रूप से इष्ट है। शब्द के अभाव में अर्थ का आश्रय नहीं, वैविध्य नहीं विशिष्टता पर निश्चितता नहीं है। शब्द की गति के बिना अर्थ की गति पंगु है। उसका नियमन नहीं है। आकार या स्वरूप से हीन है। इसलिये काव्य को शब्दार्थो से अवेष्ठित करते है। यही भवार्थो का अनूठा गठबन्धन ही काव्य की कला है। वास्तव में शब्द अर्थ के अनूठे गठबंधन से काव्य कला का पूर्ण चमत्कार निखर उठता है। शब्द अर्थ एक दूसरे की सौन्दर्य वृद्वि के सचेष्ट साधन है। इनका पारस्परिक मैत्रीकरण साहित्य को संजीवता, रसिकता और सरसता प्रदान करता है। एक दूसरे का समुचित विकास कलाकार की उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचायक होता है। जीवन की बिखरी अनुभूतियों को समेट कर जब कि उन्हें शब्द अर्थ के माध्यम से एक कलापूर्ण रूप देता है। तभी काव्य का जन्म होता है। कलापूर्ण अभिव्यक्ति पाठक के चित्त में उस मनोरम अनुभूति को जागृत कर देती है। जो कवि के चित्त में उत्पन्न हुई रहती है। अत: सृजनात्मक तथा रूप के सोन्दर्य से युक्त होने के कारण भी एक कला है। रूप और भाव का अतिशय काव्य और कला का

सामान्य लक्षण है। कला का शुद्व रूप केवल रूप का अतिशय है। किन्तु जीवन की अभिव्यक्ति कला के भाव के अतिशय का सहज समागम होता है। कला के क्षेत्रा में चित्राकला, नृत्य, संगीत आदि की अपेक्षा काव्य काविवेचन ही अधिक विस्तृत एवं उपलब्ध है। मस्तिष्क की समृद्ध सम्पत्ति का सूक्ष्म माध्यम होने के कारण काव्य कला का सबसे समृद्ध और सांस्कृतिक रूप है। अन्य कलाओं का उपयोग अर्जन में ही अधिक हुआ है। इसके विपरीत कविता जीवन के सस्कार निर्माण ओर विकास की प्ररणा देती रहती है।

हिन्दी आलोचकों में मात्रा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने काव्य को कला की सीमा में स्थान नहीं दिया है। उनको भय था कि काव्य को कला मान लेने पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में बेलबूटे और नक्काशी वाली हल्की धारणाएं बंध जायेगी। कविता मानव की इस दशा की अभिव्यक्ति और रस दशा सदस्य की उस मुक्तावस्था का नाम है जब सदस्य लौकिक बन्धनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है।अत: काव्य स्वत: आध्यात्मिक है। क्योंकि वह इस अध्यात्मिक मुक्तावस्था अथवा रसदशा की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है। काव्य कला इसलिये नहीं है। क्योंकि कला मानव कृति होने के कारण अनैसर्गिक और अन्तिम है। कला लौकिक है। और काव्य आध्यात्मिक। कला कौशल की सचेत अभिव्यक्ति है। और काव्य सदस्य की स्वाभाविक मुक्तावस्था का परिणाम। प्रस्तुत विचारधारा के बाद भी आचार्य शुक्ल ने काव्य को एक व्यापक कला मानते हुए लिखा है कि ''काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है जिस प्रकार मूर्त विधान के लिये वह संगीत का कुछ सहारा लेती है।'' अत: कवि काव्य और कला समानधर्मी है।काव्य की गणना कलान्तर्गत ही है।

प्रस्तुत विचारधाराओं से स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में सामान्यता कला का प्रयोग कौशल के ही अर्थ में हुआ है। अत: काव्य के रूप तत्व या शिल्प

में उसका समावेश हो जाता है। काव्य की अभिव्यक्ति साधारण अभिव्यक्ति की अपेक्षा कुछ विलक्षण एवं इतर होती है। जो मनुष्य की सौन्दर्य तृष्णा जो तृप्ति कर उसे आनन्द विभोर करती है। काव्यकला गतिशील कला है।

काव्य कला के निकटतम अधिक है दोनों सहोदर हैं एक ही वृक्ष के पुष्पित दो पुष्प हैं। काव्य और कला अपना-अपना अलग अस्तित्व रखते हुए भी य एक दूसरे से अनुस्यूत है। क्योंकि किसी भी श्रेष्ठ कला में काव्य के भाव उसमें प्राण फूकते हैं। और कोई भी काव्य ऐसा नहीं है जो कला के रूप में तत्व कौन ग्रहण करता हो शब्दों द्वारा भावों का मूर्तन काव्य में होता है। साहित्य में काव्य का उदय तभी होता है। जब कला अपने दृष्टिकोण के स्पर्श से उसे सुन्दर बनाती है। कला साहित्यिक तत्वों को सौन्दर्य प्रदान कर काव्य बना देती है। काव्य शब्दार्थमय है। शब्द की करामात कला काव्य में शब्दों काप्रयोग जिससे इन्द्रिय बोध जागृत होता है। ऐसा इन्द्रिय बोध जो गम्भीर अनुभूतियों की आत्मा के अन्त प्रदेशों से लाकर माने साक्षात्कार की वस्तु बना देती है। काव्य में यह कला का अंश है। कला अपने कौशल से अभ्यान्तरिक को वाह्य बना देती है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि काव्य के अगम्य भावों को रूप प्रदान करने का कार्य कला द्वारा ही संभव हैं। काव्य उसी रूप में अर्थ को ज्योति भर देती है। अतः काव्य और कला की अपनी विशेषताए होते हुए भी दोनों अन्योनाश्रित है। दोनों के संतुलित एवं मनोहर सामंजस्य में ही एक दूसरे का अस्तित्व निर्भर करता है।

कला, कला के लिये तथा साहित्य का अन्तर सम्बन्ध :

कला, कला के लिये वस्तुतः फ्रेंच शब्दावली पल आर्टसफार पलआर्ट का अनुवाद है। इसी को अंग्रेजी में आर्ट फार आर्ट्स सेक कहा गया है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब अरनोल्ड रस्किन आदि ने काव्यऔर कला के नैतिक

धार्मिक एवंप्रचारवादी दृष्टिकोण का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार प्रारम्भ किया उसी समय विशेषकर बोतले पर तथा फलादेवं आदि कला कि निर्बाध स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया ।कला की पुष्टता तथा पवित्राता के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। कला की पुष्टता तथा पवित्राता के लिय यह आवश्यक था कि उसकी स्वतंत्रा घोषणा की जाय क्योंकि धर्म समाज नैतिकता इत्यादि के जटिल बन्धन इनकी मर्यादा को कलुषित कर रहे थे। इस तरह कला, कला के लिये का सिद्वान्त स्वच्छन्दतावादी धारणाओं तथा समसामयिक दार्शनिक विचारों का पर्यवसान था। कला, कला के लिये का सिद्वान्त कला की पूर्ण स्वतंत्राता का समर्थक रहा है। इस मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि यह हे कि कवि या कलाकार कविता पर कलाकृति की रचना करते समय कोई प्रचारवादी या उपदेशात्मक दृष्टिकोण नहीं रखता बल्कि इन सबका मोह छोड़कर रचना करता है। किसी प्रयोजन एवं उद्देश्यों को दृष्टिकोण बना लेने से वह उसका विकास करने में अक्षम रहेगा। उसका प्रमुख उद्देश्य काव्य या कला की त्राृटि है। अत: उसकी दृष्टि कला के लिये होती है। कोई भी प्रयोजन उसे स्पर्श नहीं कर पाता। पाश्चात्य विद्वानों में कलावाद के प्रमुख समर्थक ब्रेडले कलाइवदेल, रोजर, फायड तथा जार्ज इनेल माने जाते हैं। ब्रेडले ने आक्सफोर्ड के अपने कविता विषयक व्याख्यान में कला, कला के लिये प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने कला को बाह्य संसर्ग से बिल्कुल मुक्त रखकर उसका अलग ही स्वतंत्रापूर्ण एवं स्वयं विधायक स्पष्ट माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला एक स्वतंत्रा सृष्टि है। कला सौन्दर्य और अभिव्यंजना अपने ही नियम से परिचालित होते है। कलावादियों के अनुसार कला मनोरंजन अथवा आनन्द प्रदान करने के लिये होती है। कला किसी प्रचार प्रसार या धार्मिक उद्देश्यों की भावना से बिल्कुल अछूती है। इसलिये कला का

उद्देश्य कला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार कलावादी तो सौन्दर्य वस्तुभूति के द्वारा आनन्द के चिन्मय पुजारी है।

कला का जीवन प्रकृतित: स्वच्छन्द रहने में ही अनुप्राणित है। कला देवी सरस्वती की स्तुति में आचार्य मम्मट ने भी उसे 'नियतिकृत' नियम रहिता कहा है। अर्थात वह पकति के नियमों से स्वतंत्रा होती है। महामनीषी क्रोचे काव्य प्रतिमा की स्वतंत्रा प्रकृति और उसके वैशिष्टय एवं उत्कृष्टता के कारण ही कला के वर्गीकरण करने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि कला या साहित्य को बन्धन अस्वीकार है।

वास्तव में कला तो कलाकार की वस्तु विशेष के सम्बन्ध में स्वानुभूति या अपनी धारणा की अभिव्यक्ति है। कला के द्वारा न उपदेश ही दिया जाता है। न प्रचार ही किया जाता है। कलाकार न तो किसी को भिक्षा ही देना चाहता है, न किसी को नीति का पाठ ही पढाना चाहता है। कलाकार तो मात्रा आत्माभिव्यक्ति भर कर देता है। उसकी अपनी अभिव्यक्ति को लोग किन-किन अर्थो में प्रयुक्त करते हैं। यह पाठक के ऊपर निर्भर करता है। कलाकार तो कला की रचनाकर निवृत्त हो जाता है। इस तरह कलावादी कला को भव्य, स्वर्गीय, असाधारण व दुर्गम वस्तु समझते है।और कलाकार को जनसाधारण से दूर स्थित करते है। सामाजिक व नैतिक भावोंको वे अस्वीकार करते है। कला सदस्य की वस्तु है। मन की नहीं उसका प्रयोजन सौन्दर्य से अधिक है। वस्तु से नही व्यापक अर्थो में कला एक चेष्टा या प्रयत्न है। जिसके द्वारा सौन्दर्य का निर्माण किया जाता है। कला का उद्देश्य सौन्दर्य सृष्टि है। सौन्दर्य श्रटि में सफल हो जाने के बाद कलाकार का कार्य पूरा हो जाता है। उनकी दृष्टि में कला सौन्दर्यपरनुभूति है। अर्थात् कला सौन्दर्य के लिये है। या कला, कला के लिए है। कला के सामने कोई बाह्य उद्देश्य नहीं रहता वह अपने आप पर या स्वयं में अपना उद्देश्य है।

जैस सौन्दर्य का अन्त सौन्दर्य में होता है। उसी प्रकार कला के सौन्दर्य का उद्देश्य भी कला के सौन्दर्य में ही है। उसे जीवन और जगत से भिलाना या उसमें पर्यवसित करना ठीक नहीं।

कला, कला के लिये का रूप बहुत पहले से था क्योंकि साहित्य में काई प्रवृत्ति एक निश्चित तिथि से नहीं प्रारम्भ होती है। परन्तु सन् 1835 ई0 में श्री गोदिये ने इसे एक बाद का रूप दे दिया था। इसलिये यदि गादिये की इस वाद का मूर्धन्य प्रणेता माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गोदिये के काव्य या कला को निष्प्रयोजन और नीति निरपेक्ष माना है। 18 वीं शती में यह मान्यता अधिक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली हो गयी कि कला के प्रयोजन को शिक्षा देना न मानकर आनन्द लेना ही माना जाने लगा। काव्य या कला में कल्पना और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की स्थापना भी 18 वीं शती की विशेषता मानी जाती रही है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में अग्रेज विद्वान वर्ड, वर्सथ ने यह घोषणा कि "**कवि केवल एक विवशता से काव्य सर्जना में प्रवृत्त होता है, वह है आनन्द देने की विवशता**"। इस प्रवृत्त एवं धारणा से अलग कला के लिये मानने वालों को पर्याप्त साहस व सहायता मिली जिससे इसका स्वरूप सुदृढ़ता ही होता चला गया।

काष्ट भी प्राय: इसी मत के पोषक रहे हैं। उन्होंने सौन्दर्यशास्त्रा में लिखा है कि कला, कला के लिये है। वह विरूद्देश्य होती है। क्योंकि कोई भी प्रयोजन कला को हीनता की तरफ ले जाता है।

वादलेपर का प्रबल समर्थन है। कि कविता का कोई उद्देश्य नहीं रहता यदि कविता या कलाकार ने अपनी कविता या कला के अतिरिक्त इतर उद्देश्य को चुना हो तो उसने अपनी कविता पर कला शक्ति का ह्रास ही किया है। और इस प्रकार उसकी कृति सर्वथा एक असफल कृति होगी।

पीटर भी कलावादी थे। उनके अनुसार भी कला, कला के लिये है इसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। कला साधन नहीं है। वह स्वयं साध्य है । इंग्लैंड के विद्वान आलोचक कल्टन व्राक ने कला, कला के लिये के पक्ष में कहा है। कि "यदि कला वस्तु मुझे अच्छी लगती है तो इसलिये कि वह सुन्दर है इसलिए नहीं कि वह सापसारिणी है। वह ऐसी वस्तु है जिसका ज्ञान केवल देखने से ही हो जाता है। उसके लिये किसी वाह्य आकार की आवश्यकता नहीं होती इसलिये कला का लक्ष्य सौन्दर्य है न कि वाह्य आकार।"

प्रसिद्व विद्वान ए0सी0 वेन्सन के शब्दों में, कला का वास्तविक अर्थ है। "वस्तु की आभासोनुभव शक्ति तथा उसके आन्तरिक गुण को विधिवत सभाल लेना और उसे अपनी मस्तिकीय कला द्वारा प्रदर्शित करना। इस प्रयत्न में उस कल्पना का प्रयुक्त होना आवश्यक है। जिसके द्वारा राई पर्वत बन जाये और अलाउद्दीन के देवों 7 मास की तरह रात भर में बड़ा सा महल तैयार हो जाये"। इस प्रकार सर्वोत्तम यह है कि कला सौन्दर्य माना जाये। कला, कला के लिये के सिद्वान्त से विचार और भाव प्रदर्शन की स्वतंत्राता मिलती है। वह अन्य किसी नियमों से आबद्व नहीं होता।

ब्रेडले के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी कला, कला के लिये के प्रोत्साहन में पर्याप्त साहस एवं प्रगति में पर्याप्त सहयोग दिया है। लेकिन कलावाद को ब्रेडले द्वारा ही अधिक पुष्ट एवं सर्मथ सहयोग प्राप्त हुआ है। ब्रेडले का कलावाद के सम्बन्ध में मत है कि "सौन्दर्यानुभूति स्वयं साध्य है और वह अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। इसके अन्तवर्ती मूल्य के द्वारा ही इसकी प्राप्ति का प्रयत्न होना चाहिए। इसका सांस्कृतिक चेतना, धर्म अथवा धनोपार्जन का भी साधन हो सकता ह। किन्तु इसे उसका बहिमूल्य समझना चाहिए। अत: उसके बहिमूल्य से उसके अन्तवर्ती मूल्य को आंका नही जा सकता। क्रिव्यनुभूति एक संतुष्ट दायक कलात्मक

द्वारा मात्रा आनन्द की प्राप्त होती है। कलावादी आनन्द को ही कला के मूल में रखते हैं। इससे इतर उसे कोई भी दृष्टिकोण स्पर्श नहीं कर पाता। यदि कलाकार का ध्यान किसी लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित हो जायेगा तब कला का महत्व या श्री ही नष्ट हो जायेगी। मानव आत्मा की वह स्वभाविक वृत्ति है कि वह पूर्ण सौन्दर्य के अन्वेषण में लीन रहती है। उसकी आन्तरिक भावना पूर्ण सौन्दर्य चाहती है। उच्च कोटि का कलाकार अपनी कल्पना के द्वारा अपनी अनुभृति को पूर्ण सौन्दर्य के अन्वेषण में लीन रहती है। उसकी आन्तरिक भावना पूर्ण सौन्दर्य चाहती है। उच्च कोटि का कलाकार अपनी कल्पना के द्वारा अपनी अनुभूति को पूर्ण और सुन्दर बनाता है। वह स्वयं भी इसी सृष्टि में आनन्द एव तृप्ति प्राप्त करता है यदि कला का उद्देश्य जीवन या समाज के किसी अग यापक्ष की विवेचना करना होगा। तो कला में सौन्दर्य व्यवस्था संचालित हो जायेगी। इसलिये कला सौन्दर्य बोध के लिये ही होती है। कलावादी यह मानते है कि अवान्तर रूप से कला में अन्य तत्वों की सार्थकता होती है। किन्तु इसके बहु अनिवार्य तत्व नहीं हो सकते, कलावादी कला को जीवन से विच्छिन्न या निरपेक्ष नहीं मानते हैं क्योंकि सौन्दर्यानुभूति ही कला का मुख्य उद्देश्य है। विषय और शिल्पकला के परिवेश में एक अखण्ड सौन्दर्य समष्टि के रूप में अनुस्यूत रहते हैं।

इस प्रकार कला और साहित्य में कलावाद की स्थित उपयोगितावाद के प्रतिलोभ में ही आभासित होती है। कलावादी कला के लोकोत्तर वस्तु मानता है। और कला जब आनन्द को अलौकिक अस्वाद युक्त और समाज निरपेक्ष मानने के पक्ष में है। सौन्दर्य की प्रतिभा कला स्वम् आनन्दमयी होती है। और कला में यही आनन्द अपेक्षित है। और कुछ नहीं कला, कला के लिये का यही अर्थ है। कि कला स्वतंत्रा सृष्टि है। इसमें कलाकार की तरफ से आंख हटाकर केवल उसकी कला वस्तु की परीक्षा की जाती है। और इस परीक्षा में व्यापक कला

तत्व ही सामने आता है। कला जगत के अपने मूल्य है। और उन्ही पर आधारित मानदण्डों द्वारा कलाकृतियों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

कलावाद स्वान्त: सुखाय की भावना को अपने स्वरूप परिवेश में सजोये हुए है। विषय को गौड़ स्थान प्रदान कर, अभिव्यक्ति सौन्दर्य को मुख्य या अभिकार्य माना गया है। सौन्दर्य की प्रबल अनुभूति से ही कला का निर्माण होता है। उसका विषय यदि असत्य, अनैतिक और निन्दनीय भी हो कोई अन्तर नही। रचना कौशल ही अतिसंक्षिप्त होना चाहिए। उसकी सिद्धी किसी बाहर के उद्देश्य तक नहीं जातीउपकरणों को कौशल रूप देना ही कला का मुख्य व अन्तिम प्रयोजन है। इस प्रकार कलाकार को अपनी कला को सीमा तक ही अवस्थित रखने का अधिकार है। इनसे बाहर जाना कला को कलुषित एवं श्री हीन करना होगा। कलाकार को अपनी कला में एकान्त और एकाग्र साधना का अनुष्ठान करना चाहिए। कला स्वम में एक महान तत्व है। इसलिए इसकी साधना आत्म निरपेक्ष है। साहित्य का क्षेत्रा अनुभूतियों के प्रकाशन का क्षेत्रा है। और अनुभूतियां स्वतंत्रा निरपेक्ष साध्य सत्तायें है। अत: साहित्य एव कलाओं कीजीवन निरपेक्ष स्थिति आश्चर्यजनक अपितु श्लाघ्र एवं प्रसंशात्मक होनी चाहिए। इस प्रकार अनुभूति के लिये अनुभूति, प्रज्ञा के लिये प्रज्ञा और सौन्दर्य के लिये सौन्दर्य का सिद्धान्त कला और साहित्य की एक स्वतंत्रा निरपेक्ष स्वअस्तित्व प्रदान करता है।

कलावादियों की भी मान्यता थी कि काव्यानुभूति स्वम अपना साध्य है। यही वस्तुत: काव्य का चरम मूल्य है। कलाकार अपने चतुर्दिक प्रसारित जीवन की अभिव्यक्ति के लिये वाध्य नहीं है। वह ईश्वर है इसलिये वह अपनी रुचि और भावना के अनुसार ही सृजन करता है। वह कला और जीवन के किसी भी सम्बन्ध को मानने के लिये तैयार नहीं है। वह जीवन के बन्धन से कला को बिल्कुल मुक्त कर देता है। उसके लिये किसी वस्तु का सौन्दर्य ही पर्याप्त है।

उसकी उपयोगिता या विशिष्टता से कलाकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। कलाकार को आचार से कोई सहानुभूति नहीं होती नैतिक सहानुभूति रचना कलाकार की शैली का अक्षम्य अपराध है।

काव्य या कला की कसौटी काव्य या कला की आत्मगत विशेषता पर आधारित हानी चाहिए। काव्य या कला का अपना एक विशेष कल्पना प्रसूत मानसिक जगत है। जो स्वतत्रा एवं स्वशासित है। काव्य या कला के इस श्रेष्ठ रूप को प्राप्ति उस जगत विशष मं प्रवश कर उसक नियमो स अनुशासित रहकर वाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष रहकर सृजन के द्वारा सम्भव है। वास्तव में यदि कला का सम्बन्ध जीवन के किसी पक्ष के साथ सम्बन्धित पर आश्रित किया जायेगा तो कला के प्रति यह घोर अन्याय का प्रतीक होगा। कलावादी वैकल्पिक रूप से कला में अन्य तत्वों की स्थिति मानते है। लेकिन अनिवार्य रूप से नहीं। कला का सम्बन्ध किसी धर्म या राष्ट्र से अलग है।यदि कला का सम्बन्ध किसी धर्म या राष्ट्र से अलग है। यदि कला का सम्बन्ध राष्ट्र से मान भी लिया जाय तो आदि काल के चारण कवि ही विश्व के श्रेष्ठ कवि कलाकार होंगे। कला का लक्ष्य नैतिकता मान लेने पर भी अस्वाभाविकता की दीवार खड़ी हो सकती है। कला का लक्ष्य स्थिर करना कला का अवमूल्यन करना है। कला की एकमात्रा कसौटी कला है। काका कालेलकर का मत है कि ''आर्ट फार आर्ट सेक' या केवल कला का आदर्श मै समझ सकता हूँ। उस अर्थ में उसके साथ मेरी सहानुभूति भी है। जीवन जिस तरह निष्काम वृत्ति से ही कृतार्थ होता है। उसी तरह कला से, अगर हम बाजारू वृत्ति, धन या कीर्ति की लालसा निकाल उसमें उपदेशक का असंस्कारी तरीका दूर कर दें, कला को धर्मोपदेशकों, धर्माचार्यो, राजपुरूषों और कल कारखानों के मालिकों के हाथ में न जाने दे तो कला अपनी रक्षा आप ही कर सकती है। ऐसा कहे तो आर्ट आफ आर्ट सेक

मानी जा सकती है। अत: कलावादी उसी वस्तु को कलाकृति मानते है। जिसमें रूप सौन्दर्य की अवस्थिति हो। भले ही उसमें नवीनतम ईमानदारी पर वस्तु की श्रेष्ठता न हो। पर कला के लिये कला का सिद्धान्त मान्य न हो सका। कला, कला के लिये जीवन निरपेक्षता का सूचक है। जीवन से कटकर वह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो वह सप्राण नहीं हो सकती। अत: कला का महत्व सापेक्षिक ही माना जायगा।

कला का सापेक्षिक महत्व :

यूरोप में 'कला के लिये कला' के विरूद्ध 'कला जीवन के लिये' एक व्यापक आन्दोलन ही चल पड़ा। कलावादी विचारकों का प्रसिद्ध मत है कि कला, कला के लिये है। उसका नीति, सदाचार आदि सामाजिक तत्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत आन्दोलन करने वाले लोगों ने कला को जीवन के लिये का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। क्योंकि कला का उद्देश्य ही है। हमारे जीवन को परिष्कृत करना।

श्रेष्ठ एवं सच्ची कला नीति सदाचार को लेकर ही अग्रसर होती है। केवल शुभ आनन्द उत्पन्न करना, वह भी मात्रा मनोरंजन के लिये कला का अवास्तविक स्वरूप है। वास्तव में, कला की परिभाषा में उपयोगिता और सुन्दरता ये दो गुण ही आते है। कहा भी गया है कि 'जिस गुण या कौशल के द्वारा किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है। उसकी कला संज्ञा है''। कलाकार के लिये जीवन की अवज्ञा करना असम्भव ही नहीं सर्वथा असत्य है। काव्य और कला जीवन के लिये है। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन के विकास और उत्कर्ष में कला का एक महत्वपूर्ण सहयोग है। काव्य और कला को जीवन से बहिष्कृत कर देने पर जीवन का जो स्वरूप विनिमित होगा वह हमारी बुद्धि मन और वाणी से परे होगा। इसलिये उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

वास्तव में कलाकार का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह भलाई या शिव की शिक्षा दे नीति का प्रचार प्रसार करे। श्रीयुत प्रेमचन्द्र जी ने अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि ''नीतिशास्त्रा और साहित्यशास्त्रा का लक्ष्य एक ही है। केवल उपदेश विधि मं अन्तर है। नीतिशास्त्रा तर्को और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालन का यत्न करता है। पर साहित्य ने अपने लियं मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्रा चुन लिया है। मुझे यह कहने में हिचक नहीं है। में और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौल सकता हूँ।

कला और साहित्य का अन्तर

किसी भी जाति के उत्कर्षापर्कष का उसके ऊंच नीच भावों, उसकी संस्कृति और सभ्यता का लेखा-जोखा उसका साहित्य प्रस्तुत करता है। साहित्य के अतिरिक्त अन्यान्य कलाओं में भी जातीय और स्थानीय संस्कृति के दर्शन होते हैं किसी भी देश के चिन्तकों का ज्ञान-विज्ञान भी वहां की संस्कृति को प्रदर्शित करता है। अतः प्रस्तुत अध्याय के अन्तरगत गोस्वामी जी के काव्य में साहित्य कला और विज्ञान सम्बन्धी विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

साहित्य सम्बन्धी विचार :

संस्कृति परम्परा पोषित होती है। संस्कृति का पोषण और सर्वर्द्धन जिस कवि के काव्य में प्राप्त है। जिस साहित्यकार के साहित्य में उपलब्ध है। वह कवि तथा साहित्यकार परम्परा रूप में अपने पूर्ववर्ती काव्य का अनुसरण करता है। गोस्वामी जी के काव्य का अध्ययन करने से विदित है कि उन्होंने वेद (निगम) तंभ शास्त्रा (आगम) पुराणं उपनिषद, विभिन्न शास्त्रादि को अपनेकाव्य का आधार बनाया। विविध प्रसंगों में किसी तथ्य का निरूपण अथवा निर्दशन करने में गोस्वामी जी वेद, पुराण अथवा संतों के मन्तव्य की शरण अवश्य लेते है।

तुलसी काव्य की कतिपय पंक्तियां यहां उदघृत की जा रही है। जिनसे गोस्वामी जी की वेद शास्त्रा सम्बन्धी दुहाई का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

''राम जन्म कर अमित प्रभावा। सन्त पुरान उपनिषद गावा।।
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रति कह अधिक एक ते एका।।
सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह विपिन कहुं नारि वसंता।।
बुध पुरान श्रृति संमत वानी। कही विभीषन नीति बखानी।।
महिमा अमित वेद नहि जाना। तै केहि भांति कहऊ भगवाना।।
उपरोहित्य कर्म अति मंदा। वेद पुरान सुकृति कर निदां।।
आगम निगम पुरान अनेका। पढे सुने कर फल प्रभू एका।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सव साधन करयह फल सुन्दर।।
पन्नगारि असनीति श्रुति समत सज्जन कहहि।
अति नीचहुं सनप्रीति करिय जानि निज परमहित।।
सुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धारिये।
निज अभिमान मोह ईर्षा वस तिनहिन आदरिये।
आगम निगम ग्रन्थ रिषि, मुनि सुर संत।
सबहीं को एकमत सुनु मति धीर।
तुलसीदास प्रभु बिनु पिपास मरे पसु,
जद्यपि है निकट सुरसरि तीर।।
सुति पुरान-बुध समंत चांचरि चरित्रा तीर।
करि विचार भवतरिय परिय न कबहूं जम धार।।

मानस के प्रारंभ में मगंलाचरण के अन्तरगत गोस्वामी जी अपने काव्य के नाना पुराण निगमागम सम्मत होने की घोषणा भी करते हैं। इस प्रकार आधार एवं

परम्परा रूप में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के आदि ग्रन्थों का तुलसीदास द्वारा अनुसरण स्पष्ट है।

किसी भी कवि के द्वारा अपने काव्य में अपनाये गये कथा प्रसंग भी वहां की संस्कृति की ओर संकेत करते हैं। गोस्वामी जी अपने प्रबन्ध काव्य और पुस्तक काव्य दोनों में अनेक ऐसे कथा प्रसगों को अपनाते हे। जिनका सम्बन्ध इस देश की प्राचीन संस्कृति से है। अन्ध तापस कथा (11) अहल्या कथा (12) कद्रू वनिता कथा (13) तवस्विनी कथा (14) दण्डक वन कथा (15) शिव दधीच्च और हरिशंकु की कथा (16) दुन्दुभि की कथा (17) नल और नील की कथा (18) शबरी की कथा (19) शिव और शैल की कथा (20) आदि आख्यानों के अतिरिक्त गयन्द की कथा (21) ध्रुव प्रह्लाद विभीषण, यमलार्जुन पाण्डव और सुदामा की कथा (22) गणिका कोल, किरात , बाल्मीकि तथा अजमिल की कथा (23) पिगंला की कथा (24) अम्बरीश की कथा (25) स्वान तथा वगुले की कथा (30) शिशुपाल की कथा (31) आदि तथा अन्य अनेक अन्तर कथाओं का संकेत तुलसी काव्य में मिलता है।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि किसी की देश की भौगोलिक स्थिति और वातावरण का प्रभाव उस देश की संस्कृति और साहित्य पर पड़ता है। भारत की शश्य-श्यामला भूमि में प्राप्त निसर्ग-सिद्ध सुषमा-भारतीय कवियों की लेखनी का विषय बनती जा रही है। पुष्पवाटिका प्रसंग में तुलसी की लेखनी की भी प्रकृति चित्राण निपुणता दर्शन का विषय है-

''लागे विटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना।।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुर रूख लजाये।।
चातक कोकिलकीर चकोरा। कूजत, विहग नटत कल मोरा।।
मध्य बाग सरू सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्रा बनावा।।

विमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गुजंत भृगा।।

बागतडागु बिलाकि प्रभु, हरिषे बन्धु समेत।

परम रम्य आरामु यहु,जो रामहि सुख देत।।

प्राकृतिक वैभव का एक दृश्य पम्पा प्रसंग में दर्शनीय है।

विकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।।

बोलत जल कुकुट कल हंसा। प्रभु विलोकि जनु करल प्रसंसा।।

चक्रवाक वक खग समुदायी। देखत बनई बरनि नहि जाई।

सुन्दर खगगन गिरासुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई।

ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए। चहु दिशकानन विटप सुहाए।

चपंक बकुल कदम्म तमाला। पारल पनस परास रसाला।

नव पल्लव कुसुमित तरू नाना। चचरीक पटलीकर गाना।।

सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ। संतत वहई मनोहर बाऊ।।

कुहू कुहू कोकिल धुनि करही। सुमिख सरस ध्यान मुनि टरहीं।

फल भारन नभिविरष सव, रहे भूमि निखराई।

पर उपकारी पुरूष जिमि, नवहि सुसंपति ,पाई।।

गोस्वामी जी ने परम्परा से सम्मानित पांच प्रकार के वृक्षों पाकरि, जामुन, रसाल, तमाल, तथा बट का उल्लेख चित्राकूट प्रसंग में किया है।

नाथ देखिवहि विरट विशाला। पाकरि जम्बु रसाल तमाला।

जिन्ह तरू बरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु विसाल देखिमन मोहा।।

प्रकृति की गोद में पलने वाले भारतीयों के लिये प्रकृति ऐहिक और अभ्युदिक उन्नति में सहायक मानी गयी है। चित्राकूट प्रसग के इन वृक्षों का अपना सांस्कृतिक महत्व है। वे अभ्यूदिक उत्कर्ष के लिये कहां तक साधक है। इसका अवलोकन 'मनस' के उत्तर काण्ड में किया जा सकता है नील गिरि पर्वत के

चार सुन्दर स्वर्णमय ''दीप्तिमान शिखरों या बट पीपर, पाकर और आम्र वृक्षों को प्रतिष्ठित करके तुलसी ने वहा के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन तो किया ही है। साथ ही उनका सांस्कृतिक और धार्मिक महत्व भी बताया हैं पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान पाकरि वृक्ष के नीचे यज्ञ आम की छाया में मानसी पूजा तथा बरगद के पेड़ के नीचे भगवतचरित चर्चा का विशिष्ट महत्व है।

पीपर तरूतर ध्यान सो धाई। जाप जन्य पाकरि तर करई।

आव छाहं कर मानस पूजा। तजि हरि भजनु काजु नहि दूजा।

बटवर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहि सुनहि अनेक विहंगा।।

यहां पीपल भगवान विष्णु स्वरूप पाकरि ब्रम्ह स्वरूप आम्र कामदेव स्वरूप तथा बट विश्व स्वरूप है। पुनः पीपल को ज्ञान तरक पाकरि को कर्म तरू रसाल को भन्ति तरू तथा बट को कल्याण तरू कहा गया है।

प्रबन्धकार अपने काव्य के पात्रों के चरित्रांकन में भी स्थानीय संस्कृति के प्रभाव से अलग नहीं रह सकता। जिस देश में शिष्य गुरू को साक्षात् ब्रम्ह मानकर उनकी सेवा सुश्रूषा को अपना परम कर्त्तव्य मानते है। तथा जिस देश में अनुज अपने अग्रज को पित्तृ तुल्य आदर देते आये है। उसी देश में अवतरित तुलसी के राम और लक्ष्मण दैनिक चर्चा से निवृत होकर प्रतिदिन सायंकाल गुरू के चरण पर लोटते है। पुनः राम के चरण दबाते हुए लक्ष्मण भी अग्रज के प्रति अपार सम्मान का परिचय देते है:

तेइ दोऊ बंधु प्रेम जन जीते। गुरूपद कमल प लोटत प्रीते।।

बारबार मुनि आग्या दीन्ही। रघुवर जाई सयन तब कीन्ही।।

चापत चरण लखन उर लाये। समयसप्रेम परम सचु पाए।।

पुनि-पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े छरि उर पद जल जाता।।

गोस्वामी के काव्य में भारतीय संस्कृति का एक उत्कृष्ट उदाहरण वन मार्ग प्रसंग में देखने को मिलता है। ग्राम बधूटिया वन जाते हुए राम लक्ष्मण और सीता को देखने के लिये मार्ग के निकट खड़ी होती है। प्रेम उत्सुकता वश जब वे सीता और राम के परस्पर सम्बन्धों का परिचय प्राप्त करने के लिये सीता से ही प्रश्न कर बैठती है कि "कोटि मनोज लजावनिहार, सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे" तो इस प्रश्न का जो उत्तर सीता देती है। उसमें भारतीय नारी की सहज स्वाभाविक लज्जा परिलक्षित होती है।

तिन्हहि विलोकि बिलोकति धरनी। दुहुं संकोच सकुचाति वर वरनी।।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर वचन पिकवयनी।
सहज सुभाव सुभग तन गोरे। नाथु लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि वदन विधु अचलं ढांकी। पिय तन चितई भौंहि करि बांकी।
खजन मजुं तिरीक्षे नयननि। निजपति कहऊ तिन्हहि सिय सयननि।
भई मुदित सबग्राम बधूटी। रकंन्ह राम रासि जनु लूटी।।

इस उत्तर में लज्जा जन्य भाव का अधिक सुकुमार अभिव्यंजन "कविता के निम्नलिखित पंक्तियों में निहित है :

सुनि सुन्दर वैन सुधारस साने सपानी है जानकी जानी भली।
तिरछै करि नैन, दै सैन, तिन्है, समुझाई कहू मुसुकाई चली।

यहाँ राम की ओर देखकर सीता का पुनः पृथ्वी की ओर देखना मुसुकाना, नेत्रों में कुछ बांकापन लाना कुछ संकेत कर देना कुछ समझा देना और मार्ग वासिनी नारियों का कुछ समझ लेना आदि क्रियायें भारतीय संस्कृति में पली हुई नारियों का अनुपम उदाहरण है।

साहित्यकार अपने काव्य को सरस एव अलकृत बनाने के लिये विभिन्न अलंकारों का प्रयोग करता है। उपमा रूपक उत्प्रेक्षादि आदि अलंकारों में उपमानों

का प्रयोग एक ओर जहाँ परम्पराबद्व होता है। वहीं दूसरी ओर कवि का चतुर्दिक वातावरण भी उपमानों के सृजन में साधक होता है। गोस्वामी जी के काव्य में अनेक उपमान ऐसे पाये जाते है। जिनसे भारतीय संस्कृति मुखरित होती है। परमार्थ का पहचानकर भी विषयों में आसक्त प्राणी के लिये चिता से अधजली सती का भागते जैसा उपमान (42) सतत मलिसन सदस्य के लिये मार्ग के पानी का उपमान(43) मन की चचंलता के लिये पीपल के पत्ते का उपमान (44)शम्भु सरासन की स्थिरिता का और अडिगता के लिये कामी के वचनों के सती के मन की स्थिरिता का उपमान (45)सखियों की सहित जनक की निरास रानियों की प्रसन्नता के लिये सूखते हुए धान में पानी पड़ने का उपमान (46) आदि सार्वभौम उपमान न कहे जाकर एतदेशीय उपमान ही कहे जायेंगे। राम विमुख व्यक्ति की गति को धोतित करने के लिये वर्षा के गोबर का उपमान तुलसी की मौलिक उपभावना है। (47) वर्षा का गोबर न लीपने के काम आता है। और न कंडे बनाने के ही अपितु कीचड़ से मिलकर और अधिक गन्दगी ही उत्पन्न करता है। यह उपमान तुलसी के ग्रामीण वातावरण के ज्ञान का परिचायक है। इसके अतिरिक्त अनेकों ऐसे उपमान है। जिनके प्रयोग में भी उपर्युक्त तथ्य के दर्शन होते है। तुलसी काव्य की कतिपय उपमाएं यहां उदघृत है :

बारिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट
भारी भारी राखे के चाउर से काडियो।।(48)

विधि केहि भांति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बैधिन हीरा।।(49)

नृपहि मोदु सुचि सचित सुभाषा। बढत वोड़ जनु लही सुखावा।।(50)

समहि बन्धुसोचदिन सती। अउन्हि कमरू हृदय जेहि भांती।।(51)

लखइ न रानि निकट दु:ख कैसे। चरईहरित तृन वालि पसु जैसे।।(52)

सहयि सूखि सुनि सीतलि वानी। जिमि जवास परें पावस पानी।(53)

भ्रमर सनेह उभयमति धेरी। भइ गति सापं छछूंदर केरी।(54)

सो मै वरनि कद्यं विधि केही। डावर कमठ कि मदंर लेही।(55)

रहे राखि सेवा परमारू।। चढ़ी चगं जनु खेचं खेलारू।।(56)

सो मैकुमति कहां केहि भाती। वाज सुरागकि गाडर ताती।(57)

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।। चचंरीक जिमि चपंक वागा।।(58)

मुनि गग नाथ अचल होइ वैसा।पुलक सरीर जनमफल जैसा।।(59)

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।।कनक तरूहि जनु भेट तमाला।।(60)

नवनिनीचकै अति सुखदायी। जिमि अकुंश धनु उरग विलाई।(61)

सो नती नारी लिलार गोसाई।। तजर चउथि के चांद की नाई।(62)

उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि रिटिटिकाखग सूत उताना।(63)

घायल धीर विशजहि कैसे। कुसुमत किसुंक के तरू जैसे।(64)

मुरपो न मनु तनु टूटयों। जिमि गज अर्क फलनि को मारपो।(65)

कोटि कोटि धरि धरि खाई। जनु टोड़ी गिरि गुहां समाई।(66)

भागे भालु वलीमुख जूथा।। वक विलोकि जिमि मेष रूथा।(66)

सन इव खल परिबधन करई। खरल कबईविपति सहि करई।(68)

किसी भी साहित्य में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग जहॉ साहित्यकारों की अभिव्यक्ति को सक्षम बनाता है। वहीं वहां की लोक संस्कृति का परिचय भी देता है। तुलसी ने अपने काव्य में मुहावरों और कहावतों को यथावश्यक प्रयोग किया है। ये मुहावरे और कहावतें भाषा को सशक्त बनाने के साथ-साथ (69)भारतीय जीवन का स्वरूप भी उपस्थित करते हैं।'' बांस का घरौदा होना, ''कलजा कसकना।'' (70) तारे गिनना (71) मूड चढना (72) छछा पछोरना (73) बाल बांका न होना (74) अपना दांव सूझना (75) लज्जा घोलकर पी जाना (76) छोटी मुंह बड़ी बात कहना (77) जांघ उघारना (78) अपनी गली का कुत्ता होना

(79) हाथ पसारा न सूझना (80) जीते जी पीछे पैर न रखना (81) जले पर नमक लगाना (82) आदि मुहावरे लोक संस्कृति के निदर्शन अपेक्षित है। जो तुलसी काव्य की पेशगत विशेषताओं की ओर संकेत करती है। (83) धोबी का कुत्ता घर का न घाट का (84)लेना एक न देना दो (85) दूध मक्खी (86) की थान का गांव पवार से जानना (87) कामरि ज्यों ज्यों भीजै त्यों त्यों भारी होय (88) सावन के अन्धे को वारहो मास हरिपाली सूझना(89) तांति बजते ही राग बूझना (90) दूध से जलने परमट्ठा फूंक-फूंक कर पीना (91) जैसा देवता वैसी पूजा (92) आरी को अपना दाव सूझना (93) आदि कहावतें भारतीय संस्कृति की परिचायक है।

यहां एक बात और उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इन कहावतों अथवा मुहावरों की रचना किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति पर बहुत कुछ आधारित रहती है। भारत एक गर्म देश है। कलेजा ठंडा करना अथवा हृदय शीतल करना एक मुहावरा है। इस देश में इसका अर्थ प्रसन्नता या आनन्द का द्योतक है। इसके विपरीत हृदय जल उठना दुःख और सन्ताप को प्रगट करता है। किन्तु ठंडे देशों में इन मुहावरों का अर्थ बिल्कुल उल्टा होगा। वहां 'वार्म रिमेप्शन' और कोलड रिमेप्शन'सस्नेह और औदात्व का सूचक है। गोस्वामी जी ने भारतीय भौगोलिक प्रकृति के अनुकूल इन दोनों मुहावरों का प्रयोग किया है। हनुमान को देखकर अपने आनन्द और हर्ष को अभिव्यक्त करने के लिये 'मानस की सीता ने प्रथम मुहावरे का (94) और राजा प्रताप भानु से पराजित कपट मुनि के संताप और दुःख के निर्देशन में तुलसी ने दूसरे मुहावरे का (195) प्रयोग किया है। इसी संदर्भ में पुनः निर्देशन है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि सम्बन्धी उपादानों का प्रयोग भी प्रसंग वश काव्य में होता है। श्रृंगार वर्णन और रूप निर्देशन में गोस्वामी जी ने सशिर खेत काटने पर अन्न का प्रमुख ढ़ेर लवनी

काटने पर पृथ्वी पर गिरे हुए कुछ दाने अथवा वालियों का प्रयोग किया है। गीतावली में विवाह प्रसंग के अन्तरगत मण्डप के नीचे बैठे हुए दुलह राम और दुलहिन सीता के रूप का निर्माण तुलसी ने 'राशि' से तथा रति और कामदेव के सौन्दर्य का निर्माण सीता और लवनी से कराया है।

तुलसीदास जोरी देखत सुख शोभा अतुल न जात कही री।

रुप राशि विरची मेना, सिला लवनी रति काम लहीरी।।

यहां राशि का प्रयोग प्रचुरता और सीता लवनी का प्रयोग न्यूनता को द्योतिक करता है। कवितावली मं कुबेर की लकापुरी का सोन्दर्य वर्णन करते समय भी तुलसी ने लका को 'राशि' तथा शेष सम्पूर्ण ससार का 'जागरूक (भूसा) अथवा (पवार) कहा है।

तुलसी त्रिालोक की समृद्धि सोंज संपदा।

संकलि चाकि राबरै राशि जांगरूजुहानु को ।।

सौन्दर्य बोध और कला :

14वी 16 वी शताब्दी तक के समय को हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल माना जाता है। इसे भक्तिकाल कहा जाता है। क्योंकि यह युग भक्ति परक था। सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर इस युग में भक्ति का व्यापक प्रभाव था। सम्पूर्ण मानवीय चेतना ही भक्ति ही जुड़ी हुई थी। यह भक्ति धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग थी। इसलिये इस युग की चेतना मूलत: धार्मिक थी। यही कारण है कि इस युग के मानववादी विचारों पर भी भक्ति और धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। जिसके कारण हमें उसे व्यापक सन्दर्भो में धार्मिक सामन्ती मानववाद के रूप में व्याख्यायित करते है।

भक्ति युग के सभी साहित्यकार मूलत: भक्त थे भक्ति उनके साहित्य के स्त्रोत थी। वे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे और उनसे सम्बन्धित

भक्ति का प्रचार अपनी रचनाओं के माध्यम से करते थे। दूसरी ओर समकालीन वातावरण, व्यवस्था जन्य अनेक आर्थिक सामाजिक स्थितियों तथा जनसामान्य से जुड़े होने के कारण उनकी रचनाएं लोक में व्याप्त पाखण्ड, अनाचार, दुर्व्यवस्था आदि का उद्‌घाटन करती हुई लोक कल्याण और समाज सुधार की उदान्त और क्रातिदर्शी चेतना की भी अभिव्यक्ति करती थी दोनों प्रवृत्तियों को मिलाकर भक्ति काव्य में जिन मानवीय मूल्यों का रूपायन हुआ और जिस मानवीय समझ तथा चेतना का विस्तार हुआ उससे तुलसी प्रभृति, संवेदनशील सजग और प्रतिनिधि रचनाकार का अछूता रह जाना नितान्त असम्भव था। धार्मिक वातावरण के कारण जिनमें मानव कल्याण की कुछ कामना तो अवश्य ही रहती है। तुलसी और उसके समकालीनों में एक ऐसी मानववादी चेतना का जन्म हुआ। जिसमें मानव कल्याण और बेहतर व्यवस्था की वैज्ञानिक समझ और दृष्टि न होते हुए भी उसकी एक कोशिश जरूर थी।

इसलिये इस युग के मानववाद को वैज्ञानिक प्रतिमानों के आधार पर वास्तविक मानववाद की पेशकश करना व्यर्थ है। बल्कि वह एक अपनी तरह का प्रारम्भिक स्तर का मानववाद है। जिसकी यथेस्ट चर्चा पिछले पृष्ठों पर है। यहा हम इस युग ओर उसके काव्य के संदर्भ में मात्रा एक विशेष तत्व की ओर संकेत करके तुलसी की चर्चा करेंगे कि इस युग में भक्ति काव्य के माध्यम से मानववाद का जो स्वरूप सामने आता है। वह इस युग को मानवतावाद से अपने मानव जगत सम्बन्धी यर्थाथवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही अलग होता है। अन्यथा दोनों का स्वरूप लगभग समान है। मध्यकालीन चिन्तन में हम व्यापक स्तर पर ईश्वर और चराचर जगत की चर्चा पाते है। इसमें जहाँ चराचर जगत के कल्याण की कामना और पारलौकिक मूल्यों की हिमायत है वह सामन्ती मानवतावाद है। जो मानववाद के विरोध में जाताहै। और जहाँ मानव समाज के

कल्याण की कामना और इह लौकिक मूल्यों की बात है। वह अपने सामन्ती परिदृश्य के कारण सामन्ती मानववाद है। जिसकी चर्चा तुलसी के युग में हमारा अभीष्ट है। तुलसी के काव्य में पारलौकिक मूल्यों की प्रमुखता ईश्वर और चराचर जगत के कल्याण की कामना के कारण कहा जा सकता है। कि वे मानवतावादी हें। मानववादी नहीं क्योंकि वहॉ उपर्युक्त चिन्तन ही प्रधान है। लेकिन वहाँ ऐसा कदापि नहीं है। कि मानववादी समझ परविचार का अभाव है। इतना अवश्य है कि मानवतावादी चिन्तन की परिधि में ही इसकी अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से तुलसी को मानवतावादी मानने मे हमारी कोई असहमति नहीं है। लेकिन तुलसी के चिन्तन का एक पक्ष ऐसा है जहॉ मानववाद भी दिखाई देता है।

निसंदेह तुलसी के साहित्य पर भक्ति की एक तीव्र छाप परिलक्षित होती है। क्योंकि भक्त तुलसी का लक्ष्य है। और जिसके विशद प्रभाव के कारण ही देवराज ही देवराज जी मानने को विवश हुए है। तुलसीदास की चिन्तित या अभीष्ट उद्‌देश्य मानवता के जीवन अथवा अन्तर विकारों को चित्रित करना नहीं है। अपने प्रधान ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में सचेत भाव से वे जिस जगत का चित्रा खीचना चाहते थे, वह मुख्यत: धार्मिक एवं पौराणिक कल्पना द्वारा निर्मित जगत था मानव जगत नहीं। तुलसी का जगत प्रधान रूप में देवताओं, ऋषि मुनियों, भक्तों और सन्तों तथा भगवान और उनके मायापात्रों के अलौकिक व्यापारों का जगत है। उनके अधम पात्रा भी उतने ही अलौकिक है। जैसे कि धार्मिक पात्रा वहाँ साधारण नर-नारियों के साधारण लौकिक जीवन और मनोविकारों को बहुत सीमित स्थान है। राम की कथा प्राय: इस लोक की कथा है। अत: यह सम्भव था कि तुलसीदास उसे विशुद्ध लौकिक धरातल पर वर्णित करते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। पूरे मानस में केवल अयोध्या काण्ड ही वह भाग ह। जहाँ राम कथा मानवीय धरातल पर चलती है। शेष स्थलों में वह प्राय:

धार्मिक भावनाओं के आरोप द्वारा अति मानव बना दिया गया है। लेकिन ऐसा बिल्कुल ही नहीं है कि मानवीय प्रसग न हो और सब कुछ अति मानवीय ही हो। स्वयं 'देवराज' जी मानवीय प्रसंगोंका उल्लेख करते है भक्ति के आवरण में और अलौकिकता के परिपार्श्व में तुलसी में ऐसे स्थलों की कोई विशेष कमी भी नहीं है। जहाँ लौकिकता कम हो और इहलौकिक तथ्यों का हवाला न हो। रामचरित्रा मानस के 'बालकाण्ड' का उदाहरण ले सकते है :

''निज पाकि मनि महु देखियत, सूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुज बल्ली विलोंकनि विरन्ह भय वस जानकी।

और इसी तरह कवितावली से भी उदाहरण ले सकते है:

''दुलहा रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मन्दिर माही।
गावति गीति सबै मिलि सुंदर, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाही।
राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग के परछाहीं।
पाते सबै सुध भूल गई, करटेकि रही पलटारत नाहीं।

निश्चिय ही तुलसी ने उपयुर्क्त पंक्तियों के माध्यम से जिन ''संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है। वे लौकिक ही है। और उनके ऊपर किसी अलौकिकता का दावा नहीं किया जा सकता। इसी तरह तुलसी जिन सामाजिक स्थितियों का वर्णन करते है। वे भी लौकिक ही है। और उन पर भी किसी अति मानवीयता को खोजना भ्रामक होगा, चाहे वह मध्यकाल की कारूणिक आर्थिक, स्थिति की प्रस्तुति हो।

खेती न किसान को,भिखारी को न भीख बलि
वनिक को अनिज न चाकरको चाकरी।
जोविका विहीन लोग सीधमान सोचवस।
कहै एक एकन सों कहाँ जाई का करी।

अथवा अनाचार-अत्याचार से युक्त विश्राखल समाज का चित्रा है।

"जे वरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपंच किरात कोल कलवारा।

नारि मुई गृह सम्पति नासी। उभयलोक निज हाथ न सावति।

विप्र निरक्षर लोलप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।

सूद्र करहि जप तपवृत नाना। बैठि बरासन कहहि पुराना।

सब नए कल्पित करहि अपारा। जाई न वरनि अनीति अपारा।

निपट बसरे आध्र ओध्रुन घनेरे नर,

नारिऊ अनेरे जगदम्ब चेरी-चेरे है।

दारिद दुखारी देवि भूसुर भिखारी-भीरू

लोग मोह-काम-काहे कलिमल घेरे है।

यहाँ यह कहना भी पूर्णतय: सही नहीं होगा कि तुलसी साहित्य में साधारण लौकिक जीवन और सामान्य मनोविकारों को बहुत सीमित स्थान ही है। क्योंकि तुलसी ने स्थान-स्थान पर 'कथ्यानुरूप' और आवश्यकतानुरूप लौकिक जीवन और मनोविकारों के अत्यन्त उत्कृष्ठ, भाव प्रवाण और सौन्दर्यशील दृश्यों का विधान किया है। उदाहरण के लिये वह राम वनवास पर सामान्य जन के क्षोभ का अत्यन्त सुन्दर चित्रा उभारते हैं : "विकल वियोग लोग पुरतियंक है, अति अन्याद अली" आदि और इसी तरह वन मार्ग पर सहज ग्रामीण नारियों की उत्सुकता के प्रत्युत्तर में सीता की प्रतिक्रिया को नितान्त' स्वाभाविक और लौकिक रूप में शब्द बद्ध करते है।

बहुरि वदन विधु अंचल ढांकी। पिऊ तन चितैं मोंह करि बाकी।।

रंवजन मन्द तिरीक्षे नैननि, निज पति कहऊ तिनहि सिय सैननि।।

मनोविकारों के चित्राण में चाहे वह हर्ष की स्थित हो, जैसे भरत मिलाप 10 या वह विषाद की स्थिति हो जैसे राम वनवास प्रसंग 11 सीता हरण 12 या फिर लक्ष्मण के आहत होने पर राम का विलाप हो।

मेरी सब पुरूषारथ थाको,।

विपत बरावन बधु बाहु बिनु करो भरोसा काको।।

निरि कानन जैहे शाखामृग है पुनि अनुज सघौती।।

है है कह विभीषन को गति रही सोच मरि छाती।।

यहाँ भी तुलसी ने लौकिकता का त्याग नहीं किया है। बल्कि लक्ष्मण शक्ति प्रसंग में तो उपुर्यक्त पंक्तियों में वे राम को भाई से अधिक मित्रा के लिये चिन्तित दिखाते है। मानवीय कातारता क्षोभ और विषाद की इतनी सक्षम प्रस्तुति लौकिक धरातल पर ही सम्भव थी।

एक बातयह अवश्य है जिसमें देवराज जी से असहमति नहीं हो सकती कि उपर्युक्त समस्त चित्राण में मध्यकालीन साधारण जन के जीवन और दूसरे शब्दों में मानवता वादी चिन्तन की तुलना में भक्ति के परिपार्श्व में मानवतावादी चिन्तना को प्रमुखता नहीं है। क्योंकि तुलसी का वास्तविक ध्येय तो राम की कथा कहना है "तेहि वल मैं रघुपति गुनगाथा, कहिहऊ नाईराम पद माथा।।14 और वह भी राम के सुख के लिये।

स्वतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।

भाषा निबन्धमति मजुल मात नोति।।15

लेकिन वे उस राम की कथा कहते है। जिसने सामाजिक कल्याण के लिये अवतार लिया है। "विप्र धेनु सुर सन्त हित,लीन्ह मनुज अवतार।"16 चूंकि तुलसी के श्रद्धेय राम ने मनुज अवतार लिया है। इसलिये तुलसी मानते है कि मनुष्य के रूप में जन्म लेना अत्यन्त सौभाग्य की बात है। "बडे भाग मानुष तनु पावा"17

सौन्दर्य बोध और कला में कला सम्बन्धी विचार : कला से अभिप्राय ललित कलाओं से है जो पांच रूपों वस्तु, कला, मूर्तिकला, चित्राकला, संगीत कला और काव्यकला में दृष्टिगत होती है। इन पांच कलाओं में साहित्य कला अथवा काव्य कला की चर्चा की जा चुकी है। अत: गोस्वामी जी न काव्य के परिप्रेक्ष में शेष चार की ही चर्चा यहाँ अपेक्षित ह।

वास्तु कला :

वास्तु कला से तात्पर्य नगर, घाट, बाजारवादी, कूप सरोवर आदि की निर्माण सम्बन्धी कला से है। गोस्वामी जी के काव्य में सुन्दर नगरों बाजारों तथा भवनों के निर्माण के संकेत प्रसंगानुसार हुए हैं भवन निर्माण सम्बन्धी कुशलता का एक दृश्य मानस जनक पुरी प्रसग में देखने को मिलता है। जहाँ अनेक प्रकार के सुन्दर भवनों को देखकर चित चकित हो उठता है। श्वेत रग के राजमहलों के सुन्दर द्वार सुदृढ़ दरवाजे तथा बीच में आंगन और उन मं मणि जटित सोने की जरी के पर्दों का निर्देश है। साथ ही गज-वाजि-भाला का दृश्य भी दृष्टव्य है।

होत चकित चित कोर बिलोकनि। सकल भुवंन सोभा जनु रोकी।

धवल धाम मनि पुरट पट सुघटित नाना भांति।

सिय निवास सुंदर सदन शोभा किमि कहि जाति।

सुभग द्वार सब कलिस कपाटा। भूपभीरनर भागत भाटा।

वनी विसाला वाजि गजसाला। हय,मध्य गध रथसकुंल सब काला।98

भवनों के साथ किले, प्राकारा अट्टालिका, घर, दरवाजे (99) तथा झरोखों (100) की चर्चा गोस्वामी जी के काव्य में यथा स्थान प्राप्त है।

भवनों के साथ देव मन्दिरों के निर्माण के भी संकेत तुलसी काव्य में मिलते है। मानस के पुष्प वाटिका प्रसंग में गिरिजा-गृह (101) तथाा **सीतान्वेषण** मं तत्पर हनुमान द्वारा देखे भंये हरी मन्दिर रचिर(102) का उल्लेख गोस्वामी जी ने

किया है। किन्तु निर्माण सम्बन्धी निपुणता का कोई सकेत उक्त स्थलों पर नहीं हुआ है। गोस्वामी जी के सम सामयिक युग में राजकीय उद्यानों एवं सरोवरों का निर्माण प्रचुरता के साथ किया जाता था। पुष्प वाटिका तथा उसके मध्य निर्मित सरावर वर्णन में गोस्वामी जी की समकालीन वास्तुकला का सुन्दर परिचय मिलता है।

मध्य बाग सरू सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्रा वनाव्य।।
विमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत भुजंत मृगा।।
वाग तडागु विलोकि प्रभु हरषे बन्धु समेत।
परम रमइ आरामु पदु, जी रामहि सुख देत।।

वास्तुकला का एक उदाहरण राजा राम के अयोध्या पुरी वर्णन में देखने योग्य है। जहाँ घाट, मन्दिर उपवन, पुर, वापी, तड़ाग, सोपान, आदि का एक साथ चित्राण प्रस्तुत है।

उत्तर दिशि सारजू वंह, निर्मल जल गम्भीर।
बांधे घाट मनोहर, स्वल्प थकं नहि तीर।
दूरिकराक रचिर सो धाय। जहं जल षिऊहि व्यजि गज ढाढ़ा।
पनिघर परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरूष करहिं असानाना।
राजघाट सबविधि सुन्दरबार। मजुहि तहाँ वरन चारिऊ नर।।
तीर तीर दवेन्ह के मन्दिर। चहुं दिस तिन्ह के उपवन सुन्दर।।
कहूं कहूं सरिता तीर उदासी, वंसहि ज्ञानरत मुनि सन्यासी।
तीर तीर तुला सिका सुहाई। बूंद बूंद बहु मुनिह लगाई।।
पुर शोभा कहु वर्णन जाई। वाहेर नगर परम रुचिराई।
देखत पुरी अखिल अधभागा। वनउपवनवाटिका गडागा।
बापी तड़ाग अनूप कृप मनोहरापत सोहही।

सोपान सुन्दर नीर निर्मल देखि सुरभूमि मोहहीं।
बहु रंग कजं अनेक खग कूजहि मधुप गुजारही।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हेकारही।
रमानाथ जहं राजा सो पुर बामिकि जाई।
अनिकाथक सुख सभ्यदा रही अवध सब धाई।।(104)

मूर्तिकला : गोस्वामी जी का अविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारत पर मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो गया था। इस्लाम में बुत परस्ती (मूर्तिपूजा) सबसे बड़ा अपराध मानी जाती थी। अत: कलाओं के प्रेमी होते हुए भी मुसलमान राजाओं ने मृर्तिकला के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मूर्तिकला मृत या मृत प्राय थी प्राचीन भारत की मूर्तिकला तथा स्तूप कला साधारण रूप में गोस्वामी जी के समय में भी सम्मानित थी। गोस्वामी जी के काव्य में मूर्तिकला से सम्बन्धित निर्देश अधिक मात्राा में नहीं मिलते किन्तु उनका नितान्त अभाव भी नहीं है। जनकपुरी में जानकी विवाह से पूर्व मण्डप निर्माता, गुणीजन बहुमूल्य रत्नों को तरास कर अनेक रंगो के कमलों का निर्माण करते है। एवं स्तम्भों पर देवताओं की प्रतिमाएं मढ़ते है। इस प्रकार तुलसी काव्य में मूर्ति कला विषयक निर्देश प्राप्त होते है।

पठए बोलिगुनी तिन्ह नाना। जे बितान विधि कुसल सुजाना।
विधिहि बंदितिन्ह कीन्ह अरंभा। विरचेकनक कदालि के खभां।
हरति मनिन्ह के पत्राफल पदुम राग के फूल।
रचना देखि विचित्राअति मनु विरंचि कर मूल।
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपखपरहिं नहि चीन्हे।।
कनक कलित अहि बेलि बनाई। सखि नहि परइ सपरस सुहाई।
तेहि के रचि वचि बन्ध बनाएं बिच विच मुकुल दाम सुहाए।

मानिक भरकत कुलिस पिरोजा। गूजहिं कूंजहि पवन प्रसगा।।

सूर प्रतिमा खंभनंगढ़ि काढ़ी मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी।

चौक भांति अनेक पुराई। सिधुर मनिभय सहज सुहाई।

सौख पलव सुभग सुढि,किये लीलमनि कोरि।

हेम बौर भरकत छवरि, लसत पाठमय डोरि।

यहाँ सोने के केले के खम्भ पर विशिष्ट रचना हरित मणियों के पत्ते, फल और पदम राग के फूलों को गढना हरी-हरी मणियों के बांस सुविधा से रचित सुन्दर पानों की लता और उस पच्चीकारी,माणिक्य भरकत (पन्ना) कुलिस (हीरा) और फिरोजा को चीर कर और उसे काटकर तथा उसमें पच्चीकारी करके कमल के फूलों का निर्माण, खम्भों के ऊपर देवताओं की मूर्तियों को गढ़ना, नील कमल को काट कर सुन्दर आम के पत्ते, सोने के बौर पन्ना के घोर गुच्छे बनाना आदि मूर्तिकला के ही उदाहरण हो जायेगे।

सौन्दर्य का अर्थ रचना और कल्पना आयाम :

साहित्य का परिशीलन उसके गुण दोष विवेचन के साथ जुड़ा है। और उस मूल्यांकन में उक्त अथवा अनुक्त रूप से कुछ ऐसी सामान्य धारणाएं पूर्व स्वीकृत रहती है। जो आधारभूत होते हुए भी विशिष्ट मूल्याकनों के संदर्भ में मुक्ति युक्त रूप से प्रतिपादित नहीं की जाती उदाहरण के लिये इन दो वाक्यों को देखिये इस कविता में घ्पलायन उसका कारण अन्दर और बाहर दोनों जगतों में थोड़ा-थोड़ा एकान्तरमय संघटन बनाए रखने का लालच है। अंधेरे में कविता की ये अन्तिम पंक्तियां उस अस्मिता या प्कमदजपजल खोज की ओर संकेत करती है। जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। ध्पलायन सौन्दर्य शास्त्रीय संप्रत्यय व्यवस्था का आक्षेप करता है। "आधुनिक मानव, सांस्कृतिक ऐतिहासिक समझ का इसप्रकार पूर्व स्वीकृत अवधारणाओं को स्थूल रूप से जिन दो विभागों

में बाट कर उपर उदाघृत किया गया है। इन्ही से सम्बद्व कुछ विवेचन यहां प्रस्तुत है। वह स्वयं साहित्यालोचन नहीं है। किन्तु उसे साहित्यलोचन के रूप में समझा जा सकता है।

अपने व्यापक अर्थ में साहित्य बाड़्मय मात्रा का वाचक है किन्तु प्रस्तुत सदर्भ में उसका प्रयोग प्राचीन 'काव्य' अथवा आधुनिक ललित साहित्य के अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार से अवधारित साहित्यिक कृति स्यमं एक कलाकृति होती है। और उसका तात्पर्य तथ्य सूचना मात्रा नहीं समझा जा सकता। साहित्यिक अथवा कलाकृति अपने में एक विशिष्ट प्रकार के मृल्य को मूर्त करती है। जिसे श्रोता पादर्शक सम्यक प्रतीति के विषय के रुप में ग्रहण कर लेता है। आलोचनात्मक प्रतीति मात्रा से ग्राह्य इन कृतियों में अन्य किसी प्रकार का उपयोग या उपभोग अभिप्रेत नहीं रहता है। यही उनके साहित्य का अर्थ है। अपने आलोच्य या काव्य ज्ञान मात्रा से इच्छा निरपेक्ष सुख का हेतु होना साहित्यिक मूल्यांकन के विषय का एक पक्ष है। और वह स्पष्ट ही अन्य ललित कलाओं के मूल्यांकन के विषय में न्यूनधिक रूप में समान एवं तुलनीय है। इस पक्ष के अन्तरगत मूल्यांकन के व्यापक तत्वों का विर्यभ ही सौन्दर्यशास्त्रा का प्रधान कार्य है। इस व्याख्यान में प्रथमत: साहित्यिक मूल्यांकन का यह व्यापक और तात्विक सोन्दर्य शास्त्रीय पक्ष ही मुख्यतया विचार के लिये प्रस्तुत हे। सहित्यकारों अथवा साहित्यिक कृतियों के अलग अलग पर तुलनात्मक विवेचन के स्थान पर उनके विवेचन की सम्भावना, उसके आधार और तार्किक प्रक्रिया का विवेचन ही इस प्रकार यहां अभीष्ट है। "सूर सूर तुलसी ससी उद्‌गन केसवदास" जैसी उक्ति के विषय में एक प्रश्न तो यह हो सकता है कि क्या उसमें व्यक्त तुलनात्मक निर्णय प्रामाणिक है। किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि कविता क मूल्याकन को व्यक्त करने वाले निर्णय किस अर्थ में प्रमाणिक हो सकते है।

अथवा ये सिर्फ व्यक्तिगत या सामाजिक रुचि के प्रदर्शक है। और उनकी प्रामाणिकता एक प्रदत्त सहृदयता या संवेदनात्मक संस्कारों को पूर्वाक्षिप्त कर उनके अति सवादन से अभिन्न है। इस दूसरे प्रकार के प्रश्न ही सौन्दर्य शास्त्रीय विचार क प्रश्न बनते हे। उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित चाहता हूँ।

यहा दो आपत्तिया अनायास उठाई जा सकती है। एक ता यह कि साहित्य और कलाओं में इतना अन्तर है कि दोनों के अनुगत तत्वउनमें से किसी के लिये प्रधान नहीं हो पायेंगे। तथा उन पर आधारित शास्त्रा में गम्भीरता न आ सकेगी। दूसरा आपत्ति यह दुर्निवार प्रतीत होती है। कि यदि सौन्दर्य शास्त्रा के तात्विक स्तर पर विचार होगा तो उसमें सांस्कृतिक साहित्यिक इतिहास उतना ही आप्राशंगिक होगा। जितना ज्ञान की भीमांसा या तत्व भीमांसा के स्तर पर ओर उससे किसी साहित्यिक कृति की विशिष्टता समझने में कोई सहजता न होगी। पहली आपत्ति इस बात को रेखांकित करती है कि भाषात्मक होने से साहित्य सार्थक होता है जबकि अन्य कलाएं विशुद्व ऐन्द्रिय आभाषो की सूचनाएं होने से रुपात्मक है। और स्वरूपतः अर्थ से असम्बद्व किसी साहित्यिक कृति के दो पक्षों का यहा पर उल्लेख किया जा सकता है। एक उसका बाह्य सकेतात्मक रूप जो प्रत्यक्ष ग्रहीत होता है। दूसरा उसका ''अर्थ'' जो रुप के द्वारा भासित होता है। इस प्रकार का द्वैत कला के विषय में संदिग्ध है। उदाहरण के लिये काव्य का प्रसक्ष रूप या शरीर एक सार्थक शब्द ''राशि' होता है जबकि संगीत का ध्वनिमय चित्रा का रंग और आकार। साहित्यिक कृतियों में अर्थ आलोच्य एवं भाव्य होता है। यह प्रायः निर्विवाद है। पर संगीत और चित्राकला के विषय में इस एकमत से संदिग्ध कहा जा सकता है।

सगीत के विषय में तो यह मत प्रबल रूप से प्रतिपादित किया गया है कि वह नादं कि रजंकता में ही सम्पूर्ण हो जाता है। इस पर आपत्ति की जा सकती

है कि पदगान अथवा गीत के रूप में अवश्य संगीत भावात्मक अर्थ प्रतीति से जुड जाता है। जयदेव, मीरा सूरदास आदि भक्तों के पदों का ज्ञान अथवा त्यागराज सदुश दक्षिणात्व याग्नेयकारो की कृतियों का गान उसमें प्रस्तुत अर्थ के योग से ही समझा जा सकता है। भक्ति सगीत के समान है। ठुमरी अथवा गजल की स्थिति है। रवीन्द्र संगीत और लोकसगीत भी सार्थक और भाव प्रधान होते है। साम गान ऋचाओं को लेकर ही प्रवृत होता था। गन्धर्व में स्वरताल और अवधन के साथ ही पद का स्थान निश्चित था। बाद की शास्त्रीय परम्परा में गायकपाद के सहारे स्वर, ताल आदि की योजना से राग की अभिव्यक्ति भाव सवृत रूप में ही प्राय:करते थे। वाध पन्त्रों को इस गान का सहायक या प्रतिबिम्ब–व्यंजक ही प्राय: माना जाता था। इसके विरूद्व यह स्मरणीय है कि पद हीन स्वर योजना के रूप मे, शुष्क संगीत, संगीत का सुविदित रूप था। सभी शास्त्रीय गान में अलाप एवं तान के रूप में सौन्दर्य अथवा निपुणता के प्रदर्शन के लिये स्वरों के प्रयोग का भी प्रचलन रहा है। पाश्चात्य संगीत में वाघ पत्रों क पदमुक्त सगीत का प्राध्यान देखा जाता है। यद्यपि वहाँ भी सगीत की वस्तुओं क नाम करण स एक प्रकार की साविषयता या साभिप्रायता ध्वनित होती हे। वैस भी सभी सगीत किसी न किसी सामाजिक अवसर प्रयोजन या मनोवृत्ति से जुड़ा हुआ उपलब्ध होता है। इन सम्बन्धों की युक्तता संगीत में अवश्य ही एक प्रकार की सार्थकता आयातित करती है। प्राचीन परम्परा में स्वर राग आदि का भाव और रस से सम्बन्ध स्वीकार किया जाता था। यद्यपि यह विवादित रहता है कि यह सार्थकता सगीत की स्वरूप निष्ट है। अथवा आरोपित ओर आगन्तुक।

इन सब युक्तियों के विरोध में दो तर्क मुख्यतय: दिये जा सकते है। एक तो यह है कि संगीत का विशिष्ट गुण, उसकी विलक्षण रंजकता, सिर्फ श्रव्य विषयगत उत्कर्ष पर निर्भर करती है। वह किसी प्रकार के स्वातिरिक्त अर्थ की

अपेक्षा नहीं करती। यदि अर्थ से वाच्चाथ हो जो कि विकल्पित अर्थ अर्थात् प्रसाघार्थ या अध्यवसेव वाक्यार्थ हो तो यह सही है कि इस प्रकार का अर्थ स्वर ताल योजनात्मक सगीत का अन्तरग नहीं है। स्पदन विशेष से युक्त नाद की प्रतीति बिना किसी प्रकार की अर्थ प्रतीति को अपना द्वार बनाए साक्षात रूप से ही रंजक होती है। ऐसे ही यद्यपि यह सही है चित्रा में प्रस्तुत रूप वस्तु प्रतिरूप से ही रंजक होते है। और अतएव उनमें सादृश्य का तत्व महत्वपूर्ण माना गया है। तो भी चित्रों की यथार्थ अनुकृति मानने की भ्रान्ति इस बात से सिद्व हो जाती है कि कैमरे का छायाकन अपने आप में प्रतिकृति मात्रा से कला नहीं बनता जैसे पदहीन या निर्गीत, शुष्क स्वर योजना सम्भव है। ऐसे ही निर्विषय चित्रा भी मिलते हैं। जिनमेंरंगों या आकारों की योजना ही प्रधानता प्राप्त करती है। यह तर्क किया जा सकता है। कि जैसे संगीत में आर्दशित सौन्दर्य की विशेषता स्वर आदि पर मूलतः निर्भर करती है। न कि तत्सयोजित गीत पद पर ऐसें ही चित्रा की अनुभूति भी मूलतः जिस दृश्य रूप पर निर्भर करती है उसमें अनुकृति या सादृश्य की भूमिका अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार यह आपत्ति स्थिर रहती प्रतीत होती है। कि कला में इसका पक्ष ही विशिष्ट है। और इसमें या तो संप्रेष्य अर्थ का अभाव है। या वह अप्रधान है। और इसलिये कलानुभूति और साहित्यानुभूति में समान तात्विक विश्लेषण को आयुक्त ठहराने के लिये अन्तर बहुत अधिक है। कलादर्शन रुप विषयक निर्णयों का दर्शन होगा जब कि साहित्य भीमांसा अनिवार्यतया सार्थकता के प्रश्न से वधी रहती है।

इस स्थित में तीन विकल्प स्पष्ट प्रतीत होते है। एक तो यह कि अभिज्ञ सहृदय के लिये साहित्य का भी सार उसकी कलात्मकता में माना जाय। उदाहरण लिये फोर्स्टर उपन्यास में एक निगूढ प्रतीकात्मकता का संकेत पाते हैं।

मेटरलिंक की एक प्रसिद्ध उक्ति है। कि "सभी कलाएं अन्ततः संगीत की अवस्था प्राप्त करना चाहती है "प्राचीन अलंकारिक गण पद संघटना एवं वाक्य रचना के अपूर्व प्रकारों को काव्य सौन्दय के हेतु मानते थे। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकगा कि साहित्य की अन्यकलाओं की भाति एक चमत्कारी रूप प्रस्तुति मात्रा है। यह कलात्मकता और अलकार सर्वस्वता से भिन्न नहीं की जा सकती जिसमें अलकार और अलकार्य का भेद वस्तु भेद नहीं है। सौन्दर्य की प्रत्यायक रूप योजना ही अलंकरण है। और उसमें अलंकार अलकार्य भेद रूप के अन्तरगत अवयव अवयवी के भेद से अनितिरिक्त है। कलात्मकता के इस प्रकार परिभाषित हाने पररूप योजना के सिद्वान्तों का सोन्दर्य शास्त्रा हागा आर वह साहित्य एव कलाओं में समान होगा ऐसी कल्पना सावकाश प्रतीत होती हे।

सौन्दर्य का अर्थ रचना और कल्पना आयाम :

गोस्वामी जी के काव्य में निधि और कागज दोनों पर अंकित चित्रों का उल्लेख मिलता है। जनकपुर निवासियों के मंगलमय मन्दिरों के कामदेव द्वारा चित्रित होने की चर्चा मानस में की गयी है। (106) विनय पत्रिाका में भी गोस्वामी जी ने भित्ति पर निर्मित चित्रा का निर्देश किया है।

सून्य भांति परचित्रा,रंगनहि,तनु बिनु लिखा चितेरे।

धोये निरहि न मारइ भाीति, दुख पाइउ यहि तनु हेरे।

चित्राकला के द्वितीय रूप का उल्लेख तुलसी काव्य में एकाधिक प्रसंगों में हुआ है।

जाईसमीप रामछदिखी। रहि जनि कुउंरि चित्राअवरेखी।

सिपवन वसिहि तातकोहि भांती। चित्रलिखित कपिदेखिडराती।

चित्रालिखे जनु जहं तह ठाडे। पुलक शरीर रवन जलवाढे।

रामहिं चितवत चित्रा लिखे से। सकुचतबोलत वचन सिखेसे।

रामबदनु विलोकि मुनि ठाडा। मानहु चित्रा माझ लिखि काढा।

बहु राम लक्ष्मण दखिमर्कट,भालु मनअति ऊप डरे।

जनु चित्रा लिखित समेत लछिमन, जहंसो तहं चितवहि खरे।

तुलसी विलोकि जातुधानी अकुलानी कहैं।

चित्राहु के कपि सो निसाचर न लागि है।

इसी तारतम्य में संगीत कला के तीन रूप गायन, वादन और नृत्य देखने को मिलते है। गोस्वामी जी ने अपने काव्य में यथा स्थान इन तीनों रूपों का उल्लेख किया है। अवसर विशेष पर विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों के वादन का उल्लेख मानस गीतावली में देखने को मिलता है। धर्नुभग के अनत्तर रंगभूमि में असद व उल्लास की अभिव्यक्ति के लिये झांझ, मदृग, शख, शहनाई मेटी ढोल ताशा अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रा बजाये जाते हैं। (115) राम के जन्मोत्सव में गीतावली में घंटा बजाकर तासा, ढोल झांझ, वासुरी, ढप, करताल, मंजीरों के वादन की चर्चा है। (116) अभीष्ट की सिद्व अथवा युद्ध में विजय पर प्रसन्नता को प्रदर्शित करने के लिये नगाड़े बजाये जाने का संकेत गोस्वामी जी ने किया है। (117) इसके अतिरिक्त युद्धावसर पर मारूबाजों मे ढोल निशान तुरहीं और शहनाई का उच्च स्वर में बजाया जाना भी गोस्वामी जी के काव्य में प्रसंगानुसार परिलक्षित होता है।(118)

गान सम्बन्धी अनेक राग रागनियों के संकेत तुलसी ने 'विनय पत्रिाका, गीतावली तथा श्रीकृष्ण गीतावली में किये है। तुलसी के कतिपय कथनों द्वारा भी उनकी राग प्रियता तथा गान प्रियता पकट होती है। 'उधरहि गीत प्रबध छन्दं पदराग तान बधान, (119) चारू चरित रघुवर तेरे तेहि भिति गाई चरन लामें (120) गाइए गनपति जगवच्चन (121) करहिं गानकलकंठि लजाएं (122) हरिपद प्रीतिन होई बिनु हरि गुन गाये सुने (123) जो नाहि करई राम गुन गाना। (124)

आदि कथनों में गोस्वामी जी की संगीत प्रियता झलकती है। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में तुलसी ने जिन राग रागनियों का उल्लेख किया है। विनय पत्रिाका में तुलसी ने जिन राग रागनियों का उल्लेख किया है। उनका परिचय भी यहॉ प्राप्त कर लेना चहिए 'विनय पत्रिाका में तुलसी ने बीस राग रागनियों, आसावरी (125) कल्याण (126) कहाग (127) केदारा (128) जैतजी (129) टोडी (130) धनात्री (131) वट (132) वसन्त (133) विलावला (134) विहाग (135) भैरवी (136) भैरव (137) मलार (138) मारू (139) रामकली (140) ललित (141) विकास (142) मारंग (143) तथा सोरठा (144) का गीतावली मं उन्नीस राग रागनियों असवारी (145) जैतज्ञी (146) विलावल (147) केदरा (148) सोरठ (149) धनात्री (150) काहरा (151) कल्याण (152) ललित (153) विकास (154) नट (155) टोडी (156) सारंग (157) मलार (158) मोरी (159) मारू (160) भैरव (161) वसन्त तथा (162) रामकली (163) का तथा श्रीकृष्ण गीतावली में दस राग रागनियों आसावरी (164) काहरा (165) केदारा (166) गौरीध (167) नात्री (168) विलावल (169) मलारघ (170) ललित (171) नट तथा (172) सोरठ का निर्देशन हुआ है।' इनके अन्तरभूत को जोड़ने से कुल पच्चीस राग रागनियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। जो इस प्रकार है आसावरी, नट, विकास, काहरा, ललित, सही, सूही, विलावल, सारंग, मारू, सोरठ, भैरव, भैरवी, दण्डक, वत, मलार, रामकली, चंदरी, विहाय, विलावल, टोडी धनात्री, जैतकी, केदारा, कल्याण।

उक्त शास्त्रीय राग रागनियों के अतिरिक्त तुलसी ने सामान्य स्त्राी समाज में गाये जाने वाले सोहर और गारी जैसे गीतों को जानकी मंगल, पार्वती मंगल और राम लला नहछू जैसे लघु ग्रन्थों में चित्रित किया है। गोस्वामी जी के प्रस्तुत राग रागिनी सम्बन्धी ज्ञान से स्पष्ट है कि वे एक महान संगीतज्ञ भी थे जिन्हें भारतीय नाद विद्या का अच्छा ज्ञान था। पं0 राम नरेश त्रिपाठी के

शब्दों में "जिनको नाद विद्या से परिचय है वे तुलसीदास के पदों को गाकर सहज ही अनुमान कर सकेगे कि तुलसी दास को संगीत शास्त्रा का केवल पुस्तकीय ज्ञान ही न था, बल्कि वे सुकठ भी थे ओर स्वर ताल और लय से पूर्ण परिचित भी।(174)

नृत्यकला गोस्वामी जी के सम सामयिक राज दरबारों की शान थी शंकर विवाह, राम जन्मोत्सव राम विवहादि प्रसंगों में गोस्वामी जी नृत्य का भी दृश्य उपस्थित किया है।

"नृत्य करहि नट-नटी, नारिनर अपने अपने रग
मानहु मदन रति विविधि वेष धरि नटत सुदेश सुदंग
"सुमन वरषि सुर हनहि निसाना। नाट नटी नाचहिं करि गाना।
नाचहिं गावहिं विविध वधूटी। वार वार नाचहिं कुसुमाजलि छूटी।
नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखति अति विपरीत वोलहिं वचन विचित्रा विधि।

नृत्य गान और वादन तीनों का संगम मानस की लंकापुरी में भी देखा जा सकता है।

बैठ जाई तेहि मन्दिर रावन। लागे किन्नर गुन गन गावन।
बाजहिं ताल प्रखावज। नृत्य करहिं अपछरा प्रवीना।

मनोरंजकता और सामाजिक प्रभाव रस और भाव आलोचना का प्रश्न है :
गोस्वामी तुलसीदास जी की रचना में साधारण तप, गणित, ज्योतिष, भौतिकी, रसायन, वनस्पति, जीव, भूर्गभ आदि शास्त्रों की गणना विज्ञान के अन्तरगत की जाती है। गोस्वामी जी के काव्य में गणित, ज्योतिष, वनस्पति और जीव विज्ञान सम्बन्धी उद्धरण देखने को मिलते हैं। अत: इनमें एक एक कर समीक्षित विचार कर लेना चाहिए।

मानस केप्रारंभ में रामशलाका तुलसीदास जी की गणितज्ञता का अच्छा परिचय देता है। रामाज्ञा प्रश्न और दोहावली में भी ऐसे उदाहरण प्राप्त है। जिसमें गणित में तुलसी की गति का प्रमाण प्राप्त होता है। 9 के पहाड़े की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 9को किसी भी संख्या से गुणा करने पर अंकों का योग ही रहता है। दोहावली में तुलसी ने अपने इस ज्ञान का परिचय दिया है।

तुलसी राम सनेह करू त्यागि सकल उपचार।

जैसे घटत न अंक नौ के लिखत पथर ।।(180)

गणित के शून्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि यदि वह किसी अंक के दाहिने रखा जाय तो उस अंकके अस्तित्व को दस गुना बढ़ा देता है। कि अंक ही न रहने पर शून्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। तुलसी ने राम चरित्रा मानस के अंक तथा 'सभी साधनों 'को शून्य रूप में प्रदर्शित किया है।

राम नाम को अंक है सब साधन है सून।

अंक गये कहु हाथ नहिं अंक रहे दस गून।

गणित के इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित अन्यत्रा तुलसी की अभिव्यक्ति देखिये।

माया जीव सुभाऊ गुन काल करन कहदादि।

ईष अंक ते बढत सब ईष अंक बिनु वादि।

तुलसी काव्य में कतिपय ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का निर्देश हुआ है। रति को द्वाद्वसी, सोम को एकादशी, सोम को दशमी, बुध को तृतीया, वृहस्पति को षष्टी शुक्र को द्वितीया और शनि को सप्तमी पडे तो समझना चाहिए कि योग अच्छा नहीं है।

रवि हर दिसि गुनरस नयनमुनिप्रथमादिक बार।

तिथि सब काजनसावनी, होई कुजोग विचार।

इसी प्रकार यदि चन्द्रमा का पहला पाचवां, नवां, दूसरा, छठां, दसवां, तीसरा, सातवां, चौथा, आठवां, ग्यारहवां, और बारहवां स्थान कृमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन में पड़े तो उसे घातक जानना चाहिए।

सिस सर नव दुइछदस गुनमुनिफल वसु हर भानु।

मेषादिक क्रम तेगनहिं घात चन्द्रं जियं जानु।।

इसी सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने दोहावली में कहा है कि श्रुति गुन अर्थात् श्रवण से तीन नक्षम, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषा कर गुन अर्थात हस्त से तीननक्षत्रा हस्त चित्रा, स्वामी पुजुग अर्थात पुनर्वसु और पुण्य, मृगशिस, हर्ष अर्थात् अश्विनी, सखाँऊ अर्थात अनुराधा, इन नक्षत्रोंा में व्यक्ति को धन या धरती का लेन-देन करना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थित में वह कभी जा नहीं सकती, हानि नही ंहो सकती।

श्रुति गुनकरगुन पु जुग मृग हप खेती सखाऊ।

देहि लेहि धन धरनि धरू गएहुँ न जाइहि काऊ।

इसी के सदृश एक औरदोहादेख लेनाआवश्यक है। अगुन अर्थात ऊ सेतीन ऊपरा फाल्गुनी ऊपरात्पाद और ऊपर भाद्रपद, यु गुनअर्थात् यु से तीनपूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ और पूर्व भाद्रपद, वि अर्थात् विशाखा, अज अर्थात् रोहणी, कृ अर्थात् कृतिका, म अर्थातमध्य, ऊअर्थात् आर्द्रा, भ अर्थात्, भरणीअ अर्थात् अशले पर भुअर्थात् मूलइननक्षत्रों में चोरी गया हुआ धरोहर दिया हुआ, गाडा हुआ और उधार दिया हुआ धन फिर हाथ नहीं आता।

अपुन पू गुन वि अज कृ म आ म आ म अ मू गुन साथ।

हरो, धरो गाड़ो दियो धन फिर चढै न हाथ।

तुलसीदास को ज्योतिष सम्बन्धी यह भीज्ञान है कि जन्म कुण्डली में छठा स्थान शत्रु का सातवांस्थान स्त्रीका आठवां स्थान मृत्यु का होता है। गोस्वामी जी ने यह विनोद किया है कि शत्रु और मृत्यु के बीचमें स्त्री का स्थान होता है।

''जन्म -पत्रिका बरति के देखहु मनहि विचारि।

दारून बैरी भीचु के बीच विराजित नारि।

तुलसी काव्य के अन्तरगत अनेक स्थल ऐसे हैं। जो गोस्वामी जी के वनस्पति विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत करते है। भारत की भौगोलिक स्थिति और तदनुकूल प्रकृति और वनस्पति के गुणों का निरुपण गोस्वामी जी ने किया है। वास्तव में आक (मंकार) और जवासे के पत्ते झड़ जाते है। तुलसी ने इसका संकेत मानस किकिन्धा काण्ड में किया है।

''अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जससुराज खल उघम गयऊ।

केले के वृक्ष में वह गुण होता है कि एक बार फल जाने पर उस वृक्ष में दोबारा फल नहीं लगते है। और उसको काट देने पर अनेक नये वृक्ष उसका स्थान ले लेते हैः

काटहि पइ कदरी फरई कोटि जतन कोऊ चिंच।

विनय न मान खगेभ सुनु डाटेहि पइ नव नीच।।(189)

घेनोई बांस का एक रोग होता है। जिससे ग्रस्त बांस की जड़ में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं। इससे बांस की वाढ़ तो रुक ही जाती है। नये कले निकलना बंद हो जाते है। गोस्वामी जी ने इस घेनोई रोग का उल्लेख मानस में किया है।

अव ही ते उर संसय होई,बेनु मूल सुत भयऊ घनोई।(190)

भोज पत्रा एक वृक्ष की छाल है। इस वृक्ष का तना छालों की तह से बना होता है। इन छालों के परत निकाल कर प्राचीन काल में उस पर लिखने

का कार्य किया जाता था। खाल देकर भी जन सामान्य का हित करने वाले इन वृक्षों को गोस्वामी जी ने सत के समान कहा है।

''मूज तरू सम संत कृपाला। परहितनितिसह विपति विसाला।।''(191)

जल में उत्पन्न होकर भी कमल के पत्रा पर जल के स्पर्श का प्रभाव नहीं होता है। संसार में रहकर संसार से निर्लिप्त महापुरूषों के लिये ये कमल के पत्रा उपमान स्वरूप प्रस्तुत किये गये है

''जे बिरंचि निरलेप उपाए।पदुम पत्रा जिमि जग जल जाए।।''(192)

जब किसी को सांप काट लेता है। तो उसे नीब की पत्ती चबवाई जाती है। सर्प के विष से प्रभावित व्यक्ति को विष की तीव्रता के कारण वह कडवी नहीं लगती। गोस्वामी जी ने ''विनय पत्रिाका'' में इसकी चर्चा की है।

''काम भुजंग तुसत जब जाही। विषय नींम कटु लागत न ताहीं।(193)

मोर शिखा नाम की एक लता होती है। जो बिना जड़ की होती है। वरसात में वादलों की गर्जना सुनकर पलवित हो उठना उसकी प्रकृति है। गोस्वामी जी इस प्रकृति से परिचित है। तभी तो वह कहते है :

''तुलसी मिटे न मारि मिटेहु सांचों सहज सनेह।
मोर शिखा बिनु मूरिहूँ पलुहत गरजत मेह।।(194)

जीव जन्तुओं के स्वभावों से सम्बन्धित बहुत सी बातों का उल्लेख गोस्वामी जी के काव्य में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पहले पानी पड़ने पर उसमें जो फेन निकलता है। वह माजा कहा जाता है। उसे खा लेने पर मछलियां अचेत होकर पानी के ऊपर उतराने लगती है। ऐसी स्थिति में बहुत सी मछलियां मर भी जाती है। एक उपमान के रूप में गोस्वामी जी ने मछलियों की ऐसी स्थिति का चित्राण किया है:

''नयन सजल तन थर थर कांपी। माजंहि खाए मीन जुनु मापी।।(195)

कछुआ अपने अंडे को पानी के बाहर बालू में रखकर इन्हें सेता है। पानी के प्रवाह में भोजन की ईषणा में कछुआ चाहे जितनी दूर बहता चला जाये परन्तु उसके प्राण तटवर्ती सिकता में स्थित अपने अंडों में बसे रहते हैं। तुलसी काव्य के एकाधिक प्रसंगों में कछुए की अंडों के प्रति इस विशेषता की चर्चा है।

''रामहि बन्धु सोच दिन राती। अंनुहि कमढ हृदयभांति जेहिमांती।(196)

कुटिल करम लै जांहि मोहि जहं जहं अपनी बरि आई।

तहं तहं जानि छिन छोह छाडियो,कमट अंड की नाई।(197)

भंवरा फलों का रस पान करता है। किन्तु वह चम्पे का रस पान नहीं करता। जनुश्रुति है कि भंवरे की चम्पा की तीक्षण गन्ध रुचिकर प्रतीत नहीं होती भंवरे के एक ऐसे स्वभाव का चित्राण मानस की प्रस्तुत पंक्तियों में दृष्टव्य है।

''तेहि पुर बसत भरत बिन रागा। चचरीक जिकि चंपक वागा।(198)

कहा जाता है कि चूहे के धोखे में छछूंदर को निगल जाने वाले सांप की बड़ी द्विविधापूर्ण स्थिति हो जाती है। यदि वह छछूंदर को खा लेता है तो मर जाता है। और छोड़ता है तो आहार जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने समाजिकता के साथ-साथ समाज में व्याप्त सुन्दर भावनाओं को व्यक्त किया है वही तमाम तरह की सामाजिक बुराइयों को भी उल्लखित किया है। तथा इस प्रवाह आदि का व्यापक रूप से संयोजन किया है। उदाहरणार्थ लक्ष्मण जी के शक्ती लगने पर श्री रामचन्द्र जी के उदगार गोस्वामी जी के शब्दावली में है लक्ष्मण के न रहने पर जीवन के प्रति लक्ष्मण के बिना अकेले अयोध्या लौटने की सम्भावित ग्लानि सहोदर के रूप में लक्ष्मण के उल्लेख से व्यक्त प्रेमातिशय जनित ईर्ष्या उन्माद तथा आत्मघात का विचार इत्यादि भावों की अभिव्यक्ति से काव्य रस का पूर्ण परिपाक हो सका है।

''जैहऊ अवध कौन मुह लाई, नारि हेतु प्रिय भाई गवाई।

वरू अपजस सहतेऊ जग मांही, नारि हानि विशेष छति नाही।

एक उदाहरण नारद जी के दर्प को समाप्त करने के लिये नारद मोह विवरण द्वारा दर्शाया गया है। जिसमे हास्य रस प्रधान है।

''जेहि दिसि बैठे नारद फूली,सो दिसि तेहि न विलोकी भूली।

पुनि पुनि मुनि उकसहि अकुलाहीं,देखि दशा हरगन मुसुकाही।

स्वयंवर में नारद जी की आंगिक चेष्टाये ही हास्य रस की बेहतरीन व्यवस्था है। शिव वारात एवं परशुराम प्रसंग में हास्यरस व्यंग मिश्रित है। वनमार्ग में सीता से सखियों का हास, परिहास स्थित का सुन्दर निर्दशन है। वहां हास्य मधुर भाव तक सीमित है। इसी प्रकार शिव बारात में विधाता एव विष्णु द्वारा शिव के प्रति किये गये व्यंग्य में हास परिहास द्वारा उनके औदार्य की व्यंजना की गयी है। शुद्व हास्य की व्यंजना शिव क बारात में की गयी है।

नाना वाहन नाना वेषा, विहसे शिव समाज निज देखा।

कोऊ मुखहीन विपुल मुखकाहू, बिनु पद कोऊ बहु पद काहू।

विपुल नयन कोऊ नयन विहीना, रिष्ट पुष्ट कोऊ बहु पद बाहू।

तन खीन कोऊ अति दीन पावन,कोऊ अपावन गति धरे।

भूपन कराल कृपाल कर सब सध सामित तन करे।

स्वर स्वान सुन्दर सुकालु मुख,मन वेष अगनित को गैन।

बहु जिनस प्रेत पिशाच, जोगि जमात वसत नहि बनै।

इसी तरह परशुराम प्रसंग में व्यंग विरोध धरातल पर प्रतिष्ठित है। वहां हास्य विरोधी के प्रति अनादर पूर्ण व्यवहार से युक्त होने के कारण उसमें कटुता और तीक्षणता प्रचुरांश में विद्यमान है। लक्ष्मण का निम्न कथन व्यंग को उद्वपित करने वाला है।

है। और उसकी असभ्यता से उत्पन्न वातावरण ने बैयरीत्व की सफल श्रृष्टि की है। धनुष भंग के साथ मिथिला में वीर रस को प्रणय प्रकरण पूर्ण होता है किन्तु शिव धनुष से पराभूत राजाओं का राम से सीता छीनने का विचार व्यक्त करवाकर यह धारणा रखी गयी है। जो परशुराम के आगमन एवं लक्ष्मण के निर्भीकता के प्रदर्शन के बाद यह रस पूर्ण रूपेण पुष्ट होता है। श्री राम के चार भेद है। युद्ववीर, दयावीर, दानवीर, एवं धर्मवीर किन्तु युद्ववीर में ही वास्तविक रूप से रस का परिपाक होता है। राम लक्ष्मण हनुमान अंगद इत्यादि पात्रों की वीरता एवं युद्धोत्साह के वर्णन में वीर रस की सफल व्यंजना हुई है। मानस के लंका काण्ड में वीर रस का बड़ा ओजस्वी वर्णन है।

सुनि आगवन दशानन केरा, कपिदल खरभर भयेऊ घनेरा।
जहं तहं भूधर विटप उपारी, धाए कटकटाई भट भारी।
छापे जो मर्कट विकट, भालु कराल कर भूधर धरा।
अति कोप करहि प्रहार भारत, भजि चले रजनीचरा।
विचलाई दल वलवन्त की संह, छेरि पुनि रावन लियो।
चहु दिसि चमेरिन्हि नखहिं, विदारि तनु व्याकुल कियो।

वीर रस का सहचरी रौद्र रस है। उसकी अभिव्यक्ति विशेष रूप से राम रावण युद्ध में हुई है। इसके अतिरिक्त हनुमान अंगद और राम के क्रोध में इसकी अभिव्यक्ति सफलता पूर्वक हुई है। राम के क्रोध का वर्णन दृष्टव्य है।

भये कुद्ध जुद्ध विरूद्ध रघुपति, तीन सापक कसक से।
कोदण्ड धुनि अति चंद सुनि, भनुजाद सब मारूत ग्रसे।
मंदोदरी डर कंप कपति कमठ भू भूधर कसे।
चिक्कारहि दिग्गद दसन महि देखि कौतुक सुर हसें।

वीर रसका विपरीत भाव भयानक रस है। मानस में भाव स्तर पर भय की अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग से हुई है। भयानक की अभिव्यंजना के अनेक स्थल है। शिवजी की बारात देखकर हिमवान के परिवार के लोगों को, परशुराम को देखकर जनक सभा में आगत नरेशों को, राम के अनेक रूपों को देखकर सती को हनुमान के द्वारा लगाई गयी अग्नि को देखकर लंका के निसिचरां को जो भय होता है। उसके वर्णन में भयानक रस की भयानकता दृष्टिगोचर होती है। लंका दहन से त्रास्त्रा लंका निवासी अंगद जी को आता हुआ देखकर कितने भयभीत हैं। इसका चित्राण दर्शनीय है

''आयो !आयो । आयो! कोई वानरूबहोरि! भयो
सोक चहु ओर लंका आये जुवराज के
एक काढै सोज एक, धौज को कहा हैहि।
पोच भई, महासोच, सुभट समाज के।
गडयो कपिराज रघुराज की सपथकरि।
मूदेकान, जात धान मानो गाज गाज के।
सहमि सुरवात बात जात को सुरविकर।
लवा ज्यों लुकात तुलसी भवेरे बाज के।

इस प्रकार संसार की तमाम प्रकार की अच्छाइयों, बुराइयों का समाधान गोस्वामी जी के काव्य में विद्यमान है। जो कि समाज को बुराइयों से दूर एवं अच्छाइयों के समीप में लाने में सक्षम है। लोकोपचारी व्यवस्थाएं स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है। तमाम प्रकार की बुराइयों को जो समाज हित में नहीं है। सुधार के उपाय सहित दर्शाया गया है। इस अद्‌भुत विधान को एकएक चौपाई, में अकूत गूढ रहस्य विद्यमान है। आवश्यता है तो सिर्फ उसे खोजने की, उसके अनुसार चलने की उसमें रम जाने की इस प्रकार हम तमाम विचार विमर्श की स्थिति में पहुंचते हुए इस विन्दु पर पहुंचते है कि गोस्वामी तुलसीदास जी युगदृष्टा थे।

****

तृतीय अध्याय

भाषा और कला का अन्तर सम्बन्ध
भाषा के विविध प्रयोग, सामाजिकता का रचनात्मक प्रयोग

भाषा और कला का अन्तर सम्बन्ध :

अध्यात्मिक पथ के प्रसिद्ध साधक गोस्वामी तुलसीदास सिद्ध कवि और वाणी के सम्राट थे। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। साथ ही उनकी रचनाओं की विशेषता इस बात में है कि उनके भीतर उनका अपना भाषा विषयक निजी दृष्टिकोण व्याप्त है। तुलसी का यह दृष्टिकोण वर्षो से साहित्य के अन्तरगत चली आती हुई लोक भाषा के व्यवहार की परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है। वे अपनी लगभग सारी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के भीतर समकालीन भाषा सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा उनकी विभिन्न रचनाओं में विविध रूप रंगों के साथ विद्यमान है।

सामान्यतया तुलसी के इस दृष्टिकोण को निश्चित रुप देने वाले कारण रुप दो ही प्रमुख तत्व हैं। एक तो उनका ऐकान्तिक निजी अध्ययन और अनुभव दूसरे उनके पूर्वकालीन अथवा समकालीन विशिष्ट साहित्य, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियां और परम्परायें जिनके बीच रहकर उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की। स्वभावत: समन्वयवादी कलाकार होने के नाते तुलसी ने शुद्ध संस्कृत भाषा के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं सम्मान रखते हुए भी जनभाषा को अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया। यही कारण है कि तुलसी ने जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति भाषा के क्षेत्र में भी विरोधी मतों एवं तथ्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में स्प्रहणीय सफलता प्राप्त की है।

तुलसी की अपनी भाषा विषयक धारणा का संकेत उनके ग्रंथों में हुआ है। 1. दोहावली 2. रामचरित मानस 3. दोहावली के अन्तर्गत वह कहते हैं।

''का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साच।

काम जो आवे कामरी, का लै करै कुमांच।।

मानस में भी इसी प्रकार का कथन है।

भाषा बद्ध करबि मै सोई मोरे मन प्रबोध जेहि होई।

यत्वा तद्रघुनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये।

भाषा बद्धमिदं चकार तुलसीदास स्तथा मानसम।।

स्पष्ट है कि दोहावली की पंक्तियों ने सस्कृत की अपेक्षा भाषा की सरलता एव जनसुलभता तथा मानस की पंक्तियों में कवि भाषा विषयक व्यक्तिगत अभिरुचि एवं प्रेरणा की ओर संकेत है। यहा पर 'भाषा' से तत्कालीन जनबोली का ही अर्थग्रहण करना समीचीन होगा।

'दोहावली और मानस' में उपलब्ध कथनों के आधार पर तुलसी का आशय कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है। कि जनोपयोगी एवं लोकप्रिय साहित्य का माध्यम जनभाषा ही कर सकती है। इस प्रकार उनका भाषा विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ जनहित को ध्यान में रखते हुए निर्मित हुआ है।

तुलसी की यह विचारधारा इन्हीं के कुछ पूर्वर्ती कवीरकी निम्नलिखित भाषा विषयक घोषणा का कितना निकट से समर्थन करती जान पड़ती है।

''संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर ।''

कवीर और तुलसी के भाषादर्श ऊपर से देखने में एक जान पड़ते हैं। किन्तु दोनों में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है। जो तुलसी के दृष्टिकोण की भिन्न विशेषता की ओर इंगित करता है। कवीर संस्कृत की तुलना 'कूप जल' से तथा भाषा को 'बहते नीर' का भेद सर्वथा इसी कोटिका नहीं कहा जा सकता जैसे कुमांच और

कामरि की समता केवल एक बात में है। वह इसमें कि 'बहते नीर' और 'कामरी' की भांति जन बोली अधिक सुबिध जनक एवं व्यवहारोपयोगी है। बहता नीर कामरी और जनभाषा इन तीनों वस्तुओं तक राजा से लेकर रक तक सारी जनता की पहुंच बराबर रहती है। किन्तु बहते नीर की भांति जनभाषा में जो स्वच्छन्द क्षेत्र एवं स्वाभाविक प्रवाह रहता है । उसकी कोई भी समता क्लिष्ट एवं दुरूह संस्कृत से जो कबीर की उपर्युक्त पंक्ति के अनुसार कूपजल की भांति एक संकुचित सीमा में आबद्ध है । तथा साथ ही दुर्लभ है नहीं हो सकती । यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि संस्कृत सचमुच कवीर जैसे व्यक्तियों के निकट कूपजल के समान दुर्लभ थी, दुर्बाध थी इसी से संस्कृत को 'कूपजल' की समता देना तत्कालीन जनता के बोधस्तर का प्रतिनिधित्व तो अवश्य करता है। किन्तु संस्कृत भाषा के प्रति उनके परिचय भाव के कारण उनकी इस उक्ति में अधिकारिता का स्तर नहीं आ पाता दूसरी ओर तुलसी संस्कृतज्ञ थे। इसलिए उनकी दृष्टि में संस्कृत कूपजल न थी । किन्तु फिर भी वे उसकी कुमाच से समता देकर 'कामरी' जैसे जनभाषा का ही प्रधान माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी उक्ति का आशय बहुत कुछ इस प्रकार का है । संस्कृत कुमाच अर्थात् दुशाला की भाँति स्वयं उनके लिए सुलभ होते हुए भी जनसाधारण के स्तर के निकट अपने को रखने में उनके लिए इतनी सहायक न होती। फिर जितनी 'कामरी' की सी सस्ती भोली भाली जनभाषा यहाँ सम्भव है कि कबीर ने भी जानबूझकर अपने को 'जलकूप' में जनता को ही संस्कृत विषयक ज्ञानभाव का निर्देश करना चाहा हो। और इस प्रकार लोकहित का ध्यान रखते हुए अपनी बात कही हो न कि संस्कृत के प्रति अपनी अश्रद्धा व्यक्त करने के लिए। हमारे उक्त विवेचन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि तुलसी का दृष्टिकोण सर्वथा उसी कोटि का नहीं कहा जा सकता जैसा कबीर का तुलसी में संस्कृत को विशेष

प्राश्रय न मिलते हुए भी उनमें उसके प्रति श्रद्धा की झलक विद्यमान है। संस्कृत है तो 'कुमाच' जो जनभाषा रूपी 'कामरी' से कहीं आकर्षक एवं मूल्यवान पदार्थ है। तुलसी जनकवि के होते नाते 'कुमाच' के स्थान में 'कामरी' से काम चला लेना अधिक पसन्द करते है ।

तुलसी की इस धारणा का बीज बहुत कुछ कबीर क भी पूर्ववर्ती अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी के कवि स्वयं भूदेव तथा मैथिली कवि विद्यापति जैसे कलाकारों में भी खोजा जा सकता है। जिनके भाषा विषयक आदर्श में लोकभाषा को विशेष महत्व दिया गया है। इस विषय में स्वयंभू के रामायण की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

"अखर बांस जलोह, मनोहर । सुपलंकार-हल्दं मच्छोदर ।
दीह समास पवाहा, बकिय । सक्कय पादय पुलिरलकियम ।
देसी मासा उभय तदुजल कति छुक्कर धारा सद सिकदल।
अथ बहल कल्लोला पित्तिय आशा सय राम अह परिहिय।
राम कहा सरि यह सोहन्ती..... .. .. इत्यादि।

अर्थात् अक्षरों का समुदाय ही मनोहर जल समूह है। सुन्दर अलंकार और छन्द मत्स्यों के समूह हैं। दीर्घ समास ही वक्र प्रवाह है। सस्कृत प्राकृत रूपी पुलिन से अलंकृत है। देशी भाषा दोनों उज्ज्वल तट हैं। कवि के दुष्कर सघन शब्द ही शिलातल है। अर्थबाहुल्य रूपी तरंगों से युक्त है। आश्वासक (सर्ग) प्रवेश करने के लिए तीर्थ (सीढ़ी) हैं । वह राम कथा सरिता इस प्रकार शोभायमान है।

विद्यापति का भाषा विषयक विचार उनकी 'कीर्तिलता' में इस प्रकार व्यक्त किया गया है-"सक्कय वाणी बहुअ न भावइ। पाइयु रस को मझ न पावइ।
देसिल वउना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जम्दओं अवहटटा।

अर्थात् संस्कृत भाषा बहुत लोगों को अच्छी नहीं लगती। संस्कृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती अर्थात् सरस नहीं होती। देशी भाषा सबको मीठी लगती है। इसी से अवहट्ट में रचना करता हूं।

स्वयंभू के देशी भाषा उभय तजुल तथा विद्यापति के देसिल बअना सबजन मिट्ठा शब्दों में गूँजने वाला स्वर ही आगे चलकर तुलसी की वाणी को बोलता है।

भाषा विषयक इस दृष्टिकोण में तुलसी की जनभाषा के प्रति एक स्वाभाविक अभिरुचि तथा उसकी जनोपयोगिता में उनका विश्वास तो स्पष्ट हो ही जाता है। परन्तु हिन्दी साहित्य में तुलसी के समय में ही एक ऐसी प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं जिसके अनुसार जनभाषा में रचना करते हुए भी कवि की संस्कृत के प्रति विचित्र धारणा बनी रहती थी उसने जनभाषा को माध्यम के रूप में ग्रहण करते हुए एक प्रकार के हीनत्व की भावना विद्यमान रहती थी। केशव इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ते हैं जब वे कहते हैं

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुलके दास ।

भाषा कवि भो मंद मति, तेहि कुल केशव दास ।

केशव इस बात में एक प्रकार से कबीर और विद्यापति आदि के ठीक विरोधी होकर चलते हैं। क्योंकि वस्तुतः कबीर ने संस्कृत में प्रवेश किये बिना ही उसको कूपजल कहने का साहस किया था और केशव ने जनभाषा की प्रवाहात्मकता का महत्व न समझने के कारण उपर्युक्त विचार हमारे समक्ष रखा। यह तो कबीर की वाणी की ही शक्ति तथा उनके तीव्र अनुभव का ही मानो परिणाम था, कि उनका कथन पर्याप्त आधार भूमि न रखने पर भी तथ्य के अधिक निकट आ गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि गोस्वामी तुलसी दास जी केशव की ही भांति संस्कृत के प्रति तीव्र श्रद्धा तो रखते थे किन्तु जनभाषा के

विषय में केशव की सी पद्धति उनमें क्यों न थी उनके कथनों में बाहर से देखने पर उनकी भावना केशव के सदृश जान पड़ती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में-

"भाषा भनिति मारि मति मारी, हंसिवे जाग हसनाहि खोरी।।
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असंमजस अस मोहि अंदेसा।
स्याम सुरभि पथ विषद अति, सुखद करिह सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहि सुजान।।

किन्तु इसके साथ ही जब निम्नलिखित पक्तियों में निर्दिष्ट उनके सकल्प की दृढ़ता तथा उसके रमणीयता का संकेत करने वाले उल्लेखों पर ध्यान देते हैं तो कुछ विस्मय सा होता है।

"स्वान्तः सुखाय, तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध मति मंजुल मात नेति।
सपेन्हु सान्हेहु मोहि पर, जोर हर गौरि प्रसाऊ।
तो फुर होऊ जो कहुउ सब भाषा भनिति प्रभाऊ।

जो कवि अपने प्रबोध के लिए अथवा स्वान्तः सुखाय के लिए ही रचित रघुनाथ गाथा के भाषा निबन्ध को अतिमंजुल का विश्लेषण देने को उत्सुक हैं तथा जो भाषा भनित के प्रभाव को अपने कथन की शक्ति में महत्वपूर्ण मानता है। वह यदि अन्यत्र 'ग्राम्यगिरा' अथवा भदेश भनिति जैसे शब्दों द्वारा अपनी भाषा का गवाँरुपन व्यक्त करना चाहता है। उसमें आत्म दैन्य के प्रदर्शन की वृत्ति के सिवा और क्या समझा जाय। उसमें वस्तुतः तुलसी की अनिछा होते हुए भी केशव विषयक धारणा के प्रति व्यंग विद्यमान है। साथ ही उस समय तक साहित्य के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त न होने क फलस्वरूप जनभाषा की व्यजना शक्ति यथेष्ट उद्घाटन की अर्पूणता की ओर भी सूक्ष्म अंकित किया गया है। अतः यह बात सोलह आने सच जान पड़ती है कि तुलसी ने जनभाषा को

अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया था तो यह विशुद्ध जनोपयोगिता के विचार से तथा अपनी पूर्व गौरव एवं आत्मविश्वास के साथ संस्कृत के प्रतिपूर्ण श्रद्धा होते हुए भी जो उनके मानस तथा 'विनय पत्रिका' के श्लोकों तथा स्रोतों से और भी स्पष्ट हो जाती है। जनभाषा के प्रति उनमें किसी प्रकार की अनावश्यक हीनता का भाव नहीं था। संस्कृत छन्दों की रचना में सिद्धहस्त होते हुए भी 'मंजूल भाषा निबन्ध' के प्रति उनका आग्रह वस्तु स्थिति को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देता है। देववाणी के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति उनके मर्यादावादिता को व्यक्त करती है। जनवाणी की उपयोगिता की घोषणा अनावश्यक रूढ़ियों को तोड़कर प्रगतिशील होने की प्रवृत्ति की द्योतक है।

तुलसी की यह प्रवृत्ति एकदम नई न होकर साहित्य में लोकभाषा व्यवहार की एकदेश व्यापी परम्परा के भीतर आती है। यह परम्परा उनके पहले से ही चली आ रही थी और उसके प्रमुख प्रवर्तक थे धर्म प्रचारक संत एव भक्त । उन्हें जनता के संस्कृत ज्ञान के स्तर की कमी को देखकर ऐसा जान पड़ा कि साहित्यिक संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा के माध्यम से ही अपने संदेशों एवं उपदेशों का प्रचार अधिक उपयोगी एवं सुविधाजनक होगा यद्यपि उनमें से कितनों को ही इस क्षेत्र में उन रूढ़िवादी संस्कृत-पण्डितों का उग्र विरोध भी सहना पड़ा जो लोकभाषा में काव्य के नाम से चिढ़ते थे । इस प्रकार के तीव्र विरोध के समक्ष किसी प्रकार घुटना न टेकने वाले इन आध्यात्मिक धरा कवियों ने अपना कार्य दृढ़ता के साथ जारी रखा और अन्ततः सफल हुए। तुलसी को भी इन्हीं में से एक ऐसा मध्यम मार्गीय व्यक्ति समझना चाहिए जिसने अपने कतिपय अन्य पूर्णकालीन अथवा समकालीन लोगों की एकांगी रुख न धारण करते हुए यत्रा-तत्रा सस्कृत के पुट के साथ जनभाषा का स्वरूप प्रस्तुत करके एक सतुलित एव लोकप्रिय दृष्टिकोण अपनाया जो उनके व्यक्तितत्व की व्यापकता का परिचायक है।

तुलमी के भाषा विषयक दृष्टिकोण पर संस्कृत भाषा के द्वन्द्व से सम्बन्धित उपर्युक्त परम्परा एव आन्दोलन की छाप का निर्देश करके जब हम तत्कालीन सामान्य साहित्यिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि वे जिस युग में रचना करने बैठे उस समय समस्त हिन्दी भाषा प्रदेश में ही नहीं वरन् उनके बाहर भी दूर-दूर तक काव्य के माध्यम के रूप में एक ही भाषा प्रमुख थी। जो मूलत: एक प्रादेशिक बोली होते हुए भी एक प्रकार से देश भर की माहित्यिक राष्ट्रभाषा के पथ पर प्रतिष्ठित हा चुकी थी। वह है ब्रजभाषा इसकी पुष्टि ऐतिहासिक तथ्यों से तथा तत्कालीन महापुरुषों के जीवन वृत्त आदि से बराबर हो जाती है। अन्य कवियों की भॉति तुलसी भी इस परिस्थिति के प्रवाह से अछूते न रह सके। किन्तु उसका उपयोग उन्होंने अपने ही ढंग से किया।

1. इस सन्दर्भ में डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (मकरद (निबन्ध संग्रह) पृष्ठ 117 सम्पादक डा0 भागीरथ मिश्र) का कथन है कि मुझे स्वयं कुछ वर्ष पूर्व एक ऐसे वयोवृद्ध संस्कृत विद्धवान मिले थे जो वैदिक साहित्य के अच्छे ज्ञाता तथा तत्सम्बन्धी कई ग्रन्थों के सम्पादक एवं टीकाकार थे। और बहुत ममय तक आर्य समाज के कार्यकर्ता भी रहे थे। उन्हें इस बात का बड़ा खेद था जिसे वे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया करते थे कि जब से तुलसीदास की रामायण का प्रचार बढ़ा। तब से वेदों के प्रति जनता की श्रद्धा तथा उनके अध्ययन की अभिरुचि ही समाप्त हो गयी उनकी समझ में वैदिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में तुलसी का रामचरित मानस एक बड़ा भारी कंटक रहा है।

2. हमारे सांस्कृतिक जीवन में ब्रजभापा का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है उसे उत्तर भारत का सांस्कृतिक माध्यम समझना चाहिए वह हमारी भक्ति भावना की विभूति की अनुपम निधि और साहित्य सुषुमा की अभिनव चित्रशाला है। सूरदास और

भक्त कवियों ने अपने उद्‌गारों की अमृत वर्षा से इन मधु मधुरवाणी को सिंचित किया। और बिहारी आदि कलाकारों ने अपने जगमगाते रत्नों से अलंकृत किया। वैष्णव आंदोलन की कृपा से मध्य युग में ही वृज भूमि की सीमा को लांघकर भारत व्यापिनी हो गयी सहृदय भक्त मात्र बिना किसी प्रान्त भेद के तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे जब तक कृष्ण की जन्म भूमि की भाषा में ही भगवान के सम्मुख आत्मनिवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकदेव, तुलराम, नारसी मेहता, चण्डीदास, आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली वैष्णव संतों ने ब्रजभाषा में अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया है। बंगाली भक्त समुदाय ने तो अपनी अलग ही 'वृजशैली' बना डाली। जो कृत्रिम होने पर भी ब्रजभाषा के अखिल महत्व को भली भांति प्रकट करती है।

तुलसी ने कई महत्वपूर्ण ग्रंथ जैसे 'विनय पत्रिाका, श्रीकृष्णगीतावली आदि की रचना प्राय: विशुद्ध ब्रजभाषा में ही की। और इस लिए उसकी लोकप्रियता अथवा व्यापकता की स्वीकृति उनमें भी विद्यमान है ही। परन्तु यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ एवं प्रतिनिध्‍ि -कृति रामचरित मानस का माध्यम ब्रजभाषा को न बनाकर अवधी को ही बनाया है। वस्तुत: इसके पीछे कई दृष्टिकोण सम्भव है जिनका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा यहां पर केवल इतना ही निर्देश पर्याप्त होगा कि दोहा चौपाई शैली अथवा वरवै अथवा सोहर जैसे लोकछन्दों की पद्धति पर परम्परागत और समसामयिक दोनों ही परिस्थितयों के विचार से अवधी में काव्य रचना ब्रजभाषा की अपेक्षा स्वाभावत: तुलसी को अधिक स्वाभाविक एवं सुविधा जनक प्रतीत हुई होगी।

इस प्रकार तुलसी ने समकालीन साहित्यिक मान्यताओं की यथेष्ठ मर्यादा रखते हुए भी अपनी मौलिकता एवं सारगहिर्ता के बल पर अपनी भाषा के स्वतंत्र विकास को एक व्यापक रूप में उपस्थित किया।

यह हुआ तुलसी का निजी दृष्टिकोण इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक, राजनैतिक एव धार्मिक सस्कारों और परिस्थितियों का भी तुलसी भाषा विषयक प्रवृत्तियों के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा हैं जिसका सक्षिप्त निर्देश आवश्यक है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि तुलसी का युग राजनैतिक दृष्टि से एक ऐसा युग था जिसका शासन सूत्र ऐसे मुसलमानों के हाथ में था जो अभारतीय भाषा भाषी तथा बहुत अंशों में भारतीय भाषा विरोधी थे। इस समुदाय की रग-रग में अपने धर्म और संस्कृति के साथ-साथ अपनी भाषा के प्रचार की प्रवृत्ति भी बहुत प्रबल थी और किसी न किसी साधन द्वारा उसका भी जनता में प्रचार करना उनका एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम बना हुआ था यहां के सामाजिक जीवन की अन्य व्यवस्थाओं की भांति भाषा सम्बन्धी धारणाओं को भी अधिक तीव्र गति प्रवाहित करने के अभिप्राय से राजकीय क्षेत्र में तदनुकूल परम्परायें चलायी गयी इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है सारी भारतीय भाषाओं की अवहेलना स्वाभाविक थी। जिसके दुष्परिणाम का अवशेष आज भी किसी न किसी रूप में भुगतना पड़ रहा है । यद्यपि यह सत्य है कि अकबर जैसे बादशाहों के दरबार में ब्रजभाषा के कवि वर्तमान थे । और स्वयं अकबर भी ब्रजभाषा में कविता करता था, किन्तु इससे व्यापक वस्तु स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आ सका था । कुछ भी हो तुलसी को अपने समकालीन अन्य कवियों की भांति अद्वितीय है ।

इस परिप्रेच्छ में सामान्य रूप से भाषा वैज्ञानिक आधार पर तुलसी द्वारा व्यवहृत समस्त शब्दावली का विभाजन निम्नलिखित पाच वर्गों में किया जा सकता है।

1. संस्कृत भाषा के तथा उसी से सीधे ग्रहण किये हुए तत्सम हिन्दी शब्दों का वर्ग ।

2. प्राकृत पालि, अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं का प्रवाह स्पष्ट करने वाले शब्दों का समूह।

3 विदेशी भाषाओं के तत्सम अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव शब्दों का वर्ग।

4 इतर प्रान्तीय भाषाओं से लिये गये देशज शब्द।

5. हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के अन्तर्गत बोली जाने वाली विविध बोलियों तथा उपबोलियों के रूप में बिखरी हुई जनभाषा के शब्द।

इन वर्गो का क्रमशः विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए हम इनके सापेक्षिक महत्व का अध्ययन करेंगे।

1. संस्कृत तत्सम शब्द :

इस वर्ग के अन्तर्गत संस्कृत श्लोकों की भाषा में व्यवहृत शब्द तथा अधिकाधिक संस्कृत तत्सम शब्दावली समन्वित स्फुट स्रोतों अथवा गीतों की भाषा में व्याप्त प्रयोग विशेष रूप स आत हं। इनका मूल्यांकन करन क लिए सबसे पहले इस बात को स्मरण कर लेना चाहिए कि तुलसी दास जी अपनी कृतियां संस्कृत भाषा में नही वरन् किसी जन भाषा में ही जिसे उस काल की भाषा में 'भाषा ही कहना अधिक उपर्युक्त होगा। प्रस्तुत करना चाहते थे उसका प्रबल प्रमाण यही है कि संस्कृत छन्द रचना का ज्ञान रखते हुए भी उन्होंने एक छोटा सा नाम मात्र का ग्रंथ भी रहीम जैसे अहिन्दी मुसलमान कवि तक ने 'मदनाष्टक' जैसे संस्कृत ग्रंथ की रचना कर डालने का साहस किया था। संस्कृत भाषा में नहीं उपस्थित किया । यह परम्परा पालि, प्राकृत अपभ्रंश काल से ही आरम्भ हो चुकी थी । तुलसी के पूर्वकालीन अपभ्रंश काव्य तथा इतर हिन्दी काव्य के प्रवाह में संस्कृत भाषा का काव्य के रुप में ग्रहण लगभग बिल्कुल बंद हो चुका था ।

कवि और जनता दोनों माध्यम के लिए संस्कृत कुछ दुर्बोध एवं अव्यवहारिक हो चली थी । मंगलाचरण तथा प्राय: अन्त में सस्कृत श्लोकों का व्यवहार अपभ्रंश साहित्य में परम्परा से चला आ रहा था ।

संस्कृत श्लोकों की जो भी थोड़ी सी रचना उन्होंने की है वह केवल देववाणी की पवित्रता के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए तथा विशेषकर इस भाव को स्पष्ट कर देने के उद्देश्य से की वे न तो सस्कृत के प्रति कोई उपेक्षा अथवा न आदर की भावना के कारण न उससे अनभिज्ञ होने अथवा उस पर अधिकार न रखने के कारण किन्तु विशुद्ध जनापयोगिता की दृष्टि से जनभाषा तथा भाषा को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाने का निश्चय किया । किसी परिस्थिति जन्य विवशता के कारण भी नहीं जिसके फलस्वरूप उन्हें केशव की भांति अपने इस कृत्य पर किसी प्रकार के पश्चाताप का अनुभव हो किन्तु उस काल में स्वात: सुखाय तथा साथ ही सर्वजन हिताय दोनों ही दृष्टियों से जो उन्हें सबसे श्रेष्यष्कर मार्ग जान पड़ा वह उन्होंने पकड़ा । प्रश्न हो सकता है कि क्या भाषा के साथ किसी न किसी ग्रन्थ में सस्कृत को स्थान दे देना आवश्यक था अथवा क्या इसे कवि की व्यक्तिगत अभिरुचि अथवा सनक मात्र कहकर हम नहीं संतोष कर सकते ? वस्तु स्थिति यह है कि केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण से अवश्य ही ऐसा करना अनिवार्य था क्योंकि बिना संस्कृत में रचना किए हुए भी कवि देववाणी के प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति हो सकती थी । यदि उसके समक्ष इस विषय में कोई विवाद ही न उपस्थित होता किन्तु जहां पर एक और अनेक निर्गुण धारा वाले सन्त कवियों के द्वारा संस्कृत ग्रंथों के प्रति उपेक्षा के भाव का प्रसार हो रहा था तथा दूसरी ओर जहा केशव जैसे संस्कृतज्ञ पंण्डितों तथा जिस कोटि के अन्य हिन्दी कवियों द्वारा जनभापा में रचना करते हुए भी जनभापा में एक प्रकार की हीनता का ही भाव व्याप्त हो रहा था । ऐसे देश

काल में तुलसी जैसे लोक संग्रही साहित्यकार को संभवतः यह सर्वथा उपयोगी ही नहीं वरन् आवश्यक जान पडा कि वह जनभाषा को प्राधान्य देते हुए भी कम से कम उन ग्रंथों में जो लोकसंग्रह की दृष्टि से अन्य ग्रथों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हो कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी रचना को भी स्थान दे दे जो जनता के लिए विशुद्ध सस्कृत भाषा का रूप उपस्थित करने तथा उसके महत्व की ओर सकेत करने के लिए पर्याप्त हो । देववाणी के प्रति भारतीय श्रद्धा को जागृत रखने के लिए उनकी पौराणिक परम्पराप्रियता ने भी उन्हें बाध्य किया होगा ।

अभी तक जो विवेचन किया गया है उसका सम्बन्ध प्रधान रूप से तुलसी की भाषा में उपलब्ध संस्कृत श्लोकों तथा मात्रा की शब्दावली से है प्राय: उनका व्यवहार रामचरितमानस के प्रत्यक सापान के प्रारम्भिक मगलाचरण में कहीं कहीं इसी ग्रथ के अन्तर्गत देखने कोमिलता है भाषा वैज्ञानिक दृष्टि के अपना विशेष महत्व रखते ही हैं। अत: दिग्दर्शन मात्र के लिए ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरणों द्वारा तुलसी के संस्कृत, तत्सम, शब्दावली की उक्त अंश के विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

(क) मानस के प्रत्येक कार्य में प्रारम्भिक मगलाचरण में आय हुए सस्कृत श्लोकों में कुछ नमून प्रस्तुत किये जाते हैं।

(2) कठिन शैली :

मूलं धर्मतरो विवेक जलधे: पूर्णेन्दु मानदन्दं ।
वैराग्याम्बुज भाष्करं हैयघघ नहवान्त यहं तापहम् ।
मोहाभोदार युग पाटन विधौ स्व: सम्भव शंकर ।
बन्दे ब्रह्म कुलं कलंक शमनं श्री राम भूयं प्रियमं ।

सरल शैली :

बन्दे बोधरूपं नित्य गुरु शंकर रुप्रियम ।

यमाश्रि तोहि वक्रोऽपि चन्द्र सर्वत्र बन्द्यते ।

ख मानस के भीतर की स्तुतियों की भाषा में ब्यवहृत सस्कृत प्रयोग -

नमामीशमिशाम निर्वाणरूप। विभुं व्यापक ब्रह्मंवेद स्वरूपं ।

निज निर्गुणं निर्विकल्पं मिरीहि। चिदं काशमकाश बासं भजेहम ।

ग. विनय पत्रिका के अन्तर्गत उपलब्ध पदों में प्राप्त सस्कृत प्रयोग उदाहरणार्थ -

जयति मरूदंजन मोद मन्दिंर नतग्रीव सुग्रीव दुखकै बन्धो ।

यातु धानोध्वत कुद्ध कालाग्नि हर सिद्ध सुर सज्जना नंद सिन्धो ।

सदा शंकर सप्रद सज्जनानदपं शैल वरं परम रम्य ।

काम मद मोचन तामरस लोचनं वामदेव भजे भाव गम्य।

ऊपर केवल मानस तथा विनयपत्रिका में ही ऐसे प्रयोगों के पाए जाने का उल्लेख किया गया है। क्योंकि इन्हीं दोनों में इनकी संख्या महत्व रखती है यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य किसी भी ग्रथ में ऐसे प्रयोग सर्वथा नहीं मिलते किन्तु केवल श्रीकृष्ण गीतावली में निम्नलिखित पद को छोड़कर जो विनय पत्रिका के श्रीरामचन्द्र कृपाल भजुमन हरण भव भय दारुण- से प्रारंभ होने वाले पद की तोल में रचित जान पडता है। तुलसी की अन्य समस्त कृतियों में एक भी ऐसा प्रयोग न मिलने के कारण केवल उक्त दानों ग्रथों पर दृष्टिजाना स्वाभाविक है।

गोपाल गोकुल वल्लभी प्रिय गोप गो सुत वल्लभ ।

नरनार बिदं मह भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ।

धनश्याम काम अनेक छवि लोकाभिराम मनोहरं ।

किंजल्क वसन किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकर ।

सिर केकि पच्छ विलोल कुडलं अरून वनरूह लोचनं ।

गुन्जंस तस विचित्र सव अंग धातु भयभय मोचनं ।

कच कुटिल सुन्दर तिलक मुराका मयंक समानन ।

अजहरन तुलसीदास तात्र विहार वृन्दा काननं ।

उपुर्यक्त पद को भी ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि दूसरी पंक्ति के चरणारति दमह भजे, उस अंश को छोड़कर शेप पद में कहीं भी विशुद्ध संस्कृत व्याकरण सम्मत प्रयोग नहीं आया है। अंतिम शब्दों के अनुस्वार का प्रयोग नादसौन्दर्य में भी सहायक हुआ है और सम्भवत: बहुत कुछ इस प्रयोजन से किया भी गया है।

मानस के आरम्भिक श्लोकों में प्राप्त संस्कृत प्रयोगों के विषय में यहां पर एक और बात ध्यान देने योग्य है कि मानस ने सस्कृत भाषा में मंगलाचरण कर लेने के पश्चात किसी भी कांड का विषय आरभ करने के पूर्व तुलसी ने जनभाषा में मंगलाचरण के दोहों एवं सोरठों का व्यवहार पुनरुक्ति दोष एवं प्रबन्ध दोष दोनों प्रकार के दोषों की कुछ भी परवाह न करते हुए किया है। 'परवाह न करते हुए इसलिऐ कहा गया है कि तुलसी जैसे तत्व ममर्ज्ञ कवीश्वर से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उक्त दोषों से अनभिज्ञ थे और यह मान लिया जाय कि अनजान में ही ऐसे प्रयोग हो गये हैं। यह सम्मिश्रण ऐसे व्यवस्थित ढंग से किया गया है कि संस्कृत श्लोकों का मूल ग्रंथ से अलग कर देने पर भी ग्रंथ में विषय तत्व एवं प्रबन्ध निर्वाह स्वरूप संस्कृत भाषा मे सर्वथा अनभिज्ञ पाठक केवल जनभाषात्मक अंशों को ही पढ़कर पूरे ग्रंथ का आनन्द लेने में समर्थ होते हैं। एक प्रकार से ये ही ग्रंथकार का अभिप्राय भी जान पड़ता है । वह संस्कृत भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हुए भी उसके

अप्रचलन के कारण पाठक को कष्ट न होने देने के लिए अपनी कृति को जनभाषा की ही एक पूर्णकृति के रूप में उपस्थित करना चाहता है ।

सस्कृत शब्दावली के वर्ग के अन्तर्गत श्लोकों तथा स्त्रोतों म व्यवहृत प्रयोगों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के प्रयोगों पर विचार करना है। इनमें से एक तो वे स्थल हैं जिनमें संस्कृत व्याकरण अथवा संस्कृत पदरचना के नियमों पर जान अथवा अनजान में कोई विशेष ध्यान नहीं रखा गया है। किन्तु उनमें बीच बीच में सार्थक अथवा निरर्थक पुट देकर जनभाषा का व्यवहार किया गया है। वस्तुत: न तो ऐसी भाषा में जनभाषा का स्वाभाविक रूप दखने को मिलता हे न संस्कृत भाषा का ही कहीं कहीं तो यह घालमाल बहुत अधिक मात्रा मं पाया जाता है ।

दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमें संस्कृत शब्द के आधार परही ऐसे शब्द निर्मित करते व्यवहृत किये गये हैं जो देखने में सीधे सस्कृत भाषा से ग्रहण किये हुए जान पड़ते हैं इसका अभिप्राय यह है कि इन शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से इतना विकार नहीं आ सका अथवा भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वे इतना विकास नहीं कर पाये कि वे विशुद्ध जनभाषा के अपने शब्द जान पड़ने लगे। उनमें अधिकांश प्रयोग भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखते क्योंकि संस्कृत से ही क्रमश: पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अवस्थाओं के बीच होकर विकसित होने के कारण ऐसे शब्दों की कोई भिन्न सत्ता तुलसी के काल में रही होगी ऐसा स्पष्ट नहीं होता साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि इस समय भाषा के जितने रूप चल रहे थे उन सभी में संस्कृत का प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हटता हुआ देखकर तुलसी को सास्कृतिक दृष्टि से भी संस्कृत के प्रभाव को बल देने की आवश्यकता जान पड़ी होगी। अत: यह दूसरे प्रकार के प्रयोग प्राय: ऐतिहासिक दृष्टि से ही उल्लेखनीय है यद्यपि इनकी सत्ता

आज तक अर्थतत्सम शब्दों के रूप में बनी हुई है । जो भारतीय जनभावनाओं का संस्कृत से शाश्वत एवं प्राचीन सम्बन्ध घोषित करते हैं ।

प्रथम प्रकार के प्रयोगों की सक्षिप्त छानबीन करके हम उनकी उपयोगिता अथवा आवश्यकता पर वैज्ञानिक आलोचना के दृष्टिकोण स विचार करेंगे इन प्रयागों क सम्बन्ध म हिन्दी तथा सस्कृत के व्याकरणिक नियमों का सम्मिश्रण उपस्थित करन वाली जिस मिश्रित शब्दावली की ओर निर्देश किया गया है । उनके दर्शन कई रूपों में होते हैं । कुछ तो ऐसे स्थल है जहा पर वे संस्कृत शब्द छन्द पूर्ति में किसी प्रकार सहायक सिद्ध हुए हैं और कुछ ऐसे जहां पर कोई ऐसा लक्ष्य नही दिखाई पड़ता और केवल कुतुहल वश उन्हें स्थान दे दिया गया है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के टेडे अक्षरों वाले अंश प्रस्तुत किये जाते हैं

राम अनन्त अनन्त गुनानी। जन्म कर्म अत्यन्त ना मानी।

अवध अविच्छिन्न सर्वज्ञ सर्वेश रव्लु सर्वतो भद्रदाता उम मार्क।

प्रणात जनन्य खेद विच्छेद विद्या निपुण नौमि श्री राम सौमित्र सार्क।

युगुल पद पदं सुख सदं पद्मायलं चिन्ह कुलि सादि सोभाति भारी।

हनुमतं हृदि विमल कृत परम मन्दिर, सदा दास तुलसी सरन सोक हारी।

दुष्ट बिबुधारी सघात महिभार अपहान अवतार कारन अनपूं।

अमल अनवध अद्वैत निर्गुण सगुण ब्रह्म सुभिरामि नरभूप रूपं।

सेव सुति सायदा संभु नारद सनक गनत गुन अतं नहितव चरित्रं।

सोई राम कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी भास निधि बहिन्तं।

उपर्युक्त पंक्तियों के अन्तर्गत नामानि दाता उसमांक नौमि सौमित्रं साकं पद्यलय हनुमत हृदि 'अनूपं' सुरा विरामि, नरभूप रूपतव चरितं, वहिभ इत्यादि प्रयोग स्पष्ट रूप से संस्कृत तथा संस्कृत मिश्रित हिन्दी के प्रयोग कहे जा सकते हैं। इनमें शुद्ध और विकृत दोनों प्रकार के संस्कृत रूप आ गये हैं। जैसे नमामि स्पष्टत: नामानि। का जो नपुंसक लिंग शब्द 'नाम' की प्रथम एवं द्वितीय विभक्ती का बहुवचन रूप है। विकृत रूपान्तं है इसका व्यवहार यहाँ पर केवल चौपाई छन्द के अन्त के मात्रा पूर्ति के अर्थ जानबूझकर किया गया जान पड़ता है । छन्दं बद्ध रचना में ऐसा व्याकरिणक अशुद्धि चाहे संस्कृत पिंगल के अनुसार न क्षम्य न हो किन्तु हिन्दी पद्य रचना का विधान अधिक कठोर न होने के कारण इसमें तो सहज मानी ही जा सकती है। (दाता उस्मान) तथा नौमि आदि विशुद्ध संस्कृत प्रयोग होते हुए भी हिन्दी छन्द की संस्कृत व्याकरण नियम रहित पंक्तियों के अंश के रूप में रखे गये हैं। इस प्रकृति के मूल में या तो छन्द की वर्ण एवं मात्रा की तोल व्यवस्थित करने में उन शब्दों अथवा शब्द समूहों की तात्कालिक उपयोगिता हो सकती हैं अथवा केवल कवि की अभिरुचि विशेष जिसके पीछे कोई स्पष्ट वैज्ञानिक लक्ष्य नहीं जान पड़ता अन्य प्रयोगों के अन्तर्गत विशेष रूप से 'हनुमंत हृदि' तथा सौमित्र में व्याकरण से असम्मत मिश्रित शब्दावली का व्यवहार ध्यान देने योग्य है। हनुमति हृदि के साथ विमल कृत परम मन्दिर सदा तथा सामित्र सदा तथा सौमित्र साकं के साथ श्री राम के व्याकरण की दृष्टि से असंगत प्रयोग पर (क्योंकि हृदि संस्कृत हृत धातु की सप्तमी विभक्ति का एकवचन का विशुद्ध रूप और साकं भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध विशुद्ध परसर्ग हैं जो 'क' साथ अथवा (समेत) के अर्थ में आता है। विचार करने स यह बात स्पष्ट हो जाती है अत: हम यह कह सकत हं कि (नामानी) आदि में कुतुहल वृत्ति का प्रधान्य है । इनमें सुभिरामि नर भूपं रूपं को छोड़कर

(जिसके अन्तर्गत संस्कृत स्मारामि का स्यरामि सुभिरामि कर के उसे हिन्दी 'सुकिरौ' का स्थापन्न बनाते हुए अथवा हिन्दी की ही सुमिरि धातु को संस्कृत व्याकरण के ढांचे में ढालते हुए एक प्रकार के व्याकरणिक समन्वय की प्रवृत्त दिखाई पड़ती है ।) शेष में किसी प्रकार के गंभीर समन्वय सिद्धान्त की झलक देखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । यहा पर समन्वय सिद्धान्त से तात्पर्य तुलसी की उस वृत्ति से है जिसके अनुसार कदाचित ऐसे संस्कृत और हिन्दी का मिश्रण भी जानबूझकर उचित समझा गया हो । इसकी खोज अन्य प्रकार के सार्थक एवं साभिप्राय दृष्टि से व्यवहृत प्रयोगों में करना अधिक समीचीन होगा । जिनका हम आगे प्रसंगानुसार विवेचन करेंगें ।

अस्तु,इन संस्कृत मिश्रित प्रयोगों के सम्बन्ध में हम सामान्यतया इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि इनमें से अधिकांश के मूल में तीन निम्नलिखित परिस्थितियों विद्यमान हैं जिन्होंने तुलसी को इस प्रवृत्ति की ओर प्रभावित किया।

1. संस्कृत के प्रति अपनी सहज श्रद्धा अभिव्यक्त करने के लक्ष्य से उनको अपनी भाषा में स्थान देने की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव, यद्यपि ऐसा करना किसी प्रकार व्यक्तिगत दृष्टि से अनिवार्य न था।

2. संस्कृत की सर्वथा उपेक्षा करके चलने वाले निर्गुण वादी पथई संत कवियों तथा जनभाषा से खार खाये उसे एक निचले स्तर की वस्तु समझने वाले पण्डितों के परस्पर विद्धेश एवं प्रचारात्मक कथनों से उद्भ्रान्त जनसमुदाय एवं नवीन कवि समुदाय के समक्ष एक संतुलित एवं सामंजस्य पूर्ण हल उपस्थित करने की सामयिक आवश्यकता।

3. बहुज्ञता प्रदर्शन एवं कलाबाजी दिखाने के उद्देश्य से नहीं किन्तु शैली की विविधता प्रस्तुत करने की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का समावेश करने की अभिरुचि।

इन सभी परिस्थितियों का उपयोग तुलसी ने जिस सफलता के साथ किया है उसके मूल में उसके में उनके विपुल संस्कृत ग्रंथाध्ययन का संस्कार तथा विशाल पर्यटन जन्य व्यापक जन काव्य का ज्ञान विद्यमान है । किन्तु जहां पर उक्त प्रयोगों के द्वारा कोई महत्वपूर्ण लक्ष्य साधित होता नहीं जान पड़ता वहां उनके विषय में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि उन स्थलों पर कवि भाषा में विशेष सावधानी नहीं रख सका ।

2. प्राकृत और अपभ्रंश आदि का प्रभाव सूचित करने वाले प्रयोग :

ऐसे प्रयोगों का विश्लेषण करने के पूर्व इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि तुलसी की शब्दावली या इन मध्यकालीन भाषाओं का प्रभाव केवल कुछ विशेष संज्ञाओं विश्लेषणों एवं क्रियापदों के उन सामान्य कार्यो रूपों तक ही सीमित है । जो हिन्दी पद्य रचना के भीतर किसी न किसी रूप में घुल मिल सकते हैं जहां कहीं भी इन मध्यकालीन भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं वहां उनके व्यवस्था उन भाषाओं के व्याकरण के आधार पर नहीं हुई है । इनका समावेश बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है । जिस पर तुलसी के पूर्ववर्ती चंदवरदायी जैसे कवियों की प्राचीन हिन्दी में दिखाई पड़ता है ।

इसके भीतर जिन प्रयोगों की गणना होती है उनमें से अधिकांश को पूर्णरूपेण बचाया जा सकता था । और भाषा के शब्द विन्यास की व्याकरिणक कथन में इसके न होने से कोई व्याघात न उपस्थित होता, किन्तु फिर भी पूर्वकालीन एवं तत्कालीन विशिष्ठ भाषा शैली के प्रयोगों को कुछ विशेष प्रसंगों में स्थान देने की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करने की प्रवृत्ति के कारण तथा बहुत कुछ अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के वशीभूत होकर तुलसी ने ऐसा किया है ।

कुछ भी हो किन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि इसके पीछे कोई सामान्य प्रवृत्ति या अभिरूचि ही मानी जा सकती है । न कि कोई बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त । जैसा संस्कृत तथा कतिपय अन्य भाषाओं से ग्रहित अथवा प्रभावित प्रयोगों के सम्बन्ध में प्राय: दिखाई देता हे इस सामान्य प्रवृत्ति अथवा अभिरूचि के मूल में दो ही बातें प्रमुखत: जान पड़ती है । प्रथम तो यह हिन्दी के पूर्व जनता के दैनदिन बोलचाल एवं व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले माध्यमों के रूप में प्राकृत् एवं अपभ्रंश आदि ही विद्यमान रही है । जो इतिहास काल में एक दूसरे के पश्चात जनता में प्रधानता ग्रहण करती गयी । हिन्दी स्वपुत: इन्हीं में से अन्तिम रूप अपभ्रंश के एक रूप से ही विकसित होने के कारण अपने जनभाषायन का सम्बन्ध देखते हुए संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत अपभ्रंश के अधिक निकट पड़ती है । इसी के अवशेप तुलसी की भापा में प्रयुक्त हुए हैं ।

दूसरी बात कवि की व्यक्तिगत प्रकृति अथवा सूझ से सम्बन्धित न होकर भाषा के सहज वैज्ञानिक विकास और यत्र तत्र छन्द की अंतिम मात्राओं की पूर्ति से अधिक सम्बन्धित हो जाती है । यह है कि कुछ रूपों को तात्कालिक हिन्दी भाषा में उक्त मध्यकालीन भाषाओं विशेषकर अपभ्रंश से दाय स्वरूप पाया हो और तुलसी के समय उनमें कम से कम इतना परिवर्तन न हो सका हो कि उनके पूर्ण रूप सर्वथा अप्रचलित एवं अव्यवहारिक समझ लिए जाय । सम्भव है जनता द्वारा विस्मृत एवं बहिस्कृत हो जाने पर भी साहित्य क्षेत्र में कुछ लोगों द्वारा व्रज और अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओं के वे साहित्यिक प्रयोग जो आज से बहुत पहले प्रचलित थे और जिन्होंने इन बोलियों के आधुनिक रूपों में अपना अस्तित्व खो दिया । छन्द पूर्ति से सम्बन्धित प्रयोगों से हमारा अभिप्राय उन स्थलों पर आये हुए शब्दों से है जहां वे छन्दों की अन्तिम मात्राओं की व्यवस्था में तत्कालीन सुविधा की दृष्टि से उपयोगी जान पड़ते हैं । और इसलिए तत्कालीन

हिन्दी शब्द कोश से बाहर होते हुए भी किसी न किसी रूप में एक पूर्ववर्ती सम्बन्धित भाषा के शब्द होने के कारण उनसे भी तुलसी ने यथा अवसर लाभ उठाने में कोई हानि नहीं समझी ।

तुलसी की भाषा में अपभ्रश आदि मध्यकालीन भाषाओं के प्रयोग कई रूपों में देखने को मिलते है जिनका हम क्रमशः उदाहरण सहित विवेचन करेंगे ।

(क) वे स्थल जहां पर किसी रस अथवा भाव की वृद्धि में उपयोगी होने के कारण कवि ने ऐसी शब्दावली को स्थान देना उचित समझा है । जिनका उपयोग करके पूर्ववर्ती कवियों ने ही नहीं वरन् कई समकालीन एवं पूर्ववर्ती कवियों तक ने अपनी रचनाओं में किया है । विशेषकर ओज गुण तथा वीर, रौद्र एवं भयानक रस आदि की व्यंजन में ऐसे प्रयोग विशेष सहायक समझे गये हैं तुलसी की रचनाओं में केवल दो के ही अन्तर्गत इन प्रयोगों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दिखाई पड़ता है । ये ग्रंथ हैं रामचरित मानस और कवितावली । इन स्थलों पर या तो वीर रौद्र अथवा भयानक रस से सम्बन्धित युद्ध वर्णन तथा भीषण दृश्यों के चित्रण के प्रसंग में विशेष प्रभाव डालने के उद्देश्य से और कहीं-कहीं विशेष पात्र के रूपांकन एवं गुण कथन को अधिकाधिक सजीवता प्रदान करने के लिए कवि ने उक्त शब्दावली का व्यवहार किया है । उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते है ।

(अ) मानस के लंका काण्ड में युद्ध वर्णन के अन्तर्गत निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंश।

"देखि चले सम्मुख कपि भट्टा । प्रचल काल के जनु घन घट्टा ।
बहु कृपान तरवारि चमकहि । जनु देह दिसि दामिनी दकं कहि ।
जोगिनि भरि भरि खप्परि संचेहि, भूत पिशाच वंधु नभ नट्टहि ।
जबुंक निकट कटककट कराहि खाहि हुआहिं अधाहि दपट्टहि ।

बोल्लहि जो जय जय मुंड़ रुंड़ पंचउ सिर बिनु धावहि ।

खपरिन्ह खग अजिभ जुज्झहि, सुभट भट्न्ह ढ़हावहीं ।

(आ) कवितावलि के अन्तर्गत युद्ध वर्णन के प्रसंग में ही और भी अधिक बाहुल्य के साथ व्यवहृत ऐसी शब्दावली का दिग्दर्शन निम्नलिखित है । निम्नलिखित पंक्तियों के टढ़ अंशों में किया जा सकता है -

''मंन्त भट मुकुट दस कध साहस सइल सूंग बिहरानि जनु वज्र टाकी ।

दसन धरि धरनि चिकुरत दिग्गज, कमठ सेष संकुचित संकित पिनाकी ।

चलति माहि मेह उच्छलित सायर सकल, विकल विधि बधिर दिसि विदिस झांकी ।

रजनिचर घरनि घर गर्भ अमर्क स्त्रवत सुनत हनुमान की हांक बाकी ।

कतहु विटप भूधर उपारि परसेन वरख्खत ।

कतहु बजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।

चरन चोट चटकन चकोर अरि डर शिव बज्जत ।

विकट कटक विदरत वीर वारिद जिमि गज्जत ।

दुर्गम दुर्ग पहार ते झारे, प्रचंड महा भुज दंड बने है ।

लक्ख में पक्खर तिक्खन तेज जे सुर समाज में गाज गने हैं ।

उपर्युक्त पंक्तियों में आए हुए टेढ़े अक्षरों वाले प्रयोगों की वैज्ञानिक आलोचना करने के पूर्व हम कुछ ऐसे स्थलों को भी उद्घृत कर रहे हैं जिनका सम्बन्ध भीषण दृश्य चित्रण तथा पात्र रूपांकन के प्रसंगों से है । जैसे -

(अ) कवितावली के अन्तर्गत धनुष बंग से सम्बन्धित पंक्तियों को टेढ़े अक्षरों वाले अंश -

''डि डिगति अर्बि अति गुर्बि सर्व पव्वै समुद्र सर ।

व्याल बधिर तेहिं काल विकल दिगपाल चराचर ।

दिग्गं पद लरखरत परत दसकंद मुक्ख भर ।

सुर विमान हिमभानु संघटित परस्पर ।

चौके विरंचि शंकर सहित कोल कमठ अति कलमल्यो ।

ब्रह्माण्ड खंड कियो चद्र जबहि राम शिव धनु दल्यों ।

(आ) किसी पात्र अथवा देवता विशेष के रूपांकन एव गुण कथन से सम्बन्धित प्रयोग का उदाहरण हम कवितावली के अन्तर्गत हनुमान बाहुक के टेढ़े अक्षरों वाले अंशों में देख सकते हैं -

''अच्छ विमर्दन कानन भान, दसानन आनन भाननि हारो ।

वारिद नाद अंकपन कुंभकरन से कुंजरि केहरि बारो ।

राम प्रताप हुतासन कच्छ विपच्छ समीर समीर दुलारो ।

पाप ते साप ते ताप तिहूंते सदा तुलसी कहा सो रखवारो ।

रामचरित मानस की भीतर ऐसे प्रयोगों की ओर उतनी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती जैसी कवितावली में मानस के प्रबंध धारा के बीच कवि को इतना अवसर सम्भवतः नहीं प्राप्त हो सका जितना कवितावली के स्फूट वर्णन एवं चित्रण में ।

उपर्युक्त पंक्तियों के समस्त टेढ़े अक्षरों वाले शब्दों में वैज्ञानिक उपयोगिता की दृष्टि से अथवा रस वृद्धि एवं भावोत्कर्ष के विचार से जो विशेष उल्लेखनीय है । वे भट्टा, घट्टा चमंकहि, खप्पर, नाचहिं कटक्कट, कहहि, दपट्हि खग्ग, अलुलिझ, जुज्जहि, विदरानि, उच्छलित, सायर, बरख्खत, करख्खत, बजत, गजत, तिक्कखन, पब्बै अच्छ और विपच्छ हैं । शेष शब्दों का प्रयोग मध्यकालीन भाषाओं से उतना नहीं है इन्हें भाषा के सामान्य नादोत्कर्ष एवं ओज सृष्टि के अनुकूल कठोर ध्वनि योजना की रुढिगति, मनोवृत्ति से प्रेरित समझना चाहिए । जैसे कुम्भकरण, बोल्लहि, डोल्लहि जैसे शब्दों का व्यवहार जा क्रमशः सामान्य

हिन्दी भाषा के शब्द रूपों कुम्भकरन, बोलहि तथा डोलहि आदि को ही विकृत करके रखे गये है । 'मुझव भर' इन सब में ऐसा विचित्र रूप है । जो मध्यकालीन भाषाओं में उतना नहीं है । उन्हें भाषा के सामान्य नादोत्कर्ष एव ओज सृष्टि के अनुकूल कठोर ध्वनि योजना की रुढ़िगति मनोवृत्ति से प्रेरित ममझना चाहिए, जैस कुम्भकरण, बोलहि डोलहि जैसे शब्दों का व्यवहार जो क्रमशः सामान्य हिन्दी भाषा के शब्द रूपों कुम्भकरण बोलहि तथा डोलहि आदि को ही विकृत करके रखे गये है । मुख भर इन सब में ऐसा विचित्र रूप जो न तो मध्यकालीन भाषाओं के और न सामान्य हिन्दी भाषा के ही किसी सिष्ट शब्द के आधार पर बना है । यह एक ग्रामीण ठेठ बोलचाल (मुहाभरा) को ही बलपूर्वक एक अर्धसाहित्यिक रूप देने के प्रयास का परिणाम जान पडता है । इस प्रकार के शब्दों से तुलसी की शब्द निर्माण विषयक अनोखी सूक्ष का पता चलता है ।

मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं से प्रभावित जिस शब्दावली का उल्लेख ऊपर किया गया है उसके भीतर सामूहिक रूप से चार विशेषताएं स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं ।

1. इनमें अधिकांशतः दिव्य वार्णो का बाहुल्य है । जिसके द्वारा ओज गुण की व्यंजना तथा पुहादि दृश्य विशेष वातावरण के चित्रण का प्रयत्न किया गया है । पीछे उद्घृत भट्टा, घट्टा, बजत, गजत आदि का व्यवहार भटा, घटा, बाजत, गाजत आदि के स्थान में करना इसी प्रयत्न का द्योतक है ।

2. इनमें संयुक्त वर्णनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हे । जिसके द्वारा कहीं-कहीं तो उपर्युक्त उद्देश्य ही अभिप्रेत है और कहीं कहीं केवल संस्कृत शब्दों के स्थान पर जान बूझकर ऐसे रूपों को प्राश्रय देने का उद्योग हुआ है । प्रथम प्रकार के शब्दों के अन्तर्गत अलम्झ, जुज्झहिं, उच्छलति आदि शब्द आते हैं ।

और दूसरे प्रकार के शब्दों में करख्वत, बरख्वत, अक्षय और तीक्ष आदि संस्कृत तत्सम शब्दों से प्रभावित रूपों के विकार अथवा विकास है ।

3. अनुस्वार युक्त वर्णो का अनावश्यक एवं व्याकरण विरुद्ध रूप में व्यवहार करने की उस प्रवृत्ति का अनुसरण जो कतिपय पूर्वकालीन तत्कालीन एवं परकालीन वीर काव्यों में रुढ़िगत रूप में प्रचलित रहीं हैं । चमकहि, दमकहिं, और नाचहिं जैसे विशुद्ध अशुद्ध और अप्रचलित रुपों का व्यवहार इसी प्रवृति का परिणाम है । इनहें केवल रुढ़िगत परम्परा से प्राप्त संस्कारों से प्रभावित अथवा प्राचीन हिन्दी के कुछ ऐसे भी नमूने प्रस्तुत कर देने की कुतूहल वृत्ति से प्रेरित समझना चाहिए ।

4. संस्कृत से मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में स्वाभाविक भाषा विकास के प्रवाह में नवीन रूप ग्रहण करने वाले शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग न करके इन्हीं नवीन विकृत्त अथवा विकसित रूपों में व्यवहार दिखाई पड़ता है । इनमें संयुक्त दिव्य तथा साधारण तीनों प्रकार के वर्णो से समन्वित वे सब शब्द लिये जा सकते हैं । जो शब्दों के स्वाभाविक भाषा वैज्ञानिक विकास के नियमों के अनुसार अधिकाधिक अनुकूल दिशा में परिवर्तित हुए हैं । जैसे खप्पर (सं0 खप्पर), खग्ग (खड्ग), सापर (मागर), पव्वै (म पर्वत), मइल्न (ग शेल), विपक्ष (स विपक्ष) इत्यादि इनमें प्राय: सभी ध्वनि परिवर्तन मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश आदि के व्याकरिणक नियमों से प्रभावित हैं ।

अब केवल दो प्रकार के रूपों के प्रयोग की छानबीन करना शेष रह जाता है । एक तो वे स्थल जहां पर विशेष छन्दों की गति की व्यवस्था में कवि को कहीं-कहीं प्रचलित हिन्दी या संस्कृत शब्दों की अपेक्षा यह प्राकृत अपभ्रंश आदि से प्रभावित रूप संभवत: अधिक सुविधाजनक जान पड़े, और सहसा, शब्द योजना के समय उपस्थित हो जाने पर उनका उपयोग कर लेना व्याकरण विरुद्ध

होते हुए भी अनुचित नहीं समझा गया । जिनके विषय में पीछे कुछ निर्देश किया जा चुका है ये प्रयोग कहीं कही खटकते भी हैं । किन्तु कवि की इतनी स्वतत्रता छन्दं-बन्द में सक्षम मानी जा सकती है । ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरणों निम्नलिखित पक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले अंशों में द्रष्टव्य है ।

''तीखी तुरा तुलसी कहतो पै, हिये उपमा को समाऊ न आयों ।
माने प्रतच्छ परव्वत की नभ, लीक लसी कपिये धुकि धायो ।
स्वामी सुशील समर्थ सुजान सो तौ सौ तुही दसरथ दुलारे ।
तजि आसमोदास रघुप्पति का दसरत्थ को दानि दया दरिया ।

इस पंक्ति में आये हुए प्रत्यक्ष तथा परव्वत केवल प्रभाव सृष्टि में भी योग देने में कितने समर्थ हुए हैं । और इस प्रकार के निरर्थक प्रतीत होने वाले प्रतीत होने वाले परिवर्तनों में भी तुलसी की भाषा शक्ति कितनी सजग रही है । इसका पता निम्नलिखित सवैये के देखने से जिसमें से यह पंक्ति उद्घृत की गयी है चल जाता है ।

''लीन्हों उखारि पहार विसाल, चल्यो तेहि काल, विलंब न लायो ।
मारुत नन्दन, मारुत को मन को, खगराज को वेग लजायो ।।
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै, हीये उपमा को समाज न आयो ।
मानो प्रत्यक्ष पतच्छ की नभ लीक लसी कपियों धुकि धायो ।

इस तीखी तुरा में धुकि, धाने, दालें तथा मारुत, मन और खगराज के वेग को भी लजाने वाले मारुत नन्दन को प्रचंड गति के चपेट में आकर यदि (प्रत्यक्ष) और पर्वत शब्द भी उपमा की खोज में भटकते हुए तुलसी के चकित चित्त की झपटा-झपटी में तच्छ और परव्वत बन गये हो तो आश्यर्च ही क्या ?

''रंक कृपालु तहां तुलसी दसरथ को नन्दन बंदि कटैया ।
जहां जम जातना घोर नहीं भटकोटि जलच्चर दंत टेवैया ।

ते रन तीर्थन लक्खन लाखन दानिज्यों दारिद दावि दले है ।

भयऊ न होइहि हैं न जनक सम नरवइ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'प्रत्यक्ष' और 'पर्वत, के लिये 'प्रतच्छ, और 'परब्बत' 'दरत्थ' के लिये 'दसरत्थ' (यें परिवर्तन बहुत प्रचुर है,) यहीं पर तीन उदाहरण उपस्थित है । 'रघुपति के लिये 'रघुपति, 'जलचर के लिये 'जलच्चर' 'लखन' के लिये 'लक्खन' तथा 'नरपति' के लिये 'नरवई' का व्यवहार प्रायः छंदों के लय विधान की सुविधा को दृष्टि में रखकर किया गया है। इनके अभाव में पर्याप्त लय एवं गति तब तक नहीं आ सकती थी । जब तक छन्द के कई शब्दों में परिवर्तन न किया जाता । इसमें सन्देह नहीं है कि तुलसी जैसे भाषाधिकार सम्पन्न कवि के लिये ऐसा करना कठिन नहीं था, तथापि प्रयत्न लाघवर माया विकास के सिद्धान्तों में इस सिद्धान्त की बड़ी चर्चा मिलती है, के सिद्धान्त के अनुसरण करने में सम्भवतः उन्होंने कोई अनौचित्य न समझा हो ।

अन्त में हम उन प्रयोगों को ले सकते हैं जो न तो किसी विशेष भाव वृत्ति अथवा रस की व्यंजना में योग देते हैं, न छन्द-विधान की सुविधा की दृष्टि से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करते हैं । किन्तु बिना किसी आवश्यकता या उपयोगिता का विचार किये ही केवल कुतूहलवश अथवा स्वाभाविक समन्वय वृत्ति की प्रेरणा के वशीभूत होकर तुलसीदास जी कर गये हैं। ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। तुलसी के भाषाधिकार को पूर्णरुपेण स्वीकार करते हुए भी हम एक तटस्थ आचोलक के अधिकार से इन प्रयोगों की सार्थकता में संदेह करने को बाध्य हो, तो कोई आश्यर्च नहीं । इस संदेह का समाधान करने में केवल एक ही तर्क थोड़ा बहुत सहायक हो सकता है । वह यह कि तुलसी का सर्म्पक ऐसे प्रयोगों का समावेश करते समय उन कतिपय कवियों अथवा पंडितों से रहा हो जो ऐसे प्रयोगों को अपनी भाषा में बहुलता से स्थान देते रहे हो और इसलिये उन

प्रयोगों को बचा जाने की ओर तुलसी का ध्यान न गया हो । ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरों वाले शब्दों में देखे जा सकते हैं ।

''जाप जो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै ।

जाप सो जती कहाय, विषय वासना न छंडै ।

गति तुलसी की लखै न कोऊ जो करत,

ते छार, छोटे पब्बइ ही पलकही ।

कोदिन्ह रुडं मुंड बिनु डोल्लहि ।

सीस परे कहि जय जय बोल्लहि ।''

मानो मरक्कत सैल बिसाल मे फैलि चली बर बीर बहूटी ।

उपर्युक्त पंक्तियों के अन्तरगत छंडै, पब्बइ, अेल्लहि, बोल्लहि और मरक्कत जैसे शब्द उक्त प्रकार के प्रयोगों में ही है ।

प्राकृत, अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं से प्रभावित तुलसी की शब्दावली बहुत कुछ पूर्ववती, समकालीन तथा परवर्ती कृतियों की रचनाओं के अन्तरगत वीर रसान्त्मक प्रसंगों में व्यवहृत शब्द योजना शेली की परमपरा में रखी जा सकती है । जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है । चंद बरदायी के 'पृथ्वीराज रासो' विद्यापति की कीर्तिलता, भूषण के 'शिवा बावनी, 'छत्रसाल दशक' और 'शिवराज भूषण' तथा सूदन के 'सुजान चरित' इत्यादि ग्रंथों में उपलब्ध प्रयोगों से इस परमपरा की पुष्टि होती है । प्रासंगिक रुप से इनके भी कुछ उदाहरण तुलना में प्रस्तुत किये जाते हैं । टेढ़े अक्षरों वाले शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं ।

(क) बोय बंध धरं कित्ति जंपै सरं

अस्सु दूढै फिरं, रंभ बंछै बरं ।

थान थानं नरं, धार धारं तुरं । भ्रम बासं छुटं ।

साह गोरी बरं पग्ग खोले कर ।

उर फुट्टि बरछीवरं छब्बि नासी ।

मनो जाल में मीन श्रही निकासी ।

लरे कुजु रनें उडै़ हसं हल्लै ।

रसं भीजि सुरं चवग्गान पिल्लै ।

(ख) बाल चंद विज्जावइ भासा,

दुहुं नाहि लग्गइ दुज्जन हासा ।

ऊपर मे सुर हर सिर सोहइ ।

ई शिच्चइ नाऊर मन मोहई ।

ग. सुनि सुनि रीति विरुदत के बड़प्पन की ।

थप्पन उथप्पन की वानि छत्र साल की ।

खग्ग खगराज महाराज सिवराज जू को ।

अखिल भुजंग मुगलदारल निगलिगो ।

घ. धनुधद्वरं धड़ धद्वरं, भड़म भरं भड़म व्यर।

तड़न्तरं तड़न्तरं कड़क कड़क कंडक क्कड़ ।

धड़ धगधरं धड़धड़ धरं झड़झज्झर झड़झज्झर ।

अरर्ररं अरर्ररं सरर्ररं सरर्ररं ।

दव्वत लुत्थिन अव्वत इक्क सुखव्वत से ।

चव्वत लोह उचव्वत सोनित गव्वत से ।

चुट्टित खुट्टित केस सुलुहित हक्क मही ।

जुहित फुट्टित सीस सुखुट्टित तंग गही ।

कुट्टित घुट्टित काय विछुट्टित प्रान सही ।

छुट्टित आयुध छुट्टित गुट्टित देह दही ।

उपर्युक्त पंक्तियों के टेढे अक्षरों वाले शब्दों में दित्व वर्णो के बाहुल्य संयुक्ताक्षरों के प्रयोग और अनुस्वार युक्त वर्णो के प्रचुर तथा कहीं-कहीं अनावश्यक एवं व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इत्यादि में जिन प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है । वे सभी किसी न किसी रूप में तुलसी की शब्दावली में दृष्टिगोचर होती है । जैसा पिछले विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है ।

3 विदेशी भाषाओं के तत्सम, अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव शब्द :

तुलसी की भाषा में प्रयुक्त समस्त शब्दावली के वर्गीकरण के क्रम में इनका तीसरा वर्ग है । जिसके अन्तरगत केवल अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं से ग्रहीत अथवा प्रभावित प्रयोगों का समावेश हो सकता है । कतिपय ऐसे कथा वाचक वे आलोचक जो तुलसी की रचना में सर्वत्र चमत्कार ही चमत्कार खोज निकालने में एड़ी चोटी का पसीना एक करते रहते हैं । तुलसी की भाषा में अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द भी (जिनके प्रभाव की कोई कल्पना भी तुलसी के समकालीन भाषा में करना इतिहास ज्ञान का दिवालियापन सूचित करता है) खोज निकालते हुए देखे जाते हैं । पर इस प्रवृत्ति को वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा महत्वहीन एवं व्यर्थ की कल्पना मात्र समझकर केवल अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं से (जिनका सम्पर्क मुसलमान बादशाहों एवं अन्य इस्लामा धर्मानुयायी तुकी, अरबी और फारसी लोगों के भारत प्रवेश एवं भारत निवास के फलस्वरूप एक स्पष्ट ऐतिहासिक तत्व है) संबधित शब्दों का विवेचन प्रस्तुत प्रसंग में किया जायेगा ।

उदाहरण

सुजान चरित प्रसंगवश ऐसे नमूनों की कुछ बानगी देख लेना अनुचित न होगा, उदाहरणार्थ रामचरित मानस की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त नियर, नो,

गौन, अन आदि शब्दों में अंग्रेजी भाषा के Near, No, Gone तथा Un आदि की झलक सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है ।

1 ऋष्य मूक पर्वन नियराया ।

2. देहु उतर अन करहु कि नाह्नी ।

3. भरतहिं बिसरेऊ पितु मरन सुनत राम वन गौन ।

4. ते संसार पतंग घोर किरणौद हंतिनौ मानवा: ।

श्री भैरवानन्द शर्मा के मानस महत्व पृष्ठ 44 में ऐसे प्रयोगों का महत्व दिया गया है । परन्तु केवल कौतूहल की दृष्टि से ही इनका उपयोग है वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं ।

गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों का आगमन जिन परिस्थितियों में सम्भव हुआ है । अथवा जिन वैयक्तिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोणों ने उनको विविध रूपों में उपस्थिति होने का अवसर प्रदान किया है । उनकी स्वतंत्र विवेचना करने के पूर्व ऐसे प्रयोगों के विषय में श्रीराम नरेश त्रिपाठी के विचारों का उल्लेख अप्रासगिक न होगा ।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी, फारसी के शब्दों का उपयोग किया है । जितना शायद हिन्दी के किसी पुराने और नये कवि ने नहीं किया है । तुलसीदास जैसे हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक और धार्मिक कवि के लिए वह हम आश्चर्य की बात नहीं है । मेरा अनुमान ही नहीं दृढ़ विश्वास भी है कि तुलसीदास अपने समय की राजभाषा के शब्दों का व्यवहार किया है । उन्होंने जो यह लिखा है -

"फुलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरसहि जलदि ।

यह तो शेख सादी की इन पंक्तियों का अक्षरश: अनुवाद ही है ।

"अब्र मर आवे जिन्दगी बारद, हरगिज अज शाख वदे बरन खुरी ।

राजभाषा का प्रभाव तुलसीदास ही पर पड़ा हो यह बात ही नहीं है । संस्कृत कवि भी से उससे अछूते नहीं बचे थे । लोलिम्ब राज ने सुल्तान और बादशाह शब्दों को बड़े गर्व के साथ ग्रहण किया है ।

''हुतवहुत तंज घाजांनु मांस प्रभाव दधिगत गिरिवाया, स्तन्य पीयूस पानः ।

रर्चायित चरकादीन वीक्ष्य वेद्यावतस कवि कुल सुल्तानो लाललोलिम्ब राजा ।

समस्त पृथ्वीपति पूजनीयों दिगगना शिलष्टः शरीरः।

गुण प्रिय ग्रंथ ममु यातानीरल लोलिम्ब राजाः कवि बादशाहः ।

तुलसीदास ने अपनी कविता में अरबी, फारसी के शब्दों का मनमाना प्रयोग किया है । यह भी उनके पश्चिम प्रान्त निवासी होने का प्रमाण माना जा सकता है । सोरों और उसके आसपास के जिलों में मुसलमानों की बस्तियां बहुत है । इसी से अरबी, फारसी के जितने शब्द इनमें मिलते हैं । उतने पूर्वी हिन्दी में नहीं । या तो तुलसीदास तत्कालीन राजभाषा जानते थे, या अरबी, फारसी के बहुत से शब्द उनके मन में ऐसा घर कर लिये थे कि उनके प्रयोग में उनको कुछ भी हिचकिचाहट नहीं थी । जैसे -

''लागति सांग विभीषन ही पर सीपर आप भये हैं।'' गीतावली

सीपर फारसी का 'सियर' है । जिसका अर्थ है ढाल यह तो स्पष्ट ही है कि हिपर (हृदयपर) का अनुप्रास मिलाने के लिए ही 'सिपर' आया है, पर आया है कितनी आसानी से यह ध्यान देने की बात है । तुलसीदास ने म्लेच्छों के हिमायती थे न म्लेच्छ भाषा के प्रेमी यदि सिपर शब्द उनकी बोलचाल में आमतौर से प्रचलित न होता तो फारसी कोश में से निकालकर वे इस शब्द को राम के साथ प्रयोग करने की चेष्टा हर्गिज न करते । कुछ एक शब्द और लीजिए

''भई आस सिथिल जगन्निवास दील की ।

मे विभीषन की कुछ न सवील की । कवितावली

दिल (दील) और सवील शब्दों को देखिए किस स्वाभाविक प्रवाह में जड़ दिए गए है । राम के मुख से तुलसीदास जैसे वैष्णव साधु का यह कहलाना कि मैंने विभीषण की कुछ (सवील) प्रबन्ध नहीं की, साधारण महत्व नहीं रखता यदि सवील और दिल उनकी रोजमर्रा की बोलचाल के शब्द न होते तो मेरा विश्वास है वे कम से कम राम के मुख में तो उन्हें न आने देते ।

रामचरित मानस में तो अरबी, फारसी शब्दों का एक तांता सा लगा हुआ है । जहान, कागज, गरीब नेवाज, बक्खशीश, रूख, गरदन, खार, शोर, गुमान, हवाले आदि शब्दों का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि पश्चिमी प्रान्त जहाँ अरबी, फारसी के शब्द हिन्दूओं के घरों में निधड़क चलते है । उनके साथ छुआछूत का विचार नहीं रखा जाता ।

अपने अनुमान को अधिक सबल करने के लिये यहां विरोधी पक्ष की इस बात पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए कि तुलसीदास ने पूर्वी प्रान्तों में प्रचलित बहुत से घरेलू शब्दों और प्रथाओं का जिक्र भी तो किया है । फिर उन्हें पूर्वी प्रान्त में उत्पन्न हुआ क्यों न मान ले? यह प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है । पर यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने पूर्वी हिन्दी में रामचरित मानस लिखा । वे जीवन के अन्त समय तक रहे भी इस तरफ । अतएव इधर के घरेलू शब्द उनकी भाषा में आ गये । यह आश्चर्य की बात नहीं । पर अरबी, फारसी के शब्द उन्होंने पूर्वी हिन्दी से नहीं चुने, यह हम संदेहरहित होकर कह सकते हैं । क्योंकि अरबी फारसी के शब्द उनकी मातृ भाषा के द्वारा उनको न मिले होते तो वे कदापि म्लेच्छ शब्दों को देवताओं के पवित्र मुख में रखने की धृष्टता न करते । आजकल हिन्दी के कवि जो भक्त नहीं है । बहुत अंशों में उच्छृंखल ही है । अपनी रचना में अरबी, फारसी के शब्दों को रखने में भड़कते है ।

तुलसीदास तो भक्त थे और हिन्दू संस्कृति के प्रबल समर्थक । अरबी फारसी के शब्दों से उनकी भड़क साधारण न होती ।

त्रिपाठी जी के उपर्युक्त अनुमानों में कुछ बातें ऐसी ही है जो कुछ विशेष वैयक्तिक संस्कार से तथा खीचतान कर कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर कही जान पड़ती है । अतः तुलसी द्वारा व्यवहृत अरबी, फारसी शब्दों के सम्बन्ध में किसी प्रकार से व्यर्थ का भ्रम न उत्पन्न होने देने के अभिप्राय से उन भ्रमपूर्ण बातों का निराकरण कर देना आवश्यक होगा । यहां पर जिन शब्दों में त्रिपाठी जी ने अपना आशय व्यक्त किया है उनके पीछे दो धारणाओं का प्रमुख हाथ जान पड़ता है पहली बात का सम्बन्ध उनकी उस धारणा से है । जो सोरों के तुलसी का जन्मस्थान मानने और मनवाने के लिए अन्य उपलब्ध सामग्री के साथ साथ उनके ग्रथों की भाषा का आधार लेना आवश्यक समझती है । दूसरी यह कि त्रिपाठी जी को अपने इस कल्पित दृष्टिकोण पर पूर्ण विश्वास है कि हिन्दू संस्कृति के एक प्रबल समर्थक कवि की रचना में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग इतनी अस्वाभाविक बात है कि जिसका तुलसी में होना किसी भी आलोचक को अवश्य खटकना चाहिए । इन दोनों धारणाओं में सोरों सम्बन्धी धारणा त्रिपाठी जी के भावनाओं को जन्म देने में अपेक्षाकृत अधिक महत्व रखती है ।

अस्तु हमें यह देखना है कि उक्त दोनों धारणाएं वैज्ञानिक दृष्टि से कहां तक संगत कही जा सकती है । जहां तक सोरों का सम्बन्ध है उनको तुलसी का जन्मस्थान मानने वालों ने अपने पक्ष में अनेक जनश्रुतियों, किवंदतियों तथा अन्य उपलब्ध साक्षियों को प्रस्तुत किया है । किन्तु प्रामाणिक खोजों से जो नवीनतम निष्कर्ष तुलसी के जीवन के विषय में निकाले गये हैं उनके अनुसार न तो पूर्णतः राजापुर ही उनका जन्मस्थान ठहरता है न सोरों ही । वैसे एक बार

प्रचलन होने से जनभाषा में ऐसे बहुत से रूप आ गये थे । जिन्हें तुलसी ने अपने सहज समन्वयात्मक दृष्टिकोण की उदारता से प्रेरित होकर ग्रहण कर लिया हो सम्भव है । भाषा की थोड़ी बहुत विविध रूपता और कुतुहलोत्पादकता लाना भी इस प्रकृति के मूल में विद्यमान हो ।

श्री रामनरेश त्रिपाइी के अनुमान के पीछे निहित दूसरी धारणा जो हिन्दी संस्कृति के समर्थक कवि तुलसी की भाषा में अरबी, फारसी शब्दों के आगमन को अस्वाभाविक समझती हैं और उन्हें घरेलू बोली मे प्रभावित प्रयोग मानने को विवश होती है । इस अतिरंजित अस्वाभाविकता के निराकरण में हमारे समक्ष सबसे उत्कृष्ठ उदाहरण है । मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्य अन्यायन्य प्रेमा ख्यानकार और रहीन रसखान जैसे मुसलमान कवियों की हिन्दी रचनाओं से प्राप्त भाषा का स्वरूप । जायसी जैसे इस्लाम और मुहम्मद के प्रतिपूर्ण निष्ठा रखने वाले कवियों में भी संस्कृत तत्सम, हिन्दी शब्दों का पुट देखकर यदि हमें कोई आश्यर्च नहीं होता और उसमें हम किसी प्रकार की अस्वाभाविकता की गंध नहीं देख पाते तो तुलसी जैसे विचारशील एवं समन्वयात्मक वृत्त वाले कवि की भाषा के प्रयोगों को देखकर नांक भौं सिकोड़ना कहां तक ठीक है । और अन्य पर्याप्त कारण उपस्थित रहते हुए भी इस सम्बन्ध में सोरों निवास जैसे कारणों की कल्पना कहां तक आवश्यक अथवा अनिवार्य कही जा सकती है ?

इस प्रकार अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषा के प्रयोगों के महत्व और उनकी परिस्थितिजन उपयोगिता का एक विहंगम दृष्टि डाल देने के पश्चात अब हम तुलसी की रचनाओं से कतिपय उदाहरण उद्वत करते हुए इन प्रयोगों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे ।

विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली को तीन मोटे वर्गो में विभक्त कर सकते हैं

1. वे स्थल जहां पर केवल अत्यन्त प्रचलित शब्द आये हैं जो आज तक हिन्दी भाषा भाषा क्षेत्र की जनता की बोलचाल में व्यापक रूप से व्यवहृत होते रहे हैं । ऐसे प्रयोगों को ऐसे आधुनिक कवि और लेखक जिनका भी ध्यान भाषा के किसी विशेष रूप को स्थिर रखने पर नहीं रहता अपनी रचनाओं में बराबर स्थान देते रहते हैं । इनमें कवि की दृष्टि प्राय: जनता पर अपनी भाषा का रूप लादने पर नहीं, वारन जनता की भाषा के अधिकाधिक निकट पहुंचने की प्रवृत्ति से प्रभावित रहती है । इस विषय में उसका ध्यान इस प्रयोगों के पीछे देखी जाने वालीसंकुचित जातियता की मनोवृत्ति पर बिल्कुल नहीं रहती ।

ऐसी शब्दावली का व्यवहार तुलसी के सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों, रामचरित मानस, विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि के अन्तर्गत प्रचुर मात्रा में हुआ है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त गरूर, गुमान, गनी, गरीब, साहेब, रहम, गरीब निवाज, गरीरी खसम, और कलई इत्यादि जो केवल ध्वनि की दृष्टि से सुसंकृत एवं परिवर्तित कर दिये गये हैं और गरूर, गनी, गरीब इत्यादि के ही रूपांतर हैं ।

उदाहरणार्थ "गोरो गरूर गुमान भरो कहौ, कौसिक छोटो सो ढोटो है का को ।

गनी गरीब ग्राम नर नागर ।

साहेब समर्थ दसरथ के दयालु देव दूसरो ।

न तो सो तुह अपने की लाज को ।

राम के विरोधे बुरो विधि हरि हर हू को ।

सब को भलौ है राजाराम के रहम ही ।

नाथ गरीब निवाज हैं मैं गही गरीबी ।

राम के प्रसाद गुरू गौतम खसम भये रावरे हू सतानन्द पूत भये माप के।

सांति सत्य सुभ रीति गई छटि बढ़ी कुरीति कपर कलई है ।

2. वे स्थल जहां पर ऐसे अप्रचलित अथवा कम प्रचलित अरबी, फारसी और तुर्की आदि भाषाओं के शब्दप्रयुक्त हुए है जो जानबूझकर अपनी भाषा में कवि द्वारा लाए गए जान पड़ते है इस प्रकार के प्रयोगों के पीछे तीन बातें हो सकती है ।

(क) या तो कवि एक अन्य भाषा भाषी वर्ग को अपनी रचना की ओर आकृष्ट करना अथवा उसमें अपने विचारों का प्रचार करना चाहता है ।

(ख) अथवा वह अपनी भाषा में एकरोचक विविध रूपता लाकर अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को उपस्थित करना चाहता है ।

(ग) अथवा यह भी सम्भव है कि जन शब्दों को प्राय: आजकल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में अप्रचलित पाते हैं उनमें से अधिकांश कवि के रचनाकाल में सचमुच ही जनभाषा के स्वाभाविक अंग रहे है जिससे कवि ने उनका प्रयोग करना कदाचित आवश्यक समझा हो । और कालान्तर में वे कवियों की विशेष सावधानी के फलस्वरूप धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर हो गये हो कुछ भी हो ऐसे प्रचलित अथवा कम प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी तुलसी की रचनाओं में बराबर हुआ है उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में -

व्यवहरत, सवील फहम, खलक, हलक, कहरी, बहरी, दिरमानी और हबूब इत्यादि का व्यवहार जिनमें थोड़े रूपान्तर के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों का प्रभाह स्पष्ट है ।

''भाई को न मोह, छोह सीय को न तुलसीस, कहै मै विभीषन की कछु न सवील की ।

आए सुक सारन बोलाए ते कहन लागे, पुलक सरीर सेना करत फहम ही ।

जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह पूरि कीन्हे, पैयत न छत्री खोज खोजत खलक में ।

महीष्मती को नाथ साहसी सहसबांहु, समर सर्मथ नाथ हेरिए हलक में ।

लंक से वकं महागढ़ दुर्गम ढाहिवे दाहिबे को कहरी है ।
तीतर तोम तमीचर सेन समीर को सुनु बड़ो बाहरी है ।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस तोस कहा फिर मानी ।
साधु जनै महासाधु, खल जानै महाखल, वानी झूठी सांची कोटि उठत हबूब है ।

3. वे स्थल जहा पर अरबी, फारसी शब्दों को हिन्दी भाषा के व्याकरिणक साये मे ढालने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है यहा पर तत्सम रूपों के वर्हिष्कार तथा उनके देशी संस्कार की ओर कवि की प्रबल प्रवृत्ति जान पड़ती है । भाषा विज्ञान के अन्तर्गत मान्य भाषा विकास के सिद्धान्तों की दृष्टि से ऐसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप किये गये परिवर्तनों का बड़ा महत्व हुआ करता है । यह प्रवृत्ति भी बहुधा दो रूपों में मिलती है ।

अ. एक तो ऐसे रूप है जिनमें केवल ध्वनियों और मात्राओं में ही इस उद्देश्य से साधारण परिवर्तन किये गये हैं कि उनको अपनी भाषा कि ध्वनियों की मात्राओं के मेल में रख लिया जाए ।

आ. दूसरे कुछ ऐसे रूप भी है । जिनमें इन विदेशी भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा के व्याकरणिक नियमों के आधार पर प्रत्यय और उपसर्ग आदि के सहारे नये शब्द रूपों का निर्माण किया गया है । और इस प्रकार उनका देशी संस्कार हीं नहीं वरन् एक प्रकार से देशी रूपान्तर तक कर लिया गया है । इस क्रिया में बड़ी सावधानी और कौशल की अपेक्षा होती है और बहुत कम कवि ऐसे परिवर्तनों को स्वाभाविक एवं लोकप्रिय बनाने में समर्थ हो पाते हैं । परन्तु तुलसी की शब्दावली में इन दोनों प्रकार के रूपों की योजना बड़े सुव्यवस्थित ढंग से की गई है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में प्रयुक्त नेवाजू, साहिब, जवारू, सीपर, वैराक, नेव, मसीत, ओर हलाकी आदि ध्यान देने योग्य है । अस्तु दोनों प्रकार के उदाहरण निम्नलिखित ढग से वर्गीकृत हैं ।

अ. प्रथम प्रकार के रूप -

''गई बहोर, गरीब नेवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू ।

लागति सांग विभीषन ही पर । सीपर आप भये हैं ।

वैरष बांह बसाइए पै तुलसी, घरू व्याध अजामिल खेरे ।

दीजै भगति बाहै बैरक यो, सुयस बसै अब खेरो ।

स्वारथ अगम परमारथ की कहा चली पेट की कठिन जग जीव को जवारू है ।

कुल गुरू सचिव निपुन नेवनि, अवरेब न समुझि सुधारी है ।

मांगी के खैबो मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देवों का दोऊ ।

आ. दूसरे प्रकार के रूप -

''उधौ जू क्यों न कहै कुबरी जौ बरी नट नागर हेरि हलाकी ।

करुनाकर की करुना करुना हित नाम सुहेत जो देत दगाई ।

एही दरबार में है गरब ते सरब घनि लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता ।

सुर स्वारथी अनीस अलापक, निठुर दयाचित नाही ।

नाम गरीब अनेक नेवाजे ।

टूट्यो सो जुरैगो सरासन महेस जू को, रावरी पिनाक में सरीकता कहां रही।

उपर्युक्त (अ) भाग में आये हुए टेढ़े अक्षरों वाले शब्द रूपों के अन्तर्गत हलक से हलांकी दगा से दगाई मिसकीन से मिसकीनता, लायक से अलायक नेवाज से नेवाजे तथा सरीक से सरीकता इत्यादि शब्दों के निर्माण में क्रमशः इ तथा ता प्रत्ययों और अ उपर्सग का उपयोग विचित्रकौशल के साथ हुआ है ।

उक्त वर्गो में विवेचित रूपों के अतिरिक्त एक रोचक एवं विचित्र प्रकार का और प्रयोग मानस में देखने को मिलता है । जिसका निर्देश यहां पर

अप्रासंगिक न होगा । वह है निम्नलिखित संस्कृत छन्द में रचित स्तुति के अन्तर्गत 'बाज' जैसे विदेशी शब्द का संस्कृत प्रथम विभक्ति के अकारान्त पुलिंग एकवचन संज्ञा की भांति व्यवहार

"त्रातु सदा नो भय खग बाजा ।

इस स्थल पर एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि यह स्तुति शुद्ध संस्कृत में न होकर हिन्दी भाषा में ही है । अवश्य ही इसमें संस्कृत शब्दों की एक श्रृंखला साथ ही कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों के विशेष व्याकरणिक रूपों का दर्शन भी होता हे । अतएव उपर्युक्त प्रयोग में 'मृगराज' के जोड़ में केवल मात्रा पूर्ति के लिए बाज किया गया है न कि अज्ञान वश उसे संस्कृत का शब्द समझकर उसे अकरांत पुलिंग एक वचन के रूप में रखा गया हो, अवश्य ही संस्कृत बहुल पंक्ति में इस का प्रयोग एक कुतूहल की श्रृष्टि करता है । सम्भव है कवि ने स्वयं जानबूझकर बाज शब्द का प्रयोग इस प्रकार करके कुतूहल का अवसर दिया हो ।

4. प्रान्तीय भाषाओं के देशज शब्दों से प्रभावित प्रयोग :

प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोगों का समावेश तुलसी की रचनाओं में अधिक नहीं है । और जहां पर है भी वह प्राय: अत्यन्त प्रचलित एवं व्यापक रूप में है । वस्तुत: भाषा की स्थिरता और शैली की सुव्यवस्था के निर्वाह की दृष्टि से यही उचित भी था । फिर भी जिस मात्रा में ऐसे प्रयोग आये हैं उसका भी अपना महत्व है । और उसके पीछे भी कुछ विशेष परिस्थिति जन्य कारण अथवा कवि का व्यक्तिगत उद्देश्य अवश्य विद्यमान है । इन प्रयोगों के विश्लेषण के पूर्व इस परिस्थिति उद्देश्य तथा महत्व के विषय में थोड़ा बहुत निर्देश कर देना उचित होगा ।

व्यक्तिगत परिस्थिति के विचार से प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव प्रमुखतः दो रूपों में माना जा सकता है ।

1. एक तो कवि के पर्यटनशील जीवन के बीच विविध प्रान्तीय भाषा-भाषियों के साथ समर्पक के रूप में ।

2. कवि का उन प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के अध्ययन अथवा परिचय के रूप में सामूहिक परिस्थिति की दृष्टि से विचार करें तो भी दो ही बातें सामने आती हैं ।

1. सम्भव है, तत्कालीन जनभाषा का ही अमुख प्रान्तीय भाषाओं के अमुख शब्दों से इतना अधिक समर्पक रहा हो कि इसके अन्तर्गत इसका प्रयोग प्रचलित हो गया हो और कवि ने अपनी भाषा को तत्कालीन जनभाषा के अधिकाधिक मेल में रखने के लिए उन शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान न देना उचित न समझा हो ।

2. सम्भव है, कि तत्कालीन जनभाषा में ऐसे प्रान्तीय शब्दों अथवा प्रयोगों का स्वाभाविक रूप में अधिक समावेश न होते हुए भी तत्कालीन शासक वर्ग तथा विजातीय वर्ग द्वारा अपनी भारतीय संस्कृति की अन्य अंगों की भाति भाषा पर भी फारसी के सगठित प्रचार आदि की व्यवस्था के फलस्वरूप आघात होते देखकर उस समय के सभी शासक एवं दूरदर्शी विचार रखने वाले कवियों ने इस बात की आवश्यकता एवं उपयोगिता को समझा हो । कि अन्य प्रान्तीय भाषा भाषीयों से स्थायी एवं गंभीर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रान्तीय भाषाओं से कुछ सरल प्रयोगों को लेकर अपनी रचनाओं की भाषा-भाषियों के लिए भी सुबोध और उपयोगी बनाया जाय ऐसी अवस्था में कदाचित पूर्ववती और अन्य समकालीन सन्त कवियों का भाषा दर्श का अनुसरण करते हुए तुलसी ने भी अपनी भाषा में प्रान्तीय भाषाओं के समावेश करना उचित समझा हो ।

इसी प्रसंग में इस बात का भी निर्देश कर देना असंगत न होगा कि प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोगों के समावेश के कारण भी श्री रामनरेश त्रिपाठी जैसे आलोचकों ने तुलसी के सोरों निवास को सिद्ध करना चाहा है । ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषा के प्रयोगों के सम्बन्ध में जिसका कुछ संकेत पीछे किया जा चुका है । सोरों के मेले में अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषियों के आने से उनके सर्म्पक के प्रभाव से उक्त प्रयोग से स्वाभावतः तुलसी की रचनाओं में आ गये हैं । किन्तु इसी को तुलसी की उक्त प्रवृत्ति का मूल अथवा प्रधान कारण मान लेना दृष्टिकोण की व्यापकता का अभाव सूचित करता है । एक तो जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है । सोरों में तुलसी का इतना अधिक काल तक निवास करना ही संदिग्ध है कि उनकी भाषा के स्वरूप विधान पर उसका मुख्य प्रभाव माना जा सके । और दूसरे यदि इस प्रभाव को मान भी लें तो भी उसका उतने ही अंश में ग्रहण करना समीचीन है जितना कि तुलसी के सम्पर्क में आये हुए अन्य बहुत से स्थानों में । किसी भी विशेष स्थान का । तात्पर्य यह है कि इस बात को मुख्य कारण न मानकर अवश्य ही किसी सीमा तक इसे स्वीकार किया जा सकता है ।

अवश्य ही तुलसी का विविध तीर्थ स्थानों का पर्यटन और निवास जिसका स्पष्ट संकेत उनके ग्रंथो मानस विनयपत्रिका दोहावली और विशेषतः कवितावली के उत्तरकाण्ड से बराबर मिलता है । उनके ग्रंथ प्रान्तीय भाषा-'भाषियों के साथ समर्पक का और फलतः उनकी भाषा में प्रान्तीय प्रयोगों के समावेश का प्रमुख कारण कहा जा सकता है । इस सम्पर्क का एक यह रूप भी सम्भव है कि स्वय तुलसी को अपने जीवनकाल में पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल जाने के कारण स्वय बहुत से अन्य प्रान्तीय भाषा भाषी लोग किसी व्यक्तिगत अभिरुचि अथवा अभिप्राय से उनका परामर्श अथवा पत्र व्यवहार आदि करने लगे हो । और इस

सम्पर्क के क्रमशः बढ़ते-बढ़ते तुलसी का व्यापक अध्ययन भी कुछ अंशों में उक्त प्रान्तीय भाषा प्रयोगों के रूप में माना जा सकता है । किन्तु इन प्रयोगों का परिणाम मानना वैज्ञानिक दृष्टि बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता । वैसे कुतूहल और रोचकता की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों की भी उपयोगिता इसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार अन्य प्रयोगों की ।

तात्पर्य यह है कि कवि का समन्यवात्मक दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थिति में अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों के प्रयोगों का सम्पर्क अथवा कुतूहल एवं रोचकता की प्रवृत्ति यही वे मुख्य बातें है । जो तुलसी की भाषा में इन प्रान्तीय भाषा प्रयोगों के महत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय है । अब हम इन प्रयोगों के संक्षिप्त विश्लेषण की ओर अग्रसर होते हैं ।

तुलसी की भाषा में जिन प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का व्यवहार हुआ है। उनमें राजस्थानी, गुजराती और बंगला प्रमुख रूप से ध्यान देने योग्य हैं । इनके अतिरिक्त मराठी, प्रयोगों का भी कुछ समावेश तुलसी की भाषा में है किन्तु उतना नहीं जितना उपर्युक्त राजस्थानी, गुजराती और बगला प्रयोगों का ।

राजस्थानी :

तुलसी की भाषा में व्यवहृत समस्त प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली के अन्तर्गत राजस्थानी शब्दावली सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है इसके साधारण शब्द ही नहीं वरन् मुहावरे तक अपने शुद्ध रूप में ही यत्रतत्र प्रयुक्त हुए है । इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी का इससे घनिष्ठ सम्पर्क था । इसके कई कारण हो सकते है -

1. एक तो राजस्थानी भाषा-भाषियों से पर्यटन के समय अथवा अन्य अवसरों पर तीर्थ यात्रा के समय जब कि ये लोग स्वयं ही तुलसी की प्रसिद्धि सुनकर उनसे मिलने आते रहे हों । उनका प्रायः सम्पर्क आया होगा ।

2 राजस्थान का क्षेत्र मीरा जैमी भक्त कवयित्री और महाराणा प्रताप जैसे देश भक्त की निवास भूमि होने से वहां की भाषा के प्रति तुलसी का प्रेम और आकर्षण स्वाभाविक ही रहा होगा ।

3. वैसे भी तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति एवं परम्परा में दृष्टि डाले तो भी इस विषय में कोई आश्चर्य की सभावना नहीं रह जाती । क्योंकि तुलसी के पहले चद बरदायी जेसे वीरगाथाकार कवियों की राजस्थानी मिश्रित हिन्दी मे यदि व्रज भाषा के प्रयोगों का समावेश हो सकता है । तो तुलसी की अवधी और ब्रजभाषा की रचनाओं में कुछ राजस्थानी प्रयोग का आ जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

4. साथ ही ऐसे प्रयोगों की सीमित संख्या को देखकर यह भी अनुमान किया जा सकता है । कि तुलसी ने अपने समन्यात्मक दृष्टिकोण को बल देने के लिए अथवा भाषा में केवल कुतूहल एवं विविध रूपता उत्पन्न करने के लिए उक्त प्रयोगों को अपनी शब्दावली में स्थान दिया होगा ।

अस्तु अन्य सारी प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा राजस्थानी प्रयोगों का व्यवहार तुलसी की रचनाओं के अन्तर्गत कहीं अधिक मात्रा में हुआ है । और हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र से राजस्थानी क्षेत्र का समीप्य ही भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसका प्रधान कारण हो सकता है । कम से कम अपनी काव्य भाषा से पड़ोसिन भाषा के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने की उपयोगिता पर तुलसी की प्रवृत्ति का विचार करने पर इन प्रयोगों का महत्व और भी बढ़ जाता है । इस विषय में और अधिक विस्तार में न जाकर अब हम कुछ उदाहरण तुलसी की रचनाओं से उद्धत करके उक्त कथन की पुष्टि करेंगे ।

क. संज्ञा शब्द जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त दारू (बारूद) तथा नारि (गर्दन)

''काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल ।

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं ।

ख. सर्वनाम रूप उदाहरणार्थ 'महको' (मेरा) जो राजस्थानी का अत्यन्त प्रचलित और अवधी और ब्रजभाषा आदि बोलियों में बिल्कुल ही अप्रचलित रूप कहा जा सकता है । का व्यवहार निम्नलिखित पंक्ति में दृष्टव्य है

''दास तुलसी सभय वदति मय नंदिनी ।

मदंमति कंद, सुनु संत म्हाको ।

ग. क्रिया रूपों के अन्तर्गत मेलना सारना तथा पूजना जो क्रमश: डालना, लगाना तथा पूरी होना का अर्थ व्यक्त करते हैं । आदि शब्दों का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है । जो स्पष्टत: राजस्थानी से प्रभावित है ।

1. मेला, मेली-तुरत विभीषन पाछे मेला

सिप जयमाल राम डर मेली

2. सारा सरयो-जातहिं राम तिलक तेहि सारा, सारया ।

परम साधु जियजानि विभीषन लंकापुरी लितक सारयो ।

3. पूजहि पूजी-पूजहि मन कामना तुम्हारी ।

एकहि बार आस सब पूजी

मूरति कृपाल मजुंमान दे, बोलत मई, पूजो मन कामना तुम्हारी ।

मूरति कृपाल मंजुमाल दै, बोलत भई पूजो मनकामना भवतो वरू, वरिकै ।

घ. निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत 'ठोकि-ठोकि खये- अर्थात् कंधाठोक-ठोककर तथा जो 'धन वरसे समय सिर' इन मुहावरों का प्रयोग भी प्राय: राजस्थानी के ही प्रभाव को ही व्यक्त करता है ।

''कंदुक केलि कुसल ह्य चढ़ि चढि मन कसि कसि ठोकि ठोकि खये ।

जो घन बरसै सिर, जौ भरि जनम उदास ।

2. गुजराती भाषा का प्रयोग :

गुजराती भाषा के साथ तुलसी का सम्पर्क आने के तीन ही परिस्थितियां सम्भव जान पड़ती हैं-

1. कदाचित तुलसी पर्यटन करते हुए कभी गुजरात प्रान्त में अथवा अन्य किसी प्रान्त में ही गुजराती भाषा बोलने वाले समुदाय के साथ कुछ काल रहे हो, और इसके फलस्वरूप उनकी बोलचाल में ऐसे कुछ शब्द अपने आप आ गये हों । ऐसी परिस्थिति में बहुत सम्भव यही है कि स्वयं तुलसी ने इनके भेद पर उतना ध्यान न दिया हो । जितना हम इस समय उनकी भाषा का विश्लेषण करते समय दे रहे हैं ।

2. हो सकता है कि तुलसी का गुजराती भाषी जनता से साक्षात् सम्पर्क न हुआ हो किन्तु वे गुजराती के भक्त कवियों की रचनाओं के सम्पर्क में आये हो । और उसी के परिणामस्वरूप कुछ शब्द उनके कितने अधिक अभ्यस्त हो गये हो कि उनकी भाषा में सहज ही उनका समावेश हो गया हो ।

3. यह भी सम्भव है (जैसा कि पीछे कुछ संकेत किया जा चुका है) कि तुलसी के प्रमुख निवास स्थल जैसे काशी, अयोध्या और सूकरखेत आदि तीर्थ-स्थलों में आने वाले गुजराती भाषा-भाषियों से उनका सम्पर्क हुआ हो । और इस प्रकार उनका गुजराती शब्दों से परिचय हो गया हो ।

इन समस्त परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप तुलसी की रचनाओं में जो गुजराती प्रयोग आ गये हैं उनका संक्षेप में आगे उदाहरण सहित विश्लेषण किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों से उक्त, गुजराती प्रयोगों का नमूना देखने को मिल जायेगा।

4. 'जून' शब्द का व्यवहार यह संस्कृत जीर्ण शब्द का ही परिवर्तित रूप है और गुजराती की समीपवर्ती भाषा सिन्धी में भी 'जूना' के रूप में 'प्राचीन' के अर्थ में

प्रचुरता से व्यवहृत होता है । इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पंक्ति में दृष्टव्य है

''का छति लाभ जून धनु तोरे ।

यही पर यह भी निर्देश कर देना अनुचित न होगा कि आजकल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र की व्रज व अवधी आदि बोलियों में इस शब्द का प्रयोग होता तो है, किन्तु इस अर्थ में बिल्कुल नहीं । यहां पर इससे दैनिक कालांश का बोध होता है जैसे संझा की जून अर्थात् संध्या के समय ऐसे ही कौनी जून अर्थात किस समय ।

आ. दरिया

इसका प्रयोग निम्नलिखित पंक्ति में हुआ है ।

''तजि आस भो दास रघुप्पति को दसरथ को दानि दया दरिया ।'

यहां पर दरिया शब्द मूलतः फारसी का होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से गुजराती का प्रयोग कहा जायेगा, क्योंकि फारसी में दरिया का अर्थ होता है नदी। और उसी का अर्थ गुजराती के व्यवहार में समुद्र होता है । डा0 तारापुर वाला ने भी गुजराती के व्यवहार में फारसी शब्द दरिया का अर्थ समुद्र किया है । तुलसी भी उपर्युक्त पंक्ति में संभवतः दरिया समुद्र का अर्थ व्यक्त कर रहे हैं ।

डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने मेल्णों की जीवन कथा शीर्षक निबन्ध से अनेक रचनाओं से अनेक उदाहरण देते हुए सिद्ध किया है कि 'मेलना' केवल राजस्थानी में ही नही वरन् किसी न किसी रूप में अपभ्रंश साहित्य में प्रस्तुत होता रहा है । उन्होंने इसका मूल संस्कृत की मिल धातु के मेलिपति शब्द में खोजना चाहा है । गढ़वाली में मेल्णों के रूप में प्रचलित है और वस्तुतः इसी गढ़वाली शब्द की ही जीवन गाथा का दर्शन करते हुए डा0 बड़थ्वाल ने तुलसी के भी मेली, मेला जैसे शब्दों की चर्चा की है । देखिए मकरन्द (सम्पादक डा0

भागीरथी मिश्र)। अनेक स्थलों पर अपने अराध्य भगवान राम को दयासिन्धु करूणा सिन्धु कहता आया है । वह उन्हीं को दया की नदी का विश्पेण देगा । ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता । अस्तु यहां पर दरिया को गुजराती भाषा का प्रयोग मानना ही अधिक युक्ति संगत होगा, फारसी का नहीं ।

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त एकाधउदाहरण और दिए जाते हैं जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'लाघे' (प्राप्त किया) लाघे का ही रूपान्तरण 'मूकिए' -'छोड़िए' तथा मोंगी (मौन, चुप) का व्यवहार जो स्पष्टत: गुजराती भाषा के प्रभाव को सूचित करता है-

''काहु न इन्ह समान फल लाधे ।

पालो तेरे टूक को परेहु चूक मूकिए न कुर कौड़ी दुका हौ अपनी ओर हेरिये ।

सुनि खग कहत अंव! मौंगी रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो ।

बगला :

इस भाषा के प्रयोग गुजराती की ही भांति अल्प मात्रा में होने पर भी तुलसी की भाषा में यत्रतंत्र अपनी मौलिक गठन को सुरक्षित रखने के कारण महत्वपूर्ण है । ऐसे प्रयोगों के समावेश का मूल कारण लगभग उन्हीं सारी परिस्थितियों में खोजा जा सकता है । जिनका निर्देश गुजराती प्रयोगों पर विचार करते समय किया गया है । जैसे बंगाली, वैष्णव, साहित्य से अथवा बंगाली वैष्णव भक्तों से संपर्क इत्यादि साथ ही केवल रोचकता और विविध रूपता की सृष्टि करने के लक्षण से भी ऐसे एकाभप्रचलित प्रयोग तुलसी ने अपना लिये हो तो कोई आश्चर्य नहीं । अस्तु इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है -

1. बैसा, वैसे (बैठा, बैठे) इनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है ।

''जाय कपिन्ह सो देखा वैसा । आहुति देत रुधिर अरु भैसा ।

अंगद दीख दसानन वैसे । सहित प्रान कज्जल गिरि जैसे ।

2. पारा-पारी (सका, सकी,'पारकर') अर्थ में 'सकना' का पर्याय है का व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में -

''शोक विवश कछु कहै न पारा । हृद लगावत बारहि बारा ।

अध रातपुर द्वारा पुकारा । बाली रिपुबल सहै न पारा ।

मधुकर कहहु कहन जो पारो ।

3. खटाइ, खटाहि (निभती है, निभाती है) का प्रयोग यथा निम्नलिखित पंक्तियों में

''लंका जरि जोहे जिय सोच सो विभीषन को

कहो ऐसे साहब की सेवा न खटाइ को ।

सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुं कि नारी खटाहि ।

4. मराठी :

मराठी भाषा के प्रयोगों का भी तुलसीदास जी की शब्दावली में सर्वथा अभाव नहीं है यद्यपि परिमाण की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है । सम्भवतः काशी के महाराष्ट्रीय पंडितों के सम्पर्क में आने से अथवा कतिपय मराठी भक्त कवियों की रचनाओं के अध्ययन के परिणामस्वरूप इन शब्दों से गोस्वामी जी का परिचय हुआ होगा । इनके उदाहरण के लिए दो शब्द - 1. पंवारों 2. अवकलत दिये जा सकते हैं, जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है -

''वीर बडो विरुदैत बली, अजहूं जग जागत जासु पंवारो ।

मोहि अवकलत उपाय न एकू ।

यही पर यह भी संकेत कर देना आवश्यक होगा कि इनमें पंवारा शब्द लम्बी गाथा के अर्थ में आज भी अवधी की बोलचाल में बराबर प्रयुक्त होता है। जैसे कहां का पंवारा गावत हो, इत्यादि । अतः तर्क की दृष्टि यही युक्त

संगत जान पड़ता है तुलसी ने अपनी सुपरिचित बोली अवधी से ही उक्त शब्द को ही ग्रहण किया होगा । न कि किसी मराठी जैसे सुदूर वर्ती प्रान्तीय भाषा से।

5. हिन्दी की बोलियों तथा उपबोलियों के प्रयोग :

इनके अन्तर्गत जिन विविध बोलियों की गणना की जा सकती है । उनमें प्रमुख रूप से अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, खड़ी बोली, बघेली और छत्तीसगढ़ी उल्लेखनीय है । जिनमें प्रयोगों के समावेश की मात्रा के विचार से अवधी और ब्रज सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि इन्हीं में तुलसी ने प्राधानता: अपने ग्रंथों की रचना की । फलत: इन दो की शब्दावली का अधिक विस्तार से विवेचन किया जायेगा ।

तुलसी ने इन बोलियों के प्रयोगों का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अन्य समस्त भाषाओं से आये हुएप्रयोगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व है । क्योंकि तुलसी प्रधानता जनभाषा के कवि थे और इस नाते जनता की बोलचाल में प्रचलित बोलियों को साहित्यिक रूप देने में जिस मौलिकता की व्यंजना हो सकती थी वह संस्कृत अपभ्रंश आदि पूर्ववती भाषाओं अरबी, फारसी, आदि विदेशी भाषाओं अथवा राजस्थानी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषओं के प्रति अपना परिचय जताने में नहीं मूल रूप में तो अवधी, ब्रज, प्रभृति, हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र की समृद्धि बोलयां ही तुलसी की भाषा को संगठित रूप देने वाली नाड़ियां एवं अस्थियां कही जा सकती है । इन्हीं बोलियों के क्षेत्र है जैसे उनकी कृतियों में उपलब्ध अन्तरसाक्ष्य तथा बर्हिसाक्ष्य दोनों से पता चलता है बिना किसी पर्यटन के ही समीपता ही पर्याप्त है । और ऐसे सहज सम्पर्क का परिणाम उनकी भाषा की रुप रचना एवं व्यवस्था पर अधिकता से दिखाई पड़ना वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा

समीचीन जान पड़ता है । क्रमशः उनका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है ।

1. अवधी :

अवधी बोली की दृष्टि से तुलसी की भाषा पर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनके द्वारा व्यवहृत सभी बोलियों में इसका प्रभाव सबसे अधिक है । वस्तुतः उनकी व्रज भाषा की सारी रचनाएं मिलकर भी उनको वह प्रतिष्ठा एवं गौरव नहीं प्रदान कर सकती थी जितना अवधि में लिखा गया राम चरित मानस जिसकी प्रसिद्धि एवं महत्ता सर्वथा असंदिग्ध है । एक ही बात तुलसी की रचनाओं में अवधी के प्रभुत्व एवं महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है । किन्तु अन्य भी कई कारण एवं परिस्थितियां है । जिनका अवधी को उनकी भाषा का एक अनिवार्य अंग बना देने में विशिष्ट व्यवहार है । और जिनकी उपेक्षा करना किसी प्रकार भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । इनमें प्रमुख ये है -

क. तुलसी का जन्म स्थान चाहे राजापुर माने चाहे सोरो चाहे और कोई स्थान पर इतना तो निश्चित है कि हमारे कवि का अधिकांश निवास काल अवधी भाषा-भाषी क्षेत्र के भीतर अथवा उसी के आसपास व्यतीत हुआ है । ऐसी स्थिति में निःसंदेह अवधी एक प्रकार से नित्य ही विचारों के आदान-प्रदान का एक परिचित माध्यम हो जाने के कारण उनकी अपनी घरेलू बोली को राम यश भाव द्वारा पवित्र करने की आवश्यकता एवं उपयोगिता को महत्व न देते, ऐसा कैसे संभव था ।

ख. अवधी हमारे कवि के आराध्य भगवान राम की जन्म भूमि एवं लीलाभूमि अयोध्या के निवासियों की अपनी बोली होने के कारण तुलसी के लिए कितनी पूजा एवं श्रद्धा की वस्तु बन गयी होगी । साथ ही लक्ष्मण की बसाई हुई कही जाने वाली नगरी लखनऊ की बोली भी अवधी ही थी इस तथ्य ने भी उसे कम

प्रभावित न किया होगा । अतः इस दृष्टि से भी अवधी के प्रति हमारे कवि का तीव्र आकर्षण होना स्वाभाविक है ।

ग. सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टिकोण से इस प्रवृत्ति की जांच करें तो एक और बात का ध्यान जाता है । वह यह कि तुलसी की पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियों की रचनाओं में अवधी और ब्रज दोनों का व्यवहार हो चुकने पर भी तुलसी को अवधी के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा प्रकाशित एवं विकसित करने का अधिक अवसर था । जिसका उन्होंने भली भांति प्रयोग किया । वस्तु स्थिति यह थी कि दोनों बोलियों को उनकी रचनाओं में स्थान मिल जाने पर भी प्रयोग बाहुल्य के कारण जितना परिमार्जन ब्रज भाषा का हो चुका था उतना अवधी का नही । सूरदास जैसे प्रथम श्रेणी के कवि अपने पदों में व्रज भाषा को एक शिष्ट काव्यात्मक रूप प्रदान कर चुके थे और नन्ददास जैसे जड़िया कलाकार इसके वाह्य रूपरंग को भी पर्याप्त मात्रा में निखार रहे थे । किन्तु अवधी में तुलसी से पहले एक निश्चित परिमाण में ऐसा करने वाले कवि जायसी जैसे एकाध कवि कहे जा सकते हैं । जायसी प्रबन्ध कौशल प्रकृति चित्रण, सौन्दर्य अंकन प्रभृति अनेक बातों के विचार से चाहे जितने सफल हुए हों किन्तु निर्विवाद है कि उनकी अवधि में ठेठ बोली को ठाठ अधिक था । और उसे पर्याप्त मात्रा में शिष्ट एवं काव्यात्मक बनाने की आवश्यकता बनी थी । अन्य किसी प्रतिभाशाली कवि को इस दिशा में अग्रसर होते न देखकर बहुत संभव है कि तुलसी ने आवश्यकता की पूर्ति करने की ओर विशेष ध्यान दिया हो और अवधी को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति का माध्यम बनाकर अपने इस कार्य के लिए उत्कृष्ठ द्वार खोल देना उपयोगी समझा हो । तुलसी वस्तुतः इस कार्य में इतने सफल हुए कि उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा एवं अपूर्व भाषाधिकार के बल पर रामचरित मानस जैसे ग्रन्थ की उक्त बोली में

रचना करके ऐसी उत्तम शैली में की कि आज भी उसके जोड़ में हिन्दी साहित्य कोई ग्रंथ नहीं रखा जा सकता । अवधी को शाश्वत अमरता प्रदान कर दी ।

यही कारण है कि तुलसी की वर्णमाला तथा प्रयोग पद्धति में अवधि के लगभग सारे व्याकरणिक लक्षणों का व्यापक समावेश दृष्टिगोचर होता है । केवल अवधी में लिखित ग्रंथों के अन्तर्गत ही नहीं वरन् व्रज भाषा में रचित ग्रंथों में भी इसका पर्याप्त पुट देखकर इस व्यापकता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है । अस्तु अवधी की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर तुलसी की शब्दावली में उपलब्ध अवधी प्रयोगों की उदाहरणा सहित छानबीन नीचे की जाती है ।

1. अवधी में संज्ञा के हृस्व अकारांत रुपों का बाहुल्य पाया जाता है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियों में गंगा के लिये गंगमाला, के लिए माल तथा पताका के लिए पताक .....

''गंग सकल मुद मंगल मूला ।

सीस गंग गिरिजा अधंग भूपन भुजंगकर ।

मुंड माल विधु बाल, भाल डमरू कपालकर ।

लसत ललितकर कमल माल पहिरावत ।

काम फंद जन चंदेहि वनज फंदावत ।

चामर पताक, वितान तोरन कलस दीपावलि बनी ।

बरवै रामायण की निम्नलिखित पंक्तियों में आये हुए हस्व (हार) को चाहे तो दूसरे प्रकार के अवधी संज्ञा रूप जैसे घोड़वा आदि शब्दों की कोटि में रख सकते हैं -

''चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाई ।

जानि परे सिय हियरे जब कुम्भिलाई ।

सीप बरन सम केतक अति हिय हारि ।

किन्हेसि भंवर कर हरवा ह्रदय विदारि ।

2 अवधी में विकारी बहुवचन रूपों का निर्माण एकवचन रूपों में 'न्ह' प्रत्यय का योग करके बनता है । जो तुलसी की रचनाओं में प्रचुरता से दिखाई देता है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में व्यवहृत नारिन्ह, जुवतिन्ह, बीथिन्ह, बंदिन्ह इत्यादि ।

''रामरूप अरू सिय छवि देखे । नर नारिन्ह परिहरी निमेषे ।

दल फलमूल दूब दधि रोचन । जुवतिन्ह भरि भरि थार लये ।

गावत चली भीर भइ बीथिन्ह । बन्दिह बाकुरे बिरद वये ।

केवल न प्रत्यय के योग से भी अवधी में बहुवचन रूप बनाये जाते हैं । किन्तु यही प्रवृत्ति व्रज भाषा के विकारी रूपों में भी बहुलता से मिलती है । इसलिए ऐसे रूपों को व्रजभाषा से प्रभावित प्रयोगों में ही दिखाना अधिक युक्ति संगत है । अवधि के न्ह प्रत्यय के युक्त रूपों को विशेष महत्व इसलिए दिया गया है कि वे इस बोली के अपने विशेष हैं जो व्रजभाषामें नहीं मिलते ।

3. अवधी में बहुत सी संज्ञाओं व विशेषणों के अकरान्त रूपों को उकारान्त रूप में प्रयोग करने की परम्परा पायी जाती है । इस प्रवृत्ति के दर्शन तुलसी की भी अवधी बहुल रचनाओं में बराबर होते हैं । जैसे निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित शब्द

''नगर नारि नर हरषित सब चले खेलन फागु ।

देखि राम छवि अतुलित उमगत उर अनुरागु ।

प्रेरित राम चलेऊ सो हरेषु विरहु अति ताहू ।

तुलसीदास कहे कहौ धौ कौन विधि, अति लघु मति जड़ कूर गंवारू ।

6. अवधी के कारक चिह्नों में भूत निश्चयार्थ क्रियाओं के प्रसंग में कर्ता कारक के 'न' का किसी रूप में भी व्यवहार नहीं मिलता । तुलसी की भाषा में इसका पूरा अनुकरण हुआ है । यहां कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे -

''राम कहा सबु कौमिक पाही । सरल सुभाउ छुआ छल नाही ।

सुनी मे सखि मगल चाह सुहाई ।

आलसी अभागी अंधी आरत अनाथ पाल ।

साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं ।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'राम कहा' मैं सुनी तथा मे गुनी में इस सबके बीच बीच में कर्ता कारक चिन्ह ने का लोप अथवा अभाव मिलता है । यही पर यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि तुलसी की निम्नलिखित पंक्ति में प्रयुक्त सीता बोल भी अवधी के व्याकरणिक नियमों के ही अनुसार हुआ है । इसे व्याकरणिक दृष्टि दोषपूर्ण कहने का साहस करने वाले आलोचकों को सावधानी से काम लेना चाहिए ।

''मरम वचन जब सीता बोली । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।

प्राचीन अवधी के अन्तर्गत 'कर्माण' प्रयोग में क्रिया का रूपकर्म के अनुसार होता है । यद्यपि कारक अविकारी रूप में रहता है । इसी नियम के अनुकूल उक्त प्रयोग को भी जानना चाहिए ।

7. अवधी में सम्बन्ध कारक के परर्सग के कर और 'केर' बहुलता से प्रयुक्त होते है । इनका व्यवहार भी तुलसी की रचनाओं में प्रचुरता से हुआ है । उदाहरणार्थ

''त्रेता भई वृतजुग कै करनी ।

गगा जल कर कलस तौ तुरित मंगाइय हो ।

बाप बाप गुरू स्वामि राम कर नाम ।

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा । मिटई न जीवन्ह केरु कलेसा ।

आजकल अवधी में बाहुलता से प्रयुक्त संबंध कारक परसर्ग 'क' तुलसी की रचनाओं में अभाव मिलना उक्त परसर्ग की आधुनिकता का सूचक कहा जा सकता है ।

8. अधिकरण कारक का वर्तमान अवधी पारिर्सग माँ अपने विशुद्ध रूप में सभवत: कहीं अधिक आधुनिक हैं । तुलसी की रचनाओं में इसके लिए माह मंह महु का व्यवहार हुआ है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े अक्षरो वाले अंश -

''गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माह । देखहु आपनि मूरति सिय के छांह।

कौसल्या कल कनक अजिर मंह । सिखवति चलनि अगुरियां लाये ।

उठे हरि हरषि सुख सिन्धु महुं, चले थाहसी लेत ।

9. सर्वनामों के अन्तर्गत अवधी के सम्बन्ध कारक रूप कुछ विशेष प्रकार के मिलते हैं । जिनमें यहां पर मोर तोर हमार तुम्हार ताकर जाकर केहिकर आदि का उल्लेख किया जा सकता है । तुलसी की भाषा में इनका भी पर्याप्त प्रयोग अवधी के प्रभाव का द्योतक है । कुछ उदाहरण निम्नलिखित है -

''विषय विमुख मन मोरू सेइ परमारथ ।

उन्हहि देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ ।

मोर दास कहाइ नर आसा । करइत कहहु कहा विश्वासा ।

राम वाम दिसि जानकी । लखन दाहिनी ओर ।

ध्यान सकल कल्पना मय । सुरुतरु तुलसी तोर ।

प्रनत पाल प्रन तोर मोर प्रन, जिअऊं कमल पथ देखे ।

गिरिजहि लागि हमार जीवन सुख सम्पत्ति ।

कहा हमार न सुनहु तब, नारदके उपदेश ।

नाथ मोहि बालकन्ह सहित पुर परिजन ।

राखन हारि तुम्हार अनुग्रह धर वन ।

ताकर दूत अनल जेहि सिरजा । जरा न सो तेहि कारन गिरजा ।

जाकर नाम सुनत शुभ होई । मोरे गृह आवा प्रभु सोई ।

गालु करब केहिकर बल पाई ।

क्रिया रूपों की दृष्टि से विचार करें तो सहायक क्रिया के बहुत से भूतकालीक रूप तुलसी की भाषा में (रह) धातु के सहारे बनाए गए हैं । जैसे रहेऊ रहें रहे और रहा इत्यादि जो अवधि में व्यापक रूप से व्यवहृत हुए हैं । उदाहरणार्थ

''जात रहेऊ विरचि क धामा ।

हमहू उमा रहे तेहि सगा ।

रहा बालि बानर मैं जाना ।

10. क्रियार्थक संज्ञाओं के अवधी रूप असु, गवनु, देन, करन, मिलत और भुलावा आदि (जो नू न तथा ब के योग से बनते हैं) का व्यवहार भी तुलसी की शब्दावली में प्रचुरता से मिल जायेगा । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में -

''अटनु राम गिरि बन तापस थल ।

आसन अजीरन को समुझि तिलक तज्यों । विपिन गबनु भले भूखें को सुनातु भो ।

जब तेहि कहा देन बैदेहि चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही ।

करन चहहुं रघुपति गुन गाहा । लघुमति मोरी चरित अवगाहा ।

मिलब हमार भुलांव निजि, कहहु न हमहि न खोरि ।

11. भूतकालिक सहायक क्रिया के रूपों में वचन लिंग तथा पुरुष के कारण विभिन्नता होना भी तुलसी की भाषा में अवधी व्याकरण तथा अवधी बोलचाल में

प्रचलित सामान्य नियमों के प्रभाव के कारण आया है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त भा, भे, भइ ओर भये आदि ।

''अपनी समुझि साधु सुचि काभा ।

भगति सिरोमनि भे प्रहलादू ।

सो कुचालि सब कह भइ नीकि ।

पहचानि को केहि जानि । सबहि अपान सुधि मोरी भइ ।

तेहि के भये जुगल सुत बीरा ।

12. संयुक्त क्रियाओं का निर्माण अवधी की भांति तुलसी की भाषा में प्राय: 'कृदंतों' के आधार पर हुआ है । जैसे नहान, लाग, लगे, संभारन, कहै लाग इत्यादि । जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है ।

''प्रात नहान लाग सब कोऊ

लगे संभारन निज निज अनी ।

कहै लाग खल निज प्रभुताई ।

14. भविष्य काल के अधिकांश रूप अवधी में मूल धातु के साथ 'ब' प्रत्यय के योग से बनते हैं वे प्रवृत्त तुलसी की भाषा में बहुतायत से दृष्टिगोचर होती है । निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त कहब, जाब, और देव जैसे रूप उनकी प्राय सभी रचनाओं में यत्रतत्र विखरे हुए मिलेंगे

''राम भरत सानुज लखनु, दसरथ बालक चारि ।

तुलसी सुमिरत सगुन शुभ मंगल कहब पचारि ।

जाब जहां लगि तहं पहुंचाई ।

पन परिहरि सिय देव जनक वर स्यामहि ।

15. कृर्तवाचक संज्ञाओं में सबसे अधिक प्रचलित एवं व्यापक अवधी रूपों का जिनका निर्माण मूल धातु के साथ अन्त 'ऐया' प्रत्यय जोड़कर होता है । और

जो पुराने और आधुनिक रूपों में समान रूप से मिलता है । प्रचुर प्रयोग तुलसी की रचनाओं में विशेषकर कवितावली और गीतावली आदि ग्रंथों में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत, लुटैया, सुनैया, अन्हवैया, वसैया, कहैया और जितैया इत्यादि ।

हैं हैं सकल सुकृत सुख भाजन, लोचन लाहु लुटैया ।

अनायास पइहै जनम फल, तोतरे वचन सुनैया ।

भरत राम रिपु दवन लखन के, चरित सरित अन्हवैया ।

तुलसी तब कैसे अबहू जानिये रघुवर नगर बसैया ।

तिन कही जगत में जगमगति जोरी एक, दूजों को कहैया औ सुनैया चख चारियो ।

मत राखिबे को काज राजा मेरे संग, दये जीतें जातु धान जे जितैया विवुधेरन के ।

16. क्रिया के सामान्य वर्तमान काल में केवल मूल धातु के व्यवहार की प्रवृत्ति भी अवधी की एक प्रमुख विशेपता है । जिसके उदाहरण तुलसी की शब्दावली में भी बहुलता से मिल जाते हैं । जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त जान और कह आदि -

''जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाऊ ।

कुंवरि लागि पितु कांध ठाढ़ि भई सोहइ ।

रुप प जाइ बखानि जान जोइ जोहइ ।

कोऊ कह संकर चाप कठोरा ।

17. तुलसी की रचनाओं के अन्तर्गत बहुत से ऐसे शब्दों मुहावरों एवं कहावतों का ठेढ रूप में भी व्यवहार हुआ है । जो अवधी के क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं और उनकी छानबीन का अपना विशिष्ट महत्व है । क्योंकि इसके

बिना तुलसी की भाषा को जनता में इतनी लोकप्रियता प्रदान करने अवधी के ठेढ शब्दावली ने जो बहुमूल्य सहायता प्रदान की है । और जिसके फलस्वरूप वह तुलसी द्वारा व्यवहृत अन्य सारी भाषाओं एवं बोलियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । इसका स्पष्टीकरण न हो सकता । अस्तु हम संक्षेप में तुलसी की रचनाओं में बिखरे इन ठेढे शब्दों में से कतिपय चुने हुए रूपों के उदाहरण प्रस्तुत करत हैं ।

1. ख्याल :

''बालक नृपालजु के ख्याल ही विनाक तोरयो,

मडलीय मंडली प्रताप दाय दालिरी ।

2. पेटारी :

''अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ।

3. सरवरि : (बराबरी) माथा (मस्तक)

''हमहिं तुमहीं सरबरि कस नाथा ।

कहहु न कहां चरन कहि माथा ।

4. अमराई :

''देखि अनूप एक अमराई ।

5. कौर (ग्रास) :

''जानकी जीवन! जनम जनम जग ज्यापी ।

तिहारोहि कौर को हौ ।

6. नाऊं गाऊं :

''मारग अगम संग नहि संबल नाऊं, गाऊं कर भूला रे ।

7. घरौदा :

''पति को पहार कियो ख्याल ही कृपालु राम ।

वापुरो विभीषण घरौंदा हुतो बालु को ।

8 मांडव : (जो विवाह के समय छाया जाता है)

''मुनि गन बोलि कहेऊ नृप मांडव छावन ।

आलहि बांस के मांडव मनि गन पूरन ही ।

9. झालरि :

''मोतिन्ह झालरि लागि चहु दिसि भूलन हो ।

10. डोगर, डांग, स्वांग :

''चित्र विचित्र विविध मृग डोलत डोंगर डांग

जनु पुर बीथिन बिहरत हैल संवारे स्वांग ।

11. उहार : (पालकी को ढंकने वाला वस्त्र)

''नारि उहार उधारि दुलहि निन्ह देखहि ।

12. भुई बादर :

''उमगि चलेऊ आनन्द भुवन भूई बादर ।

तुलसी के अवधी प्रयोगों के अन्तर्गत कुछ ठेढ पूर्वीपन लिये हुए रूप विशेषतया ध्यान देने योग्य है । इनमें अधिकांश का प्रयोग उन्हीं एकाध स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है जहां पर कवि अपने कुछ पूर्ववर्ती जनकवियों रहीम और कबीर आदि की रचनाओं में उपलब्ध ठेढ पूर्वी रूपों के प्रयोग की परम्परा को किसी न किसी अंश में अपनी भाषा में भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न बहुत कुछ उसी प्रकार का है । जिस प्रकार तुलसी की शब्दावली में उपलब्ध अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी है । फारसी, अरबी आदि विदेशी भाषा के एवं गुजराती, बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोगों को स्थान देते समय दिखाई पड़ता है । अन्य प्रयोगों की भांति इन प्रयोगों में भी केवल कुतूहल अथवा रोचकता का उत्पादन भी एक गौड़ कारण हो सकता है । कुछ ऐसे ठेठ पूर्वी रूप भी मिलते हैं जहां

पर कवि का आग्रह भाषा के मिलेजुले रूपों की अपेक्षा जनबोली के किसी रूप विशेष के प्रति रहा है । ऐसे प्रयोगों में 'व' तथा 'इया' के योग से बने हुए शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से उल्लेखनीय है । जो विशुद्ध पूर्वीपन लिए हुए है । इनका दिग्दर्शन सक्षेप में निम्नलिखित उदाहरणों में कराया जाता है

अ. 'वा' के योग से जिन शब्दों का निर्माण हुआ है । उनमें इस प्रत्यय को जोड़ने से पूर्व मूल शब्द की वह ध्वनि जिस पर बलाघात हुआ करता है, दीर्घ से ह्रस्व कर दी जाती है । जैसे 'हार' के स्थान में हरवा का प्रयोग । जहां कहीं प्रत्यक्ष में यह क्रिया नहीं दृष्टिगोचर होती, वहा पर भी उच्चारण ध्वनि को छांव कर देना पड़ता है । जैसे 'देख' के स्थान में देखना यह भी अवधी का ठेठ पूर्वी प्रयोग है किन्तु तुलसी की रचनाओं में इसका समावेश कुछ ही शब्दों तक सीमित है । अतः इसे हम उनकी भाषा की व्यापक प्रवृत्तियों में नहीं रख सकते । उदाहरणार्थ

''चपंक हरवा सिय अंग मिल अधिक सोहाई ।

किहेसि भंवर कर हरवा, हृदय विदारि ।

आ. 'इया' प्रत्यय के योग से बने हुए रूप जैसे – उजियरिया, बतिया, मलिनिया, कनगुरिया, बरिनिया, नाउनिया, अनुहरिया उदाहरणार्थ

''उकहु न है उजियरिया निशि नहि क्षाम ।

बतिया सुघर मलिनिया सुंदर गातहि हो ।

कनगुरिया कै मुंदरी कंकन होई ।

करि कै छीनी बारिकिया छाता पानित हो ।

नेन विशाल नाउनिया भो चमकावहि हो ।

मुख अनुहरिया केवल चदं समान ।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त उजियरिया, बतिया, मलिनिया, कनगुरिया, बरिनिया, नउनिया और अनुहरिया आदि रेखांकित शब्द क्रमश: उजियारी, बात, मालिन, कनगुरी, बारिन, नाउन और अनुहार से बने हैं । और ठेढे प्रयोगों के अन्तर्गत आत हैं ।

इ. 'इया' की भांति ही इसके अनुनासिक रूप 'इया' के योग से बने हुए कुछ ऐमे रूप भी तुलसी की शब्दावली में मिलते हैं जो विशेषत: लघुत्व का बोध कराने प्रयुक्त हुए हैं । यह प्रवृत्ति भी ठेठ पूर्वी प्रयोगों से प्रभावित हैं । उदाहरणार्थ शिशु रूप राम के वर्णन के अन्तर्गत गीतावली की निम्नलिखित पंक्तियों में गोडिया, अंगुरिया, पहुंचिया, पैजनिया, नथुनियां, और चौतनिया आदि शब्द क्रमश: गोड़ (चरन), अगुरी, पहुची, नथुनी और चैतनी शब्दों से ही बने हैं। जो केवल शिशु रूप के अनुकूल छोटे आकार के होने का बोध कराते हैं । इनमें अनुनासिक ध्वनि का योग बहुवचन रूपों का बोध कराने के लिए हुआ है ।

''छोटी-छोटी गोडियां अंगुरिया छबीली छोटी ।

नख ज्योति मोती मानो कमल दलमि पर ।

किकिनी कतित कटि हारक जटित मनि ।

मंजु कर कंजनि पहुंचियां रुचिर तर ।

अरुण चरन नाव ज्योति जगमगाति रुनझुन करत पांव पैजनियां

रुचिर चिबुंक रद अधर मनोहर ललित नासिका लसति नथुनियां ।

भाल तिलक मसि बिन्दु विराजत, सोहति सीस लाल चौतनियां ।

वा, इया और इयाँ के योग से बने हुए उक्त रूपों की परम्परा रहीम और कबीर जैसे तुलसी के पूर्ववर्ती कवियों से सम्बन्धित कही जा सकती है । जैसा कि पहले संकेत किया गया है । कारण की ऐसे प्रयोग उनकी रचनाओं में बराबर

मिल जाते हैं । इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं । रेखांकित शब्द ध्यान देने योग्य है -

''पीतम एक सुमिरिनियां मोहि देह जाहु ।

जेहि जप तोरि बिरहवा करब निबाहु (रहीम)

''खेल ले नैहरवा दिन चार ।

जहवां से आयो अमर वह देसवा ।

माई मोर बसत अगम पुरवा जहां गमन हमार ।(कबीर)

''भोरहि बोलि कोयइला बढ़वति ताप ।

पी एक भरि अलिया रहु चुपचाप ।

लैके सुधर खुरपिया पिय के साथ । छइबे एक छतरिया बरसत पात ।

प्रीतम एक सुमिरनिया मोहि देहु जाहु ।(रहीम)

''पिय ऊंची रे अटरिया तोरी देखन चली ।

अली अटरिया जरद किनरिया, लगी नाम की डोरिया ।(कबीर)

अवधी के इन ठेठ पूर्वी रूपों के अन्तर्गत एक आदि सर्वनाम तथा क्रिया विशेषण रूपों का निर्देश भी आवश्यक होगा जिनका व्यवहार तुलसी की भाषा में केवल नाम मात्र के लिए हुआ है किन्तु जिनका उल्लेख विविधरूपता की दृष्टि से उचित होगा ऐसे रूपों के अन्तर्गत निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त तोहारा, तुम्हारा, (जहिया) जब और कहिया (तब) उल्लेखनीय है ।

''राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तोहारा ।

भुजबल विस्व जितब तुम जहिया । धरिहहिं विष्णु मनुज तनु तहिया ।

व्रजभाषा :

अवधी के पश्चात दूसरी महत्वपूर्ण बोली ब्रजभाषा है । जिसका प्रचुर समावेश तुलसी की भाषा को इतनी लोकप्रियता प्रदान कर सका है । कुछ

रचनाओं को तो जान बूझकर कवि ने विशुद्ध व्रजभाषा में ही प्रस्तुत किया है । जिससे अवधी के साथ-साथ इस बोली के प्रति भी कवि की स्वाभाविक ममता एव अभिरुचि स्पष्ट है । यही कारण है कि कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली आदि ऐसे ग्रथों में ही नहीं जो विशुद्ध व्रजभाषा में रचित हैं वरन् रामचरित मानस जानकीमगल और पार्वतीमंगलजैसे विशुद्ध अवधी रचनाओं के अन्तर्गत भी व्रजभाषा रूपों का व्यवहार उल्लेखनीय मात्रा में हुआ है । सक्षेप में हम ब्रजभाषा की ओर तुलसी की अभिरुचि जाग्रत करने वाली प्रमुख परिस्थितियों का निर्देश करके तब तुलसी की भाषा में उपलब्ध व्रजभाषा प्रयोगों का विश्लेषण करेंगे ।

तुलसी की पूर्वकालीन साहित्यिक परिस्थिति को देखते हुए हम स्पष्ट कह सकते हैं कि व्रज भाषा उस समय के हिन्दी भाषा क्षेत्र के लगभग सभी कवियों में व्यापक रूप से काव्य भाषा के रूप में प्रचलित थी । जायसी जैसे कुछ अवधी कवि इस परम्परा के अपवाद हैं । जिन्होंने व्रजभाषा की काव्यगत माध्यम के रूप में अपनाने की अभिरुचि नहीं दिखाई । राजस्थानी कवियों तक की रचनायें इस बोली के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी । पूर्वकालीन एवं तत्कालीन काव्य भाषा परम्परा को सुरक्षित रखने की भावना तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि में होनी बहुत स्वाभाविक थी अथवा यह भी माना जा सकता है कि वे इस सम्बन्ध में परिस्थिति के प्रभाव से स्वयं भी मुक्त न रह सके हो । और बहुत संभव है कि ब्रज भाषा के प्रसिद्ध सहज माधुर्य ने ही उनको अपनी ओर बर्बश खींचकर अपने वातावरण में उन्हें लाकर कुछ काल के लिए अवधी की सीमा से बाहर आने को बाध्य कर दिया हो । इसके पीछे एक और महत्वपूर्ण बात उल्लेखनीय है । जिसका सम्बन्ध तुलसी की व्यक्तिगत प्रवृत्ति से है । न कि परिस्थितियों के प्रभाव से वह यह कि तुलसी ने अपने पूर्वकालीन एंव तत्कालीन कविता में प्रचलित सभी शैलियों में रचनायें की हैं । जैसे कवित्त सवैया चौपाई दोहा बरवै

इत्यादि । इसी प्रवृत्ति को थोड़ा और व्यापक रूप में ग्रहण करें तो यह कदाचित सर्वथा उचित ही था कि वे अपने समय की पहले से चली आती हुई एक मंजी हुई काव्य शैली का प्रतिनिधित्व करने वाली बोली ब्रजभाषा को भी अपनी भावाविभक्ति का माध्यम बनाया ।

भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से देखे तो ब्रजभाषा अवधी की बहुत ही समीपवर्ती बोली होने से कवि का ध्यान अपनी ओर खींच लेने में सर्वथा समर्थ थी । और फिर उसे भी रामयश गान द्वारा पवित्र कर लेने का निश्चय कर लेना भी तुलसी के वे सर्वथा स्वाभाविक था फिर भगवान कृष्ण के जन्म और लीला भूमि से साक्षात् रखने वाली ब्रजभाषा को भक्त कवियों को इतनी प्रिय रही है कि सूरदास से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे आधुनिक कवि के प्रति अपना मोह नहीं पाये ।

जब ब्रजभाषा साहित्य बनने लगा तो उसकी प्रसिद्धि और भी बढ़ी, दूर-दूर तक ब्रजभाषा सहित्य पहुंचा । अहिन्दी भाषी प्रान्त भी मोहित हो गये । युक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त ही नहीं गुजरात, काठियावाड, दक्षिणभारत, बंगाल, उड़ीसा आदि सर्वत्र भारत के कोने-कोने में ब्रजभाषा के गीत गाये जाने लगे । गुजरात पर तो बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा अनेक मैथिली बगाली, गुजराती, और मद्रासी कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की नरसि भक्त और नामदेव के ब्रजभाषा पद आज भी महात्मा गांधी जैसे आत्माओं के आराध्य है । इन सब अहिन्दी भाषी महात्माओं ने व्रजभाषा में कविता करके उसे जो स्वरूप उस समय एक प्रकार से राष्ट्रभाषा को दिया । वह स्मरणीय था । तो तुलसी जैसे भक्त कवि के हृदय में भी इस भक्त प्रिय ब्रजभाषा को स्थान मिलना स्वाभाविक और युक्तिसंगत ही कहा जायेगा ।

इस विषय में एक बात और कही जा सकती है । वह यह कि व्रजभाषा कतिपय विशेष काव्य शैलियों कवित्त सवैया आदि की स्वाभाविक गति से अधिक मेल खाती है । इस व्यवहारिक सुविधा की दृष्टि ने भी तुलसी को न्यूनाधिक अंश में अवश्य ही प्रभावित किया होगा सम्भवत: यही कारण है कि रामचरित मानस और वरबै जैसे ग्रंथों की अपेक्षा कवितावली में उसका व्यवहार अधिक मिलता है । गीतों के लिये भी अवधी की अपेक्षा व्रजभाषा की उपयुक्तता परम्परा से सिद्ध है । और बहुत कुछ इसलिए तुलसी के गीत बहुल ग्रंथों विनयपत्रिका, गीतावली और श्रीकृष्ण गीतावली में भी व्रजभाषा का आधिक्य मिलता है ।

यही पर यह भी संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि तुलसी की श्रीकृष्ण गीतावली व्रजभाषा का सबसे ठेठ रूप उपस्थित करती है और उसके मूल में उक्त ग्रंथ रामचरित मानस का राम परक होना । कविताओं में आये हुए काव्य पाठ स्थलों में व्रजभापा को अधिक पुष्टि कर देता है । स्पष्ट है कि विषय तत्व के वातावरण के साथ अनुकूल भाषा द्वारा अधिक संजीवता एवं स्वाभाविकता लाने की उपयोगिता समझते हुए भी तुलसी ने ऐसा किया है । यहां तक कि इन्में व्यवहृत मुहावरों एवं कहावतों की शब्दावली भी व्रजभाषा की ठेठ बोलचाल से ग्रहण की गयी है ।

उपर्युक्त कारणों परिस्थितियों एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के फलस्वरूप व्रजभाषा की शास्त्रीय एवं व्यवहारिक दोनों प्रकार की विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले रूपों का प्रयोग तुलसी की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में मिलेगा । सापेक्ष अवधी के पश्चात प्रयोग बाहुल्य के विचार से इसी का स्थान है । अब हम क्रमश: व्याकरणिक प्रवृत्तियों तथा बोलचाल के रूपों के निर्माण से सम्बन्धित विशेषताओं के प्रकाश में तुलसी की शब्दावली की छानबीन करेंगे ।

क. संज्ञाओं के ओकारान्त रूपों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बेरों, झगरों, सारों तथा चारों इत्यादि ।

''नर तनु भव वारिधि कहु बोरी ।

बहुमत सुनि बहु पंथ पुरातन, जहं तह कमरो सो ।

गुन कहयों राम भजन नीकों मोहि, लागत राज उगरों सो ।

सुक सो गहबर हिये कह खारो ।

तुलसी और प्रीति की चर्चा करत कहा कहुचारो ।

ख. ओकारान्त विशेषण रूपों का व्यवहार उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित शब्द -

''मेघ नाद ते दुलारो प्रान ते पियारो वाम अति अनुराग जिय जातुधान धीर को ।

हरो चरहि तापहि बरत, करे पसारहि हाथ ।

हुता ने सांचो संनेह मिटयो मन को संदेह हरि पेट उघारि सदेसहु ठठई ।

मन जाहि राचेइ मिलिहि, सो वर सहज सुन्दर सांवरों ।

ग. 'न' प्रत्यय के योग से विकारी बहुवचन सेवा रूपों का निर्माण उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित शब्द -

''सुमिरत सी रघुवरन की लीला लरिकाई ।

बिनु ब्रजनाथ ताप नयनन की कौन हरै अन्तर कारे ।

तुलसी दास व्रज बनितन को व्रत प्रति समरथ को करि जतन निवारे ।

फल भास नमि विटप सब, रहे भूमि नियराइ ।

घ. कर्म व सम्प्रदान कारक के रूपों में 'की' को तथा कौ परसर्गो का व्यवहार व्रजभाषा में होता है । उनमें अधिक प्रादेशिक रूप 'कौ' का प्रयोग तुलसी की

भाषा में नहीं मिलता । इसके स्थान में सर्वत्र 'को' तथा 'कौ' का ही व्यवहार हुआ है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों के रेखांकित अंश -

''तुलसी के वाम को भोदाहिनो दया निधान ।

सुनत सिहात सब सिद्ध साधु को ।

तुलसी की वाजी राखी राम ही के नाम न तु भेट पितरन को न मूडहूं में बार है ।

''सिगरिये'' सिगरिये हौ ही खै हों, बलदाऊ को न दैहो ।

सो क्यों मट्टू तेरो कहा कहि इत उत जात ।

ङ संबंध कारक में भी 'को' (परसर्ग) का व्यवहार तुलसी ने बहुत से स्थलों पर संभवत: व्रजभाषा व्याकरण का अनुसरण करते हुए ही किया है । इनका प्रयोग रामचरित मानस जैसे अवधी बाहुल्य ग्रंथों में न मिलकर कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका और श्रीकृष्ण गीतावली जैसे व्रजभाषा बहुल ग्रंथों में विशेष विस्तार से मिलेगा । अवधी बाहुल ग्रंथों में इसके कम मिलने के कारण यह हैं कि अवधी में 'को' के स्थान में 'का' परसर्ग सम्बन्ध कारक रूपों में अधिक प्रचलित है । कुछ उदाहरण के रेखांकित अंशों में देखे जा सकते हैं -

''बासव बरून विधि बन ते सुहावनों, दसानन को कानन बसंत को सिंगार सो ।

धरम धुरीन धीर वीर रघुवीर को, कोटि राज सरिख भरत जू को राज भो।

अगम सनेह भरत रघुवर को जहं न जाई मनु विधि हरि हर को ।

पर उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखे हुन विचारयो ।

च. उत्तम पुरुष सर्वनाम के एकवचन का मूलरूप 'हौ' भी विशुद्ध व्रजभाषा का है जिसका प्रयोग तुलसी ने बहुत स्थलों पर किया है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित स्थल -

''हौ, मरिहऊ भूप दौ भाई ।

प्रनत पाल सेवक कृपाल । चित पितु षटत रहि दियो ही ।

सेवक बस सुमिरत रखा, सरनागत सो हौ ।

गुन गुन सीतानाथ के चित्रकरत न हौ ही ।

छ. पुरुष वाचक सर्वनामों के सम्बन्ध कारक रूपों के अन्तर्गत मेरी तेरी हमको, तिहारो आदि ओकारान्त रुप व्रजभाषा से ग्रहीत होकर तुलसी की भाषा में आये हैं । कुछ उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है -

''तुलसीदास सब भांति सकल सुख जो चाहस मन मेग्री ।

तो भजु राम काम सब पूरन करै, कृपा निधि तेरो ।

पंक्षी परबस परे पीरर्रनि, लेखा कौन हमारो ।

कृपा डोरि बसी पद अकुश परम प्रेम मृदु चारो ।

सहि विधि बेधि हरहु मेरी दुख कौतुक राम तिहारो ।

ज. निश्चय वाचक प्रश्न वाचक तथा कुछ अन्य पुरुष वाचक सर्वनामों के सम्बन्ध कारक रूप 'प्याकी' 'पाके' 'वाके' और 'काको' का व्यवहार उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में रेखांकित शब्द -

''सुन मैया तेरी सौ करो याकि टेव, लरन की सकुच वेची सी खाई ।

पाके उए बरति अधिक अंग-अंग दब वाके हुए मिटति रजनि जनित जरनि ।

नेत अभिलत तो समेत प्रीति सेइए प्रतीति मानि तुलसी विचारि काको वारू है ।

उक्त सभी विशुद्ध व्रजभाषा के हैं ।

झ. संज्ञाओं विशेषणों और सर्वनाम रूपों की भांति क्रियारूपों में भी ओकारान्त रूपों का समावेश प्रचुर मात्रा में हुआ है । जो व्रजभाषा की क्रियाओं के प्रमुख लक्षणों में गिना जाता है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त सांवरो विसारों जगायो भगायो और हरो -

''जीवन जग जानकी लखन को करन महीप सांवरो

काहे ते हरि मोहि बिखारो ।

गोरख जगायो जोगि भगुति भगायो लोग ।

निगम नियोग ते सो कलि ही दरो सो है ।

ञ. भूत निश्चयार्थ में व्रजभाषा के भो हो, हुते और हुतो आदि रूप भी बराबर प्रयुक्त हुए हैं । यद्यपि उनकी संख्या बहुत सीमित है । इन प्रयोगों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं -

''तीसरे उपास वनवास सिन्धु पास सो, समाज महराज जू को एक दिन दान भो ।

नेकु विषाद नहीं प्रह्लादहिं, कारन केहरि केवल होरे ।

सब जाय सुभाय कहै तुलसी, जो न जानकी जीवन को जन भो ।

सीवं न चापि सकों कोऊ तब, जब हुते राम कन्हाई ।

हुतो न सांचो सनेह मिटयो मन को संदेह हरि पेर उघारि संदेसहु ठठई ।

हुते और हुतो क्रमशः आधुनिक खड़ी बोली, थे और था के अर्थ के द्योतक है ।

बुन्देली :

अवधी और व्रजभाषा के उपरान्त बुन्देली बोली की दृष्टि से हम तुलसी की भाषा का विवेचन करेंगे जो इन्हीं बोलियों की निकटवर्ती बोलियों में से एक है

1. संज्ञा शब्दों की अन्तरगत कई ऐसे शब्द तुलसी की रचनाओं में मिलते हैं । जो अवधी जैसे तुलसी की सुपरिचित बोलियों में कदाचित ही कहीं प्रयुक्त होते हैं । किन्तु बुन्देली में उनका व्यापक रूप से व्यवहार होता है । यहां हम उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत सुपेती तथा कोपर को ले सकते है। जो क्रमशः अवधी क्षेत्र में प्रचलित 'दुलाई' (छोटी और हल्की रजाई) और परात का बोध कराते हैं ।

"सुभग सुरंमिपय फेन समाना, कोमल कलित सुपेती नाना ।

कनक कलस मनि कोपर रुरे ।

इस प्रकार हम देखते हे कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने काव्य में सांसारिकता से बचते हुए कला की वह तमाम प्रकार की व्यवस्थाओं को दृष्टिगोचर रखते हुए संसार की कलातमकता का ऐश्वर्यता का सुन्दरतम उपयोग किया है । तथा जिस तरह का अलौकिक वर्णन किया है । वह प्रकृति की रमणीयता, सुन्दरता एवं उसकी अलौकि छवि का पूर्णतयः विवेचन है ।

इसी प्रकार आचार्य गोस्वामी जी ने राम चरित मानस तथा अपने अन्य ग्रंथों में सामाजिकता का विवेचन भी उल्लेखनीय है । सम सामयिक परिस्थितियां सामाजिक बुराईयां तथा कुरीतियां उनके सुधार के उपाय तथा किस प्रकार का आचार व्यवहार निस्तारण होता था का विषद विवरण मिलता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में जहां कलादृष्टि व्यापक रूप में मौजूद थी वहीं सामाजिकता की सम्पूर्णता थी जिसके उदाहरण ऊपर विधिवत् दिये गये हैं अस्तु यहां पर कहना तर्कसंगत होगा कि गोस्वामी जी की कलादृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि दोनों में उल्लेखनीय समानरूप से तथा धारा प्रवाह रूप में चली है ।

****

अध्याय 4

तुलसी के सामान्य जीवन का स्वरूप

मानव की समसामयिक परिस्थिति एव परम्परा, दोनों न्यूनाधिक किन्तु समिश्रित प्रभाव से उसके जीवन का निर्माण होता है। उसके सामान्य जीवन का मूल्यांकन उसके आवास, वस्त्र खान पान श्रृगार, व्यावहार की सामान्य वस्तुओं एव वाहन आदि के आधार पर किया जाता है। अतः प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत गोस्वामी जी के काव्य में अभिव्यक्त सामान्य जीवन के स्वरूप का अध्ययन अभीष्ट है।

गोस्वामी जी ने अपने काव्य में जन सामान्य की मुनिवर्ग, राजन्यवर्ग ग्रामवासी राक्षवर्गादि में प्रस्तुत किया है। मुनियों के आवास निरूपण में कवि के परम्परा का अनुसरण तो अवश्य किया है किन्तु ग्राम और नगर से दूर प्रकृति की विस्तृत गोद में किसी सरिता के तट पर अथवा किसी पर्वत प्रदेश के निमृत श्रृंग पर मुनियों का मन साधना में कितना रमता है। यह अब चित चेति चित्रकूटहिं चल का प्रबोध देने वाले तथा "सब दिन चित्रकूट नीको लागत" का अनुभव करने वाले साधक को ज्ञात था। वशिष्ठ आदि के आवास की निदर्शना में कवि ने उनके गुरूत्व के परिप्रेक्ष्य में गुरू गृह का प्रयोग किया है।" किन्तु मुनि, साधक अथवा तपस्वी रूप में निदर्शित जनों के आवास प्रायः आश्रम, पर्ण कुटी, पर्णशाला आदि अभिधानों से ही अभिहित है। महर्षि विश्वामित्र हों अथवा नरद, भारद्वाज, हों अथवा बाल्मीकि, अगस्त्य हों अथवा क्षुतीक्ष्ण अत्रि हों अथवा गौतम सभी निवास तुलसी काव्य में आश्रम रूप में ही अभिहित और वर्णित है। बरउ संभु नत रहेउ कुआरी का व्रत करने वाली पार्वती यदि विपिन का प्रश्रय ग्रहण करती है। तो मुनि जन भावन पतित पावन राघवेन्द्र के आगमन मार्ग को विनिमेष दृष्टि से देखने वाली

शबरी भी पर्णशाला का वरण करती है। जगद्बन्ध सुर नर मुनि सेवित दिगम्बर भवान शंकर यदि साधक रूप में वृक्ष छाया में विश्राम करते हैं। तो जटा जूट धारी वल्कल वस्त्र धारण कर मुनिवेष में सानुज सपत्नीक भगवान राम की आश्रम में ही आश्रय लेते देखे जाते हैं। धरम धुरि धीरा भरत भी जटा जूट सिर मुनि पटधारी होने पर नन्दि ग्राम में पर्णकुटी में ही निवास करते हैं। काक भुशुडि जी के आश्रम का तो कहना ही क्या है मोह और अविद्या तो आश्रम की एक योजन की परिधि में भी प्रवेश नहीं करती। राजा प्रताप भानू से पराजित कपटी मुनि तक आश्रम में ही निवास करता है।

गोस्वामी जी ने ऋषियों के इन आश्रमों की प्रतिष्ठा प्रकृति की रम्य स्थली में की है, जहां पर्वत, नदि झरने आदि के साथ अनेक प्रस्फुटित सगंधित पुष्प वायु को शीतल आर सुगन्धित बना दत हं। पुष्पित वृक्षों की शाखाओं पर भ्रमरों का गुजन तथा फलित वृक्षों पर अनेक प्रकार के पक्षियों का कलरव ऋषियों उपासना के समय उच्चरित वेद मंत्रों की ध्वनि से मिलकर सामवेद की सार्थकता को सिद्ध करते से प्रतीत होते हैं। अनेक प्रकार के वन्य पशु हिंसक होते भी ऋषियों की तपस्या के प्रभाव स्वरूप सौजन्य को ग्रहण करते से दिखाई पड़ते हैं। विद्धान रूप में अनक प्रकार की लताएं वृक्षों का पश्रय प्राप्त कर आश्रमों को अपनी छाया तथा पुष्प गन्ध स रम्यतर बना देती है। इस प्रकार के ये आश्रम नगर के वैभव से दूर किन्तु प्रकृति की पूर्ण सम्पन्नता में प्रतिष्ठित मुनि जन क्या, सामान्य व्यक्तियों को भी शान्ति प्रदान करते हैं।

राजन्य वर्ग के अवास को गोस्वामी जी ने घर गृह, गेय, भवन, निकेत, धाम, सदन, अयन आदि नाम दिये हैं। जो नगर पुर अथवा पुरी में प्रतिष्ठित हैं। अयोध्या जनकपुरी लंका यहां तक कि श्रीपति की माया द्वारा निर्मित तथा शीलनिधि राजा द्वारा शासित नगरी एवं पार्वती के पिता हिमवान् की पुरी के लिए गोस्वामी जी ने उक्त अभिधानों का प्रयोग किया है।

राजनगरों के निरूपण के सन्दर्भ में तुलसी ने बाजार गली चौराहा बाग तालाब अंवराई आदि विचरण स्थलों का भी चित्रण किया है। जनकपुरी वर्णन प्रसंग में उक्त स्थलों की रमणीयता देखते ही बनती है।

''बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना।
गजत मजू मत रस भृगा। कूअत कल बहु बरन बिहगा।।
वरन वरन बिकसे बन जाता। त्रिविध समीर सदा सुखदाता।।

गुमन वाटिका बाग वन विपुल बिहंग निवास।
फलत फलत सुपल्लव मोहत पुर चहुं पास।।

बनई न बरनत नगर निकाई। जहा जाइ मन तहंईई लोभाई।।
चारू बाजारू विचित्र अबारी। मिनिमय विधि जनु स्व कर सवारी।।
धनिक बनिक बर घनद समाना। बैठे सकल वस्तु ले नाना।।
चौहट सुन्दर कली सुहाई। सतत रहहिं सुगन्ध सिचाई।।
पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहं तहें विपुल महीपा।।
देखि अनूप एक अंवराई। सब सुपास सब भंति सुहाई।।

राजा दशरथ अयोध्या का उक्त जनकप ुरी से मिलान यहां इष्ट प्रतीत होता है।

निज निज सुन्दर सदन संवारे। हाबाट चौहट पुर द्वारे।।
गलीसकल अरगजां सिंचाई। जहं तहं चौके चारू पुराई।।
बना बजारू न जाइ बखाना। तीरन केतु पताक बिताना।।

अब राम राज्य की अयोध्या में उक्त स्थानों का स्वरूप देखा जाय-

राज दुआर सकल विधि चारू। बीथी चौहट रूचिर बजारू।।
बाजार रूचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।
जहं भूप रामनिवास तहं की सम्पदा किमि गाइए।।
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर से।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरठ जे।।

पर मोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रूचिराइ।।

दखत पुरी अखिल अध भागा। वन उपवन वापिका तड़ागा।।

बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत साहहीं।

सापान सुन्दर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं।।

बहुरंग कज अनेक खग कूजहि मधुप गुजारही।

आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं।।

लगापुरी वर्णन में राज भवन के साथ उक्त स्थलों का उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है-

गिरी पर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाई अति दुर्ग विसेषी ।।

अति उतग जलनिधि चहु पासा। कनक कोट कर परम प्रकासा।।

कनक कोटि विचित्र मनि कृत मुन्दरायता ना घना।

चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारू पुर बहु विधि बना।।

बन बाग उपवन वाटिका सर कूप बापी सोहहीं।

नर नाग सुर गन्धर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहीं।।

राज भवानों के अन्तर्गत पुरूषों और स्त्रियों के वास की अलग अलग व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। रानियों के वास स्थल (रनिवास) की चर्चा अनेक प्रसंगों में देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त कोप भवन के निर्माण का भी संकेत प्राप्त होता है। राज मार्गो तथा अन्य खुले सथानों पर उपस्थित दृश्यों अथवा क्रियाकलाप के दर्शन लाभ की स्वतन्त्रता सम्भवतः स्त्रियों को नहीं थी। यही कारण था कि भवनों में झरोखों का निर्माण किया जाता था ताकि व उक्त दर्शन लाभ से वंचित न रह सकें ।

सामान्य व्यक्तियों में ग्राम वासियों के भवनों के आकार प्रकार का उल्लेख गोस्वामी जी ने नहीं किया है। उनके ग्रामों के लिए ग्राम गांव गांउ का निर्देश किया है। जनों के मध्य स्थित गांवों को कवि ने कुदेस और कुगांव की भी संज्ञा दी है।

इसी प्रकार रावण के अतिरिक्त अन्य राक्षसों के भवनों का अलग निरूपण नहीं मिलता हो मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा से उनके आवास का संकेत अवश्य मिलता है। इतना अवश्य है कि ये राक्षस जगल जंगल भ्रमण करते थे तथा ऋषियों के साधना कृत्य में बाधा उत्पन्न करते थे। निशाचारियों के भी वनों में अकेले भ्रमण के उदाहरण मिलते हैं।

खान पान-

सूर और जायसी के काव्य की भंति तुलसी के काव्य में खाद्य और पेय पदार्थे की लम्बी सूची तो नहीं मिलती किन्तु विशिष्ट अवसरों पर खान-पान में प्रयुक्त पदार्थे का यत्र तत्र निर्देश अवश्य प्राप्त है। गोस्वामी जी ने खाद्य और पेय पदार्थो का उल्लेख उपभोग करने वाले व्यक्तियों की प्रकृति के अनुकूल किया है। तुलसी काव्य में उल्लिखित खान पान के पदार्थो को मुनियों के खान पान शिष्टजनों के खान पान निम्नवर्गीय व्यक्तियों के खान पान आदि रूपों में देखा जा सकता है।

मुनियों के खान पान में प्रयुक्त होने वाले पदार्थो में गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर कन्द मूल, फल, फूल, अंकुर, मधु, दूध, पत्ते, अम्बु, साग आदि का निर्देश किया है।

शिष्ट जनों के खान पान मं प्रयुक्त होने वाले पदार्थो में गोस्वामी जी ने सूप, ओदन, गाय का घी, मेवा पकवान, मलाई साड़ी अनेक प्रकार के व्यजन चारां प्रकार चर्ब्य, चौष्य, लेह्य और पेय के भोजन तथा षड्रस व्यंजन दही, रोटी और पान की चर्चा की है।निम्नवर्गीय व्यक्तियों तथा दरिद्रजनों के खान पान के सदर्भ में निसचरों के खान पान के सन्दर्भ में महिष मानुस, धेनु, खर, अज, आदि के साथ मदिरा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त स्फुट प्रसंगों में सतुआ, गोरस, चिउरा, दही, माखन, मट्ठा, छीर, भांग तथा लहसुन आदि का संकेत तुलसी काव्य में लिता है।

वस्त्र और आभूषण-

व्यक्तियों केह वस्त्र और आभूषण उनकी संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। किसी भी कवि के काव्य में निदर्शित पुरूष स्त्री और बालकों के वस्त्र और आभूषण उसकी समसामयिक संस्कृति के निर्धारण में बहुत कुछ सहायक होते हैं। गोस्वामी जी के काव्य में बालकों, पुरूषों और स्त्रियों के जिन वस्त्राभूषणों का उल्लेख हुआ है उनकी किंचित् चर्चा यहां आवश्यक है।

बालकों के वस्त्राभूषणों के अन्तर्गत गोस्वामी जी ने झंगुली तनिया, कुलही, कछौटी, पगिया, किंकनी, पैंजनी, पहुची, चौतनी, गजमणि, कठुल, वज्र: बघनखा, नथुनी, नागफनी तथा पनही का उल्लेख किया है । तुलसी ने प्राय: इन सभी वस्त्राभूषणों की निर्दशना आराध्य अपने शैशव वर्णन प्रसंग में की है। बघनखा के स्थान पर हरिनख केहरिनख तथा पैंजिनी के स्थान पर नुपुर का भी प्रयोग मिलता है।

जहां तक स्त्रियों के वस्त्रांलंकरण का सम्बन्ध है, गासेस्वामी जी के काव्य में नारियों के वस्त्रों में सारी, चुनरी, चीर और पिछौरी का प्रयोग मिलता है। आभूषणों के स्थान पर नारियां चूड़ी ताटक (तरकी) बेसर, हार, कंकन, किंकणी, नुपुर चूड़ामणि, मुंदरी और मुद्रिका का प्रयोग करती देखी जाती हैं। कहीं-कहीं फूलों के आभूषण पहनने का भी उल्लेख है।

पुरूषों के वस्त्रों और अलंकरणों की चर्चा का अवसर यदि गोस्वामी जी को नहीं प्राप्त हुआ है तो अपने आराध्य भगवान राम के सगुण विग्रह का वर्णन करते समय सानुज श्रीराम के वस्त्राभूषणों के अन्तर्गत तुलसी ने पीताम्बर, परिकर चौतनी, उपरना, सिखण्ड, कुण्डल, मुद्रिका, नागमणि, करनफूल आदि का उल्लेख किया है। कृष्ण के वस्त्राभरणों के उल्लेख में मोर मुकुट पीताम्बर और कुण्डल का नाम आया है। भगवान शंकर की वेशभूषा में केहरिछाल, गज छाल के साथ नर कपाल तथा सर्पो का उल्लेख हुआ है। वन वासियों के वस्त्रों का निरूपण करते समय गोस्वामी जी ने वल्कन चीर

की चर्चा की है तथा स्फुट प्रसंगों में कामरी कम्बल और कुमाच का भी प्रयोग दखने को मिलता है।

श्रृंगार प्रसाधन-

गोस्वामी तुलसीदास भक्त कवि हैं। यदि यह कहा जाय कि तुलसी की भक्ति भावना ही उनकी कविता सरिता के रूप में प्रवाहित हो चली तो यह न अनुपयुक्त ही होगा और न कोई अत्युक्ति ही। जिन तुलसीदास जी ने अपने आराध्य के अतिरिक्त अन्य की कथा न सुनने, जिह्वा से अन्य की चर्चा न करने, आंखों से अन्य को न देखने का तथा केवल उनके ही समक्ष मस्तक झुकाने का संकल्प लिया हो तथा जो प्राकृत जन गुन गान को सदैव त्याज्य मानते हों लौकिक व्यक्ति के श्रृंगार निरूपण पर लेखनी उठाना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल होगा। अतः तुलसी काव्य में श्रृंगार प्रसाधन का जहां भी उल्लेख हुआ है वहां उन्होंने अपने आराध्य राम सीता अथवा शंकर पार्वती को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। यह श्रृंगार भी केवल विशिष्ट अवसरों पर ही निदर्शित हुआ है। सीता के श्रृंगार की चर्चा रंगभूमि प्रसंग में मिलती है। तुलसी ने छवि को सुधा पयोनिधि परम रूप को कच्छप शोभा को रस्सी और श्रृंगार को मंदराचल (मथानी) बनाकर कामदेव द्वारा मथे जाने पर उससे निकली सुन्दरता सुख मूल लक्ष्मी को भी सुन्दरता में सीता से हेय कहा है किन्तु उन्होंने मार्यादा परक काव्य में जगज्जननि का श्रृंगिार वर्णन उचित नहीं समझा। यही कारण है कि कवि ने सीता की छवि का वर्ण करने में सोह नवल तनु सुन्दर सारी तक तो कहा किन्तु मर्यादा की रक्षा के लिए वहीं जगज्जननि अतुलित छवि भारी कहकर संतोष कर लिया। हां इतना अवश्य है कि तलसी ने चित्रकूट प्रसंग में राम द्वारा सीता को सुन्दर पुष्पाभरण पहनाये जाने का उल्लेख है जिसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

तुलसी काव्य में श्रृंगार के बाह्योपकरणों का व्यापक चित्रण नहीं हुआ है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि गोस्वामी जी बाह्य सौनदर्य

की अपेक्षा आन्तरिक श्रृंगार को कहीं श्रेष्ठ मानते थें। उबटन, कुंकुम चंदनादि के प्रसाधित श्रृंगार की तुलना में सादर बारहिं बार सुभायं चिते तनु त्यौ हमरो मन मोहैं। अथवा तिरछे करि नैन दै सेन तिन्है समुझाई कहु मुसुकाई चली में तुलसी को कहीं अधिक प्रौढ़ परिष्कृत श्रृंगार के दर्शन हुए। इसी सन्दर्भ में पुन: उल्लेख्य हैं कि श्रृंगार निरूपण उस सामाजिक एवं परिवारिक आदर्श के अनुकूल न था जिसकी प्रतिष्ठा गोस्वामी जी का लक्ष्य था।

सीता के अतिरिक्त गोस्वामी जी को श्रृंगार के विविध प्रसाधनों का वर्णन करने का अवसर शिव पार्वती विवाह में मिला किन्तु प्रश्न वहां भी मर्यादा का ही था।। अत: उस प्रसंग में भी तुलसी ने पार्वती को जगतमातु कहा और तेहिसिंहासन कहउं बखानी कहकर आत्मानुशासन की मर्यादा का निर्वाह किया।

· भगवान् शकर के श्रृगार प्रसाधनों में केहरि छाल, गज चर्म, तथा सर्पाभूषणों की चर्चा वस्त्र और आभूपण के अन्तर्गत पिछले पृष्ठों में हो चुकी है किन्तु विभूति को उनके श्रृंगार की सामग्री रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इसे यदि तुलसीकालीन चन्दर की खौरी और आधुनिक प्रधानोपकरणों में अत्यन्त सामान्य श्वेत विभूति के स्थान पर न भी स्वीकार किया जाय तो भी वह योगियों के श्रृंगार प्रसाधन रूप में आज भी अस्वीकार नहीं की जा सकती है। तुलसी ने अपने प्रभु राम के सौन्दर्य वर्णन में श्रृंगार के विभिन्न प्रसाधनों तथा उपकरणोंं का प्रयोग किया है। शिशु राम को तेल लगाने उबटन लगाने नहलाने अंजन लगाने पुन: गोरोचन का तिलक एवं काजल की बिन्दी जिसे दिठौना भी कहते हैं, लगाने का उल्लेख तुलसी काव्य में मिलता है। शैशव एवं बाल्यावस्था से आगे भी अवस्थानुसार राम द्वारा विविध श्रृंगार प्रसाधनों का प्रयोग देखने को मिलता है। मानस के पुष्प वाटिका प्रसंग में राम और लक्ष्मण के शरीर पर चन्दन का लेप पाया जाता है। गीतावली में अनेक स्थलों पर चंदन के लेप की अभिव्यक्ति तो की ही

गई है कुंकुम के अनुलेपन का भी सकेत प्राप्त है। केश विन्यास रूप में स्नान से पहले राम के जटा विवराने की बात कही गई है। भुजाओं पर केयूर एवं भाल पर कुंकुम तिलक धारण करने वाले राम प्रसंगानुसार पुष्पकलिकाओं के गुच्छों से युक्त मोर पंख का मुकुट धारण करते देखे जाते हैं तो कभी कचन किरीट और कभी हेम हीरक माणिक्यमय मुकुट से अभिमण्डित होते हैं। सस्कार संबद्ध विशिष्ट अवसरों पर राम के पैरों में महावर के भी दर्शन होते हैं।

नारियों द्वारा अपनी मांग भरना भी श्रृंगार प्रसाधन का एक अंग कहा जाता है। श्रृंगार प्रसाधन के समय मांग में सिन्दूर के प्रयोग की बात तुलसी के काव्य में नहीं मिलती किन्तु विवाह के समय पति द्वारा पत्नी की मांग में सिन्दूर देने का उल्लेख गोस्वामी जी ने राम विवाह प्रसग में किया है यद्यपि इस प्रकार का सिन्दूर देना या मांग भरना श्रृंगार प्रसाधन न कहा जाकर एक सांस्कारिक रीति का निर्वाह ही समझा जायेगा।

व्यवहार की सामान्य वसतुएँ-

गोस्वामी जी ने सामान्य जीवन में व्यवहृत की तालिका प्रस्तत करने का आयास नहीं किया है। विविध प्रसंगों में कतिपय वस्तुओं का उल्लेख पर कलश थार, कोपर (परात) आदि पात्रों का उल्लेख मिलता है, जो राजन्य वर्ग में प्रयुक्त हैं तथा कनक निर्मित हैं। कलश के स्थान पर घट और भाजन का प्रयोग पाप्त है। पात्रों में कड़ाही का भी उल्लेख तुलसी ने किया है। राजाओं के यहां भोज में प्रयुक्त पनवारों का भी उल्लेख है किन्तु गोस्वामी जी ने पनवारों पर भी राजाओं के वैभव की छाप लगाकर पनवारों में मणि के पान और सोने की कीलों का प्रयोग प्रदर्शित किया है। सामान्य अथवा निम्नवर्गीय व्यक्तियों के सन्दर्भ में यही परवारा पातरि या पात रूप में प्रयुक्त किया गया है। पातरि के साथ दोना का प्रयोग सामान्य है। गोस्वामी जी ने सामान्य व्यक्तियों द्वारा किसी को आदर से प्रदान की जाने वाली वस्तुओं के

लिए दानों का प्रयोग कराया है। कहीं कहीं पर दोना का प्रयोग जल पात्र के रूप में भी किया गया है। ऋषियों द्वारा पानी के पात्र रूप में कमण्डल की भी चर्चा है। भोजन के समय बैठने के लिए पीढ़ा का उल्लेख मिलता है।

गोस्वामी जी ने पात्रों (भाजनों) के सन्दर्भ में कठौता का भी निर्देश किया है जो उनके गन्थों में केवट प्रसग म प्राप्त हाता है। सामान्यतया कुठारी (कुल्हाड़ी) का प्रयोग वृक्ष या लकड़ी काटने के लिए किया जाता है। गोस्वामी जी ने कुठारी का प्रयोग इसी सन्दर्भ में उल्लिखित किया है। किन्तु कुठार का प्रयोग प्रायः फरसा या परसु के अर्थ में ही देखने को मिलता है। गार्हस्थ्य कृत्यों में छुरी का प्रयोग साग सब्जी आदि काटने के लिए किया जाता है। तुलसी ने छुरी का नामोल्लेख तो किया है किन्तु उस छुरे अथवा चाकू के अर्थ मं जिससे हिंसा ध्वनित होती है।

राजघरानों में शयन के लिए पलग, हिडोरा, सेज आदि के प्रयोग गोस्वामी जी के काव्य में प्राप्त होते हैं। वनवासियों के बिस्तर रूप में तरूकिसलय, पुष्प मृगछाल कुश तथा तृण का उल्लेख भी यथा स्थान देखने को मिलता है। निम्नवर्गीय व्यक्तियों के बिछौना में साथरी की चर्चा की गयी है। कहीं कहीं कुश पत्ते भी बिछाये जाने की निदर्शना है। सन्दूक के लिए पेटारी या पेटारे का उल्लेख है। प्रकाश के लिए दीप (दीपक) के प्रयोग की बात कही गयी है।

वाहन-

प्रकृतितः विचरणशील मानव आदिकाल से जल और थल में ही क्या अन्तरिक्ष में भी भ्रमण करने के लिए विविध वाहनों का प्रयोग करता रहा है। तुलसी काव्य में उक्त तीनों प्रकार जल, स्थल और नभ के वाहनों का उल्लेख मिलता है।

स्थल वाहनों में हाथी, घोड़े और रथों का प्रयोग पाया जाता है। इन वाहनों का उल्लेख तुलसी काव्य के अन्तर्गत विवाहादि मांगलिक अवसरों पर

बरात की साज सज्जा रूप में हुआ है, इसके अतिरिक्त युद्धादि प्रसंगों में सेना के अंग रूप में उनकी चर्चा हुई है। राम विवाह प्रसंग में राजा दशरथ सजे हुए हय गय स्यंदन सहित बरात जनकपुर ले जाते हैं। घोड़ों में भी श्यामकर्ण घोड़े गुणों में श्रेष्ठतर तथा देखने में सुन्दरतर प्रतीत होते हैं, ऐसा तुलसी काव्य के सारथियों का दृष्टिकोण है। घोड़ों का प्रयोग रथ और सवारी दानों रूपों में पाया जाता है। बरात प्रसंग म वाहन के रूप मं शिविका (पालकी) बेसर (खच्चर) ऊँट, और बैलों का उल्लेख किया गया है, जिनमें खच्चर ऊँट और बैलों की गणना प्रायः सामान ढोने वाले पशुओं में ही की गयी है। हां शिव विवाह प्रसंग में बैल सवारी के रूप में वर्णित है जिसका उपयोग राम विवाह में बारात जाते समय विप्रवर वृन्दा के लिए किया गया है और लौटते समय ढकी हुई शिविका अथवा सजी हुई पालकी नवविहिता वधुओं के वाहन रूप में अभिव्यक्त है। इन उक्त वाहनां के अतिरिक्त तुलसी ने कुछ अपर वाहनों का भी संकेत किया हे यपि उनका नामोल्लेख नहीं किया गया है।

पुनः उल्लेख्य है कि हाथी घोड़ा खच्चर रथ आदि का प्रयोग उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त युद्धादि के अवसरों पर भी देखने को मिलता है। रावण की लंका में हाथी घोड़े, खच्चर रथादि के अगणित समूहों का संकेत मानस में मिलता है। युद्ध क्षेत्र में भी निशाचरी सेना के अन्तर्गत अनेक हाथी घोड़ों का निदर्शन किया गया है। कवितावली में युद्ध प्रसंग में हाथियों के हाथियों से घोड़ों के घोड़ों से रथों से युद्ध होने की बात कही गयी है। लंका दहन प्रसंग में भी शालाओं से हाथी घोड़े भैसा और बैलों को खोल देने के लिए आवाजें सुनाई पड़ती है। स्फुट प्रसंगों में वाहनों में निकृष्टतम गधे की सवारी का उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है।

वन वाहन के रूप मं नाव नौका के साथ जहाज का भी प्रयोग तुलसी के काव्य में मिलात है। नभ यान के रूप में विमान की चर्चा की गई है।

विमान की चर्चा की गई है। विमानों का प्रयोग प्राय: देवताओं द्वारा ही देखा जाता है जो मांगलिक अवसरों पर पुष्प वर्षा करते पाये जाते हैं। बनवास के अनन्तर पुष्पक विमान द्वारा पुरूषोत्तम राम के भी अयोध्या आने की चर्चा गोस्वामी जी ने की है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

---

1 गर गृह गयउ तुरत महिपाला। चरन लागि करि विनय बिसाला।।

66- तुलसी काव्य का सास्कृति अध्ययन

69- डा0 हरिकृष्ण अवस्थी-तलसी-मजरी भूमिका पृ0 9

70- राम अनत अनंत गुन अमित कथा विस्तार। -मानस 1133

71- तलसी सरनाम गुलाम ही राम का। -कवितावली, उत्तरकाण्ड, 106

72- मानस, 1/ 116

73- सस्कृति के चार अध्याय, पृ0 379

सामाजिक जीवन चित्रण

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने समाज को संगठित एवं सुनिोहित रखने के लिए इसे चार भागों या वर्णो में विभाजित किया था और वैयक्तिक जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से व्यतीत करने के लिए उसे चार आश्रमों में। गोस्वामी जी के समसामयिक समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। मुस्लिक शासकों की विलासिता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी । राजानुवर्तिनी प्रजा में

भी राजा के गुणों का न्यूनाधिक प्रभाव था। सम्पूर्ण समाज में विलासिता, अनाचार, अधर्मिकता और क्रूरता का बोल बाला था। विलासिता के मदान्ध शासक और उनकी प्रजा के लिए नारी विलासिता का साधन मात्र रह गयी थी। अनुजा तनुजा का विवेक भी नष्ट हो चुका था। काम की यह व्यापकता और प्रबलता समाज में श्रेष्ठ माने जाने वाले ब्राम्हणों तक को अभिभूत कर चुकी थी और उन्हें निरक्षर, अनाचारी, लोलुप, कागी एवं शठ ही नहीं वृषली स्वामी होने की भी हेय दशा को प्राप्त करा चुकी थी। ऐसे निरक्षर ब्राम्हण जय वेद-ज्ञान बेचने लगे और प्रजापालक शासक जब विलासिता के लिए आवश्यक धन का कर वृद्धि के माध्यम से अपहरण करके प्रजा को ग्रास (कवल) रूप में निगल जाने का प्रयास करने लगे तो तत्कालीन समाज में वेदों के अनुशासन अथवा वर्णाश्रम के पालन की आशा कोरा आशावाद मात्र ही है। ज्ञान की ककहरा भी न जानने वाले वरनाधम बरासन पर बैठकर ज्ञान का उपदेश देते थे, पुराण कहते थे और ब्राम्हणों से अपनी सेवा सुश्रुषा करवाते थे। वे वेदज्ञ पण्डितों को आंख दिखाकर डांटते और उनकी बराबरी करने का दावा भी कर रहे थे। इस प्रकार तुलसी का समसामयिक संसार (समाज) भ्रष्टाचार से परिपूर्ण था जिसमें धर्म का नाम तक न था। समाज की इस पतित दशा को देखकर तुलसी जैसे मनीषी का हृदय हाहाकार कर उठा। वे जानते थे कि सामाजिक स्थिति के पतन का सबसे बड़ा कारण वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना है। यही कारण है कि राम चरितमानस विनय पत्रिका और कवितावली में अनेक स्थलों पर तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म के हास की ओर संकेत किया है-

> "बरन धर्म नहिं आश्रम चारी, श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।"
>
> "सब लोग वियोग विसोक हुए। बरनाश्रम धर्म आचार गये।।"
>
> "आश्रम बरन धरम विरहित जग, लोक बेद मरजाद गई है।"

''बरन धरमु गयो आश्रम निवासु तज्यो, त्रासन चकित सौ परावनो परो सो है।

''बर्न विभाग न आश्रम धर्म दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।''

''आश्रम बरन कलि विवश विकल गए निज-निज मरजाद मोटरी-सीडार दी।''

यह सकेत अथवा वर्णाश्रम धर्म के पतन का पुनः पुनः उल्लेख तुलसी के हृदय की व्यथा थी जो आहों के रूप में प्रकट हो रही थी। इसके उपचार हेतु गोस्वामी जी प्रयत्नशील हुए तथा लोक व्यवहार की भूमि पर उन्होंने राम राज्य की प्रतिष्ठा कर वर्णाश्रम धर्म के पुनः स्थापन का सफल प्रयास किया। यहां वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म की दृष्टि से गोस्वामी जी के कावय का अवलोकन अभीष्ट है।

आर्यो ने गुण और कर्म की दृष्टि से समाज को चार भागों ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में विभक्त किया था। उन्होंने सम्पूर्ण समाज को ही भगवान् का विराट् रूप स्वीकार कर उक्त वर्णो को उस विराट स्वरूप के अंग कहा। ब्राम्हण को उसे मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को जंघा तथा शूद्र को पैर रूप में स्वीकार किया। श्रीमद्भागवत से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुहं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
ऊर्वार्विडोजोऽड़्घ्रिरवेदशूद्रो
प्रसीदतां नः सः महाविभूतिः।।

''विप्रक्षत्रिय विट्शूद्रा मुख बाहुरूपादजाः।'',

इस वर्ण व्यवस्था को इतनी महत्ता प्रदान की गई कि गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं को इन चारों वर्णो का कर्ता घोषित किया इन चारों वर्णो का समाज में अपना महत्व है। मनुस्मृति में सत्य अहिंसा शोच तथा इन्द्रिय निग्रह

को समान रूप से चारों वर्णों के लिए अनिवार्य कहा गया। अपने अपने कर्मो को यत्नपूर्वक करने में मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है, ऐसा गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं। अतः गुण कर्म विभाग की दृष्टि से तुलसी काव्य में उक्त चारों वर्णो का अवलोकन कर लेना चाहिए।

ब्राम्हण--

मनुसमृति में एकाधिक स्थानों पर अध्ययन (वेद पढ़ना) अध्यापन (वेद पढाना) यजन (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना) दान देना और दान लेना ये छः कर्म ब्राम्हण के लिए आवश्यक कहे गये हैं। धर्म गन्थों में शम दम, तप, शांच संतोष, क्षमा, सरलता ज्ञान दया भवत्पराण्यता तथा सत्य को ब्रह्मकर्म अथवा ब्रह्मलक्षण के रूप म निदर्शित किया गया है। तुलसी ने वेदाध्ययन को ब्राम्हण की अनिवार्य कर्म बतया है तथा वेदाविहीन एवं निज धरमु छोड़कर विषयों में आसक्त विप्र को निन्द्य कहा है। यहां निज धरमु से अभिप्राय उक्त ब्रह्म कर्म या ब्रह्म लक्षण ही है। इन गुणों के कारण ब्राम्हण को चातुर्वर्ण्य में श्रेष्ठतम स्थान दिया गया। तुलसी के राम को भी चातुर्वर्ण्य में ब्राम्हण और ब्रह्मणों में वेदज्ञ और वेदानुकूल व्यवहार करने वाले विप्र अत्यधिक प्रिय हैं। क्षमाशील और परोपकारी द्विज तो साक्षात् रामस्वरूप ही हैं। कबन्ध को उपदेश देते हुए मानस के राम ने स्पष्ट शबदों में विप्र कुल द्रोही को अपने क्रोध का भाजन बनाने वाला कहा है। यही कारण है कि गोस्वामी जी ने विप्र पद पूजा को श्रेष्ठतम पुण्य और द्विज निन्दा को घोर पाप के रूप में स्वीकार लिया है। उन्होंने विप्र चरणों में प्रीति को भक्ति का प्रथम सोपान कहा है। अतः इस लोक में ब्राम्हणोचित कर्म न कर सकने वाला ब्राम्हण भी शूद्र से श्रेष्ठ है और पूज्य है। विप्र की प्रसन्नता सभी मंगलों का तथा रोष विनाश का कारण है। इस प्रकार गोस्वामी जी ने ब्राम्हणों को समाज के अन्तर्गत श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है, यद्यपि तुलसी ने तत्कालीन धर्मच्युत

ब्राम्हणों की बहुत ही कटु शब्दों में भर्त्सना की है जिसका उल्लेख पूर्व पृष्ठ में किया जा चुका है।

क्षत्रिय-

श्रीमद्भागवमत में तेज, बल, धैर्य, वीरता सहनशीलता, उदारता, आत्मजय, क्षमा, उद्योगशीलता, स्थिरता ब्रह्मण भक्ति और ऐश्वर्य को क्षत्रिय प्रकृति कहा गया है। मनुस्मृति मं भी प्रजा रक्षण दान, यज्ञ, अध्ययन ओर विषयों में अनाशक्ति का सक्षेप में क्षत्रियों के धर्म रूप में निर्देश है।

कालिदास के आजन्म शुद्ध आफलोदय कर्म कर्ता, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के शासक स्वर्ग तक रथ ले जाने वाले, यज्ञकर्ता, याचकों का सम्मान करने वाले, अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले, उचित समय पर सावधान रहने वाले, दान के लिए धन संग्रह करने वाले, सत्य के लिए मितभाषी, यश के लिए विजय चाहने वाले, प्रजा के लिए गृहमेथी शैशव में विद्याभ्यासी यौवन में विषयाभिलाषी वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति अपनाने वाले और योग से शरीर त्याग करने वाले रघुवंशियों में छात्र धर्म के दर्शन होते हैं। गोस्वामी जी ने राजनीति का ज्ञान और प्रजापाल को क्षत्र धर्म में विशेष महत्व प्रदान किया है। क्योंकि नीति ज्ञान के बिना राज्य का संरक्षण असम्भव है। और प्रजा की रक्षा तथा पालन में अक्षम राजा नरक का अधिकारी होता है।

तुलसी ने विविध प्रसंगों में राम के व्यवहार में क्षात्र धर्म का निर्देश किया है। मानस की प्रस्तुत पंक्तियों में क्षत्र धर्म की अभिव्यक्ति इस प्रकार है

स्थिरता- मुनि गुरू वचन चरन सिर नावा। हरषु विषाद न कछु उर आवा।।

ब्रह्मण्यता- विप्रबंस के असि प्रभुताई। अभय होई जो तुम्हहि डेराई।।

युद्ध-प्रियता- जो रन हमहि पचारे कोऊ। लरहि सुखेन कालु किन होऊ।।

छत्रिय तनु घरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पावंर आना।।

निर्भीकता- कहउ सुभाउ न कलहि प्रसंसी।। कालहु डरहिं न रन रघुवंशी।।

वीरता- हंम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।।

रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं।।

क्षमा- कोटि विप्रि बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउ नहिं ताहू।।

धैर्य- भृगुपति वकहिं कुठार उठाएँ। मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ।।

विषयों में अनासक्ति- रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरई न काऊ।।

यज्ञ और दान- कोटिन्ह बाजि मेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहं दीन्हे।।

शौर्य- एक बार कैसेहुँ सुभि जानौं। कालहु जीति निमिप महु आनौं।।

मानस में राम ने विभीषण से जिस धर्म रथ का वर्णन किया है, ''उसेमें छात्र धर्म के उक्त सभी लक्षणों का समावेश है।

वैश्य- पशुओं का रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, ब्याज लेना और खेती ये वैश्य धर्म कहे गये हैं-

''पशुनां रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिक्पथं कुशीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।''

भागवतकार ने देवता गुरू और भगवान् के प्रति भक्ति, अर्थ,धर्म और काम इन तीनों की रक्षा, आस्तिक्य, उद्योग कओैर व्यावहारिक निपुणता के साथ दान निष्ठा अदम्भ ब्राम्हण सेवा और धन संचन से असंतोष को वैश्य धर्म निर्दिष्ट किया है। तुलसी ने दान, शिव भक्ति और अतिथि सेवा को वैश्य का धर्म कहा है। धनवान् किन्तु कृपण शिव भक्ति तथा अतिथि सेवा न करने वाले वैश्य को तुलसी नें निन्दनीय कहा है।

शूद्र-

ब्राम्हण, गौर और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना तथा जो

सेवा को शूद्र का स्वाभाविक कर्म कहा गया है। मनुस्मृति शूद्र धर्म के विषय में गीता से एकमत है। तुलसीदास ने शूद्र धर्म के रूप में विप्र सेवा मितभाषिता अनभिमान और निरकार को अभिवयक्त किया है। उक्त कृत्यों के विपरीत कर्म करने वाले शूद्र को भी गोस्वामी जी ने हेय कहा है।

सूत्र रूप में जिस प्रकार मनुस्मृति में वेदाभयास ब्राम्हण का धर्म प्रजा रक्षण क्षत्रिय का धर्म और वाणिज्य वैश्य का धर्म कहा गया है। उसी प्रकार गोस्वामी जी ने भी स्वधर्म में रत ब्राम्हण के लिए वेदाध्ययनादि के द्वारा ज्ञान का अर्जन (जुझिबो) क्षत्रिय के लिए सम्मुख समर में युद्ध करना (जूझिबो), वैश्य क लिए दान और शूद्र के लिए शरीर से कष्ट सहकर सेवा को परलोक के लिए सुन्दर मार्ग बताये हैं-

''कै जूझिबो कै बूझिबो दान कि काय कलेस।
चारि चारू परलोक पथ जथा जोग उपदेस।।

गोस्वामी तुलसीदास इस वर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा द्वारा समाज में एक संतुलन और मर्यादाजनित व्यवहार चाहते थे। उसके कावय में चारों वर्णो के व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने धर्म के पालन में सामाजिक समस्या का समाधान अपने आप हो जाता है। शूद्र यदि द्विजाति के समक्ष अपने को छोटा समझकर सदैव सेवा और विनम्रता का व्यवहार करें और उच्च वर्ण वाले उनके प्रति पोषण और स्नेह का भाव रक्खें तो समाज में अव्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। चित्रकूट प्रसंग में केवट अपने वर्ण धर्म के अनुकूल महर्षि वशिष्ठ के पैर नहीं छूता, चरण नहीं पकड़ता, केवल दूर से अपना नाम और जाति बताते हुए दण्डवत प्रणाम करता है। वह तो अपने कुल जाति कर्म आदि की तुच्छता के विचार से दूर ही दंडवत कर रहा है किन्तु विप्र श्रेष्ठ वशिष्ठ उसे बरबस उठाकर हृदय से लगा लेते हैं, यही है छोटे और बड़े की मर्यादा का उत्कर्ष।

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार वर्ण भेद से केवल लोकमत के सन्दर्भ में वेदानुसार अपने अपने वर्ण धर्म का निर्वाह अभीष्ट है। तुच्छता अथवा महत्ता इंगित करना उनका अभिप्राय नहीं है। शूद्र यदि श्रेष्ठ वर्णत्रय वैश्य यदि श्रेष्ठ वर्णद्वय और क्षत्रिय यदि ब्राम्हणों को सम्मान देते हुए अपने लघुत्व की अभिव्यक्ति करते हैं तो यह उनका अपमान और तुच्छता नहीं बल्कि कर्तव्य है। इसके विपरीत क्षमाशील जे पर उपकारी ब्राम्हाणादि का अपने छोटों के प्रति कृपालु होना उनकी गरिमा है। राम राज्य प्रसंग में अयोध्या के राज घाट पर एक साथ बिना किसी भेद बुद्धि के, चारों वर्णो के व्यक्तियों को स्नान कराने वाले तुलसी के वर्ण धर्म सम्बन्धी विचारों का परिचय मिल जाता है।

जीवन के महत्व को भलीभांति पहचान कर प्राचीन भारतीय ऋषियों ने आम व्यवस्था की प्रतिष्ठा की थी। जीवन यात्रा में विश्राम पाने के लिए चार आश्रमों ब्रह्मचर्य गृहस्थ वान प्रस्थ सन्यास का निर्माण किया गया था। भारतीयों को यथा अवसर इन चरों आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। इन आश्रमों में पहला आरम ब्रह्मचर्य विद्या और शक्ति उपार्जन हेतु दूसरा धनोपार्जन और समाज के भरण पोषण हेतु, तीसरा स्वाध्याय और संन्यास की तैयारी हेतु और चौथा आध्यात्मिक उन्नति में संलग्न होने हेतु किया गया था। यहां गोस्वामी जी के काव्य में उक्त चारों आश्रमों की स्थिति पर प्रकाश डालना अभसिप्त है।

ब्रह्मचर्य-

जिस प्रकार चारों वर्णो में ब्राम्हण का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का। अर्थवेद के अनअुसार ब्रह्मचर्य के द्वारा राजा राष्ट्र् का संरक्षण कर सकता है और ब्रह्मचर्य से ही देवता लोग मृर्त्यु को जीतकर अमर हो गये-

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युपमपाध्नत।।

गोस्वामी जी ने ब्रह्मचारी के गुणों की अलग से कोई चर्चा तो नहीं की है किन्तु पंसगानुसार रमादि के व्यवहार में ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लेख किया है। प्रात:काल उठना स्नान संध्या, गुरूसेवा आदि को गोस्वामीजी ने ब्रह्मचारी के कर्तव्य निर्धारित किये हैं। राम प्रत:काल उठकर अपने माता, पिता और गुरू को प्रणाम तो करते हैं, उनकी आज्ञा प्राप्त करके ही दैनिक कार्यो का सम्पादन भी करते हैं। विद्याध्ययन में वांछित गुरू सेवा में तत्पर राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के चरणों को पलोटते हुए ब्रह्मचर्य का निर्वाह करते हैं-

मुनिवर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई।।

तेई दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरू पद कमल पलोटत प्रीते।।

गुरू-सेवा के साथ भगवद्‌भक्ति और संध्योपासन को भी तुलसी ने ब्रह्मचारी के कर्तव्य रूप में स्वीकार किया है। तभी तो दिवसावसान में, गुरू विश्वामित्र की आज्ञा पाकर सानुज राम संध्योपासन के लिए उन्मुख होते हैं-

विगत दिवसु गुरू आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई।।

गोस्वामी जी ने ब्रह्मचर्य व्रत के अन्तर्गत गुरू की आज्ञा के अनुसरण को विशिष्ट महत्ता दी गई है-

सोचिअ बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई।।

इस आयसु का अनुसरण करने में ब्रह्मचारी-राम कितने जागरूक है, गोस्वामी जी की पंक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं-

''समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई।।''

''आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरसई मनराजा।।''

''जौं राउर आयसु मे पावों। नगर देसाई तुरंत लै आवौ।।''

''समय सप्रेम विनीत अति सकुच सहित दोउ भाई।

गुर पद पंकज नाई सिर बैठे आयसु पाइै।।''

''एनिसि प्रवेश मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा।।''

गृहस्थाश्रम-

गृहस्थाश्रम द्वारा धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि होती है। इससे अन्य आश्रमों को भी पोषण प्राप्त होता है अतः मनु ने इसे सब आश्रमों में श्रेष्ठ मान कर कहा है कि जिस प्रकार वायु का आश्रय पाकर सभी प्राणी जीवित रहते हें उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम का आश्रय प्राप्त किये रहते हैं। तीनों आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थों के द्वारा नित्य वेदार्थ ज्ञान की चर्चा अन्नदान से उपकृत होते हैं अतः सब आश्रमों में बड़ा गृहस्थ ही है। गृहस्थाश्रम जीवनयापन की कसौटी है। इस आश्रम की सफलता जीवन की सफलता है क्योंकि इसमें जीवन की सभी शक्तियों के समन्वय पूर्ण विकास के साथ जीवन की सम्पन्नता के दर्शन होते हैं। गृहस्थ धर्म के मुख्य कर्म रूप में पंच यज्ञों की मान्यता है। यं पाच यज्ञ हैं- ऋषि, यज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। मनु ने प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञों की अनिवार्यता पर बल दिया है-

''अध्यापनं ब्रह्मायज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिमीतो नृयज्ञो तिथिपूजनम्।।
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमेर्देवान्यथाविधि।
थ्पतृन्श्राद्धेश्च नृनन्नेभूतानि बालिकर्मणा।।''

अर्थात् स्वाध्याय अथवा अध्यापन ब्रह्मयज्ञ (ऋषियों की पूजा) होम से देव यज्ञ, श्रद्ध तर्पण द्वारा पितृ यज्ञ पशु पक्षी, कीट पंतंगादि को अन्नदान करने भूत यज्ञ और अतिथि सेवा से नूयज्ञ को करने का विधान है।

गोस्वामी जी ने इसे कर्म पथ कहा है और मोह बस कर्म पथ से विरक्त गृही तुच्छ माना है-

''सोचिअ गृही जो मोहबस करई करम पथ त्याग।''

यह कर्मपथ, जिसे स्मृतियों में पंचयज्ञ कहा है, गोस्वामी जी के काव्य में प्रसंगानुसार व्यवहृत है। इसके अतिरिक्त परिवार मित्र स्वजन और परिजन के प्रति अपना उचित कर्तव्य भी गृहस्थ कर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है।

तुलसी के काव्य में परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों के प्रति कितना जागरूक है, इसकी चर्चा यद्यपि प्रस्तुत प्रबन्ध के पंचम अध्याय में की जा चुकी है तथापि उसका किंचित् दिग्दर्शन यहां अनुपयुक्त न होगा। बन गमन के समय राम को राज्य की चिन्ता नहीं, अधिकार की लिप्सा नहीं, बन के कष्टों की आशका से भय नहीं,चिन्ता है तो केवल माता-पिता स्वजनों, दासों और दासियों की-

दासी दास बोलई बहोरी। गुरहिं सौंपि बोले कर जोरी।।
सब कै भार संभार गोसाई। करयि जनक जननी की नाई।।
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी।।
सोई सब भांति मोर हितकारी, जेहि ते रहे मुआरक सुखारी ।
सोई उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रवीन।।

यहां हाथ जोड़कर मधुर वाणी में सभी से बार-बार कहने में परिवार और दास-दासियों के प्रति राम का संवेग से भरा ममत्व भारतीय संस्कृति में पले हुए सद्गृहस्थ के कर्तव्य का चरमोत्कर्ष है।

वानप्रस्थ-

''गृहस्थ जब देखे कि उसके शरीर पर झुर्रियां पड़ गई हैं, केश श्वेत हो गये हैं तथा पुत्र के भी पुत्र हो चुका है तब उसे बन के लिए प्रस्थान करना चाहिए।'' स्वाध्याय, जितेन्द्रियता, दया, दान, भूमिशयन, तप, होम, यज्ञादि को वानप्रस्थ के विशिष्ट धर्म के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। गोस्वामी जी को भी उपर्युक्त धारण मान्य है। मानस में अत्रि आदि मुनियों के द्वारा वन में रहकर योग, जप और तप के साथ शरीर को कसने की जो बात कही गयी है वह मनुस्मृति में वर्णित वानप्रस्थ लक्षणों के सर्वथा अनुकूल है। तुलसी ने वानप्रस्थ लक्षणों में भोग से विरक्ति तथा तप को विशेष गौरव प्रदान किया है-

''बैखानस सोई सोचे जोगू। तपु बिहाई जेहि भावई भोगू।।''

सन्यास-

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से सन्यासी के लक्षण बताते हुए कहा है कि जो पुरूष कर्म के फल को न चाहता हुआ कर्तव्य कर्म को करता है वह संन्यासी और योगी है। वह सन्यासी नहीं है जो यज्ञ की अग्नि का प्रज्जवलन और धार्मिक क्रियाएं बन्द करता है। पुनः कृष्ण ने सन्यास (कर्म फल पर अनाश्रित होकर करना) और योग (अनुशासित कर्म) को एक रूप बताते हुए स्वार्थ संकल्प के त्याग को योगी या सन्यासी के लिए अपरिहार्य गुण कहा है। तुलसी ने भी स्वार्थ संकल्प त्याग अथवा विराग को सन्यासी का मुख्य गुण बताया है। तथा विवेक और वैराग्य से च्युत सन्यासी को पतित घोषित किया है। तुलसी काव्य के गृहस्थ भी यह अनुभव करते हैं कि चौथेपन में विषय विराग के साथ अनिकेत होकर भगवद् भक्ति ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए-

''होई न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु।।''

गोस्वामी जी सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए वर्णाश्रम धर्म के पालन को न केवल आवश्यक अपितु अनिवार्य समझते थे। राम राज्य की प्रतिष्ठा करके तुलसी ने तीनों लोकों द्वारा वर्णाश्रम धर्म के पालन का जो परिणाम उपस्थित किया उसमें भय शोक और रोग का कहीं नाम तक नहीं है, कवल सुख ही सुख है-

''वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।''

आमोद-प्रमोद

सामाजिक जीवन में सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मनोविनोद का भी अपना निजी महत्व है। ये मनोविनोद अथवा मनोरंजन के साधन किसी देश या समाज की संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। समाज के व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर रूचि

वातावरण अवस्था आदि के आधार पर इन मनोरंजन के साधनों में विविधता स्वाभावकि है। तुलसी काव्य में चौगान, मृगया, चौपड़, कन्दूक, चंग, गुड़ी, अखाड़ा, पक्षीपालन, जुआ, सुरापान, शतरंज, नटमदारी के खेल विदूषकों के अभिनय स्वांग, इन्द्रजाल, गोली, लट्टू और डारी आदि मनोविनोद के साधनों का उल्लेख लिता है। इनमें मृगया चौपड़ और चौगान प्राय: राजन्य वर्ग के खेल है। क्षत्रियों के साथ मृगया का सम्बन्ध कर्तव्य स्वरूप में परम्परा से दिखाई पड़ता है। राम बन्धु सखा के साथ बाल्यावस्था में मृगयाटन में नित्य प्रति पावन मृगों को मारते हैं और पिता को लाकर दिखाते हैं। "विशाल सेना सहित राम पर आक्रमण करने के लिए आतुर खरदूषण से भी राम ने क्षत्रित्व और मृगया का साहचर्य स्पष्ट किया है। क्षत्रियों एवं राज घरानों की मृगया सम्बन्धी अभिरूचि एवं कुशलता को कोल किरात भी पहचानते है और अपने को भी मृगया टन में कुशल कहकर व्यापार साम्य के सन्दर्भ से राम के समीप्य का लाभ उठाना चाहते हैं। तभी तो केवट कहता है-

"बन बेहड़ गिरी कन्दर खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा।।

तहं तहं तुम्हहि अहेर खेलाउव। सर निझर जल ठाउं देखाउव।।"

"बाज पक्षी पालकर उसके द्वारा पक्षियों का शिकार करने का भी उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है । चौगान दो दलों के मध्य कन्दुक-क्रीड़ा में कुशल घोड़ों पर चढ़कर खेला जाने वाला खेल है। इसे खेले जाने की चर्चा तुलसी ने की है

"राम लषन इक ओर, भरत रिपुदवन लाल इक ओर भये।

सरजु तीर सम सुखद भूमि थल, गनिगनि गोइयां बांटि लये।।

कंदुक केलि कुसल हय चढ़िचढ़ि, मन कसि कसि ठोंकि ठोंकि खये।

कर कमलनि विचित्र चौगानें, खेलन लगे खेल रिजये।।"

"अनुजसखा सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान।"

-"ते तब सिर कंदुक सम नाना। खेलिहहिं भलु कीस चौगाना।।"

चौपड़ पांसे फेंककर खेला जाने वाला खेल है। गोस्वामी जी ने चौपड़ का नामोल्लेख तो नहीं किया है किन्तु उसके पांसे अथवा पैत का निर्देश यथास्थान किया हे। सामान्य व्यक्तियों के विनोद का साधन वन चुका था। विनय पत्रिका में तुलसी ने शतरज के खेल का संकेत किया है।

नट और मदारियों के खेल जन साधारण में आज भी प्रचलित हैं। ये नट या तो स्वयं विविध कृत्यों या नृत्यों से समाज का मनोरंजन करते हैं या बन्दर और भालू आदि को सिखाये हुए कृत्यों के प्रदर्शन से। गोस्वामी जी ने साधारण नट ओर मदारियों क कार्य का तो निर्दश किया ही हे, नाक कटी के गान ओर नृत्य का भी प्रसगानुसार उल्लेख कर दिया है। कुश्ती लड़ने पतंग उड़ाने, विदूषकों के अभिनय, इन्द्रजाल आदि के भी दर्शन मनोविनोद के साधन रूप में होते हैं। तुलसी काव्य के बालक और बालिकाएँ पक्षियों को पालने और उन्हें पढ़ाने में भी विनोद का अनुभव करते हैं-

''नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए।।
मोर हंस सारस पारावत। भवननि पर सोभा अति पावत।।
जहं तहं देखहिं निज परिछाहीं। बहु विधि कूजहिं नृत्य कराहीं।।
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक।।
सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढाए।।''

इसके इतिरिक्त गोली खेलना भवरा और लट्टू नचाना आदि बाल स्वाभाविक खेल भी तुलसी काव्य में देखे जाते हैं। व्यसनों में आसक्त जनों के लिए मदिरापान और द्यूत क्रीड़ादि कम विनोद नहीं प्रदान करते। तुलसी काव्य में भारतीय लोक सृस्कृति के इस निद्य किन्तु महत्वपूर्ण अग का भी संकेत प्राप्त है।

पर्वोत्सव-

सामाजिक जीवन में पर्वो और उनसे सम्बन्धित उत्सवों का भी अपना सांस्कृतिक महत्व है। गोस्वामी जी के काव्य में झूला और फाग का विशद

वर्णन प्राप्त है। झूला से सम्बन्धित कृत्यों में हिंडोल में बन्दनवार, वितान, पताका, चमर, ध्वजा, पुष्प और फलों की आकृतिया बनाना, खम्भ तथा पाटी का प्रयोग, वर्षा ऋतु के अनुकूल झूला के उमंग को और बढ़ा देने वाले कोयल, मोर, भ्रमर, चकोर और चातकों का शोर, झूलने वाली नारियों का सोलह श्रृंगार बारी बारी से झुलाना और पुनः स्वय झूलिना, झुलाते समय किये हुए परिश्रम के कारण मुख पर झलकती हुई पसीने की बूदें नारियों का झुंड के झुंड रूप में झूलने के लिए जाना, कुसुम्भी चीर पहनना, सांरंग गौड़, मलार, सोरठा, सूहौ आदि रागों के गान के साथ बाजे बजना, झूला मचना, झूलने वाली नारियों की अलकों का बिखरना, फिर-फिर झूलना आदि विभिन्न कृत्यों, भावों तथा स्थितियों का चित्रण गोस्वामी जी ने किया है । फाग से सम्बन्धित होली का भी उल्लेख करने के अतिरिक्त तुलसी ने दीवाली अथवा दीपमालिका सम्बन्धी उत्सव का भी संक्षिप्त किन्तु सुष्ठु चित्रण किया है।

गीतावली में फाग और झूले का चित्रण तलसी के अन्य ग्रन्थों की प्रकृति से किंचित भिन्न और मर्यादा के बन्धनों से शिथिल है। यह वर्णन सूर आदि के कृष्ण काव्य से परम्परा रूप में ग्रहण किया गया है या तुलसी के समसामयिक समाज का प्रतिबिम्ब है, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

लोकाचार-

मनुष्य समाज का निर्माण है। समाज में बड़ों छोटों, शत्रुओं, मित्रों तथा सामान्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार या आचार लोक-संस्कृति का एक महत्वपूर्णअंग है। लोक वेद मृदु मजुल कूला से युक्त राम भक्ति सरिता प्रवाहित करने वाले तुलसी नि भक्ति धारा को लोक सापेक्ष बना दिया। लोक रीति और लोक धर्म को गोस्वामी जी भलीभांति पहचानते थे। समाज के विविध प्रसंगों में तुलसी ने लोकाचार का सम्यक् निरूपण किया है। परिवार के वृद्ध जनों तथा गुरू के प्रति आचार का विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहां परिवारेतर सामाजिक व्यक्तियों के प्रति आचार का निरूपण

ही लक्ष्य है। महर्षि वशिष्ठ जैसे मुनियों को तो सानुज राम दौड़कर प्रणाम करत हं गद्गद् हो उठते हैं और रोमाच तथा पुलक का अनुभव कर गुरू भक्ति का उदात्त एवं संवेगपूर्ण परिचय देते ही हैं। साथ ही भारद्वाज वाल्मीकि अत्रि एवं अगस्त्य आदि कवियों को राम दंडवत प्रणाम करते देखे जाते हैं। यह है कवियों के प्रति आचार का आदर्श गुरू अथवा बड़ों के समक्ष किसी संदेश के निवेदन में अभीष्ट आचार के दर्शन सुतीक्ष्ण के व्यवहार में देखिये-

''तुरत सुतीक्षन गुरू पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ।।''
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलिन जगत आधारा।।''

स्वामी के प्रति सेवक के आचार का उत्कर्ष हनुमान के व्यवहार में दृष्टि गत होता है जो सेवक स्वामी कार्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दे, अपने अस्तित्व को मिटा दे तथा हर परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहे उससे बढ़कर स्वामी को कौन प्रिय हो सकता है। हनुमान् की परीक्षा लेने के लिए उपस्थित सुरसा के प्रिति हनुमान के निवेदन में स्वामी भक्ति की महत्ता दृष्टव्य है

''राम काजु करि फिरि में आवौं। सीता कह सुधि प्रभुहिं सुनावौं।।
तब तब बदन पैठिहउ आई। सत्य कहउ मोहि जान दे माई।।''

सेवक के प्रति स्वामी की उदारता और कृपा सेवक के उत्साह में वृद्धि करती है। सीता का पता लगाकर आये हुये हनुमान के सारे कार्यो का वर्णन सुनकर राम की द्रवणशलता उनके स्वामित्व के आदर्श को द्योतित करती है और इस आदर्श स्वामित्व के प्रति सेवक हनुमान की भक्ति उमड़ती सी दिखाई देती है। राम हनुमान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए इतने द्रवित हो जाते हैं कि अपने को उनका ऋणी स्वीकार करते हैं और स्वामी की इस द्रवणशीलता को देखकर सेवक की प्रेमाकुलता उसे स्वामी के चरणों में आत्म सर्वस्त्र न्यौछावर करने के लिए बाध्य कर देती है। राम और हनुमान के

आचारों में सेवक सेव्य भाव का यह उत्कर्ष प्रत्येक सेवक और स्वामी को आह्लाद से पूर्ण कर देने वाला है

''सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी।।
प्रति उपकार करौं का तोरा। ससनमुख होइ न सकत मन मोरा।।''
सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं। देखेउ करि विचार मन माहीं।
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता।।
सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।।
बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।।
प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।।

सेवक के प्रति स्वामी के औदार्य की गरिमा की एक झलक विनयपत्रिका में भी देखी जा सकती है-

''कपि सेवा बस भये कनौड़े कहयो पवनसुत आउ।
देवे को न कछू रिनियां हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ।।''

मित्र के प्रति व्यवहार में गोस्वामी जी अत्यन्त सजग हैं। मित्र या सखा के चयन में व्यक्ति को अपनी समता एवं सादृश्य का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। सखा (समान ख्यानं यस्य सः) से ऐसा ही ध्वनित होता है। मित्र के चयन में तुलसी नीतिशतककार भूर्तहरि से विचार साम्य रखते हैं। नीतिशतक के अनुसार पाप से निवारक करना, हित में लगाना, मित्र की छिपाने योग्य बात को छिपाना, गुणों को प्रकट करना, आपत्ति में न छोड़ना, विपत्ति में मित्र को कुछ देना सन्मित्र के लक्षण कहे गये हैं। गोस्वामी जी के अनुसार-

''कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटेअवगुनन्हि दुरावा।।
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।।
विपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।''

मित्र के प्रति सहानुभूति अनिवार्य है। जो मित्र के दुख से दुखी नहीं होते उनको तलसी ने इतना बड़ा पापी घोषित किया है जिसके दर्शन मात्र से व्यक्ति को घोर पातक लग जाता है। वस्तुत: अपने पर्वत तुल्य दुख को रजकणवत और मित्र के रज तुल्य दुख को सुमेरू सदृश समझना गोस्वामी जी का मित्र विषयक सिद्धान्त है-

''जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुख गिरी सम रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरू समाना।।''

परोक्षे कार्यहन्ता एव प्रत्यक्षे प्रियवादी मित्र को त्याग देने में ही तुलसी भलाई समझते हैं-

''आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई।।
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई।।''

मित्र के प्रति आचार के आदर्श रूप में तुलसी ने राम के व्यवहार को प्रस्तुत किया है। उनका राज्य छूट गया है, वनवास प्राप्त हुआ है उसमें भीजानकीहरण जैसे पर्वत के समान दुख का सामना। किन्तु बालि से त्रस्त सुग्रीव के दुःख को मेरू सदृश मानने वाले राम ने निश्चय ही सीता वियोग जन्य दुख को रजकणवत् समझकर उसे भुला दिया। यही स्थिति लक्ष्मण शक्ति के समय भी है जब राम को विभीषण की चिन्ता बन्धु मूर्छा से कहीं अधिक कष्ट दे रही है- .

''तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।
रन पर्या बन्धु विभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई।।''

लोकाचार का अन्य पक्ष छोटों के प्रति बड़ों का आचार है। जहां छोटे बड़ों को प्रणाम, पालागन, चरण छूना चरण पकड़ना वन्दना करना, दंडवत प्रणाम करना, जयजीअ कहना आदि का प्रयोग करते है, वहीं बड़े आशीर्वाद के साथ मंगलकामना करते है। पारिवारिक सन्दर्भ में इसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। सामाजिक स्तर पर वृद्धजन एव ऋषि मुनियों के समय

जाहं राम दंडवत् प्रणाम करते देखे गये हैं वहीं वृद्धजनों की मंगल आशा एवं आशीष भी दृष्टव्य है। राम के दंडवत् प्रणाम के उत्तर में मुनियों के आर्शीवाद तथा हृदय लगाना आदि मानस में प्राप्त है। मुनि अत्रि की पत्नी अनुसुइया को प्रणाम करती हुई सीता को-

''ऋषि पतिनी मन सुखु अधिकाई। आसिस देई निकट बैठाई।।''

लोकाचार के अन्तर्गत अतिथि सेवा को भी स्वीकार किया जाता है। अतिथि की सेवा करके यथायोग्य उसकी पूजा का विवरण प्रसंगानुसार तुलसी काव्य में देखे जाते हैं। गोस्वामी जी ने स्वागत के विधान में अतिथि और आतिथेय दोनों की रूचि एवं प्रकृति का ध्यान रखा है। मुनियों के आश्रमों में अतिथि पूजा में कंद मल फलों से स्वागत का उल्लेख मिलता है। ऋषि विश्वामित्र हों अथवा वाल्मीकि भरद्वाज हों अथवा अत्रि सभी अपने आश्रमों में अतिथि राम के स्वागत में कन्द ममूल फल प्रस्तुत करते हैं। वनवासी राम के अतिथ्य में ऋषियों द्वारा कन्द मूल फलादि का समर्पण अतिथि और आतिथेय की प्रकृति एवं संस्कृति की अनुकूलता का भजन है। अतिथि के लिए बैठने हेतु आसन और पैर धोने के जल प्रदान करने की आवश्यकता का उल्लेख धर्म गन्थों में भी प्राप्त होता है। अतिथि यदि वय, विद्या अथवा वर्णादि की दृष्टि से आतिथेय द्वारा पूज्य है तो गोस्वामी जी ने अतिथि के पाद प्रक्षालन और उसे आसन देने में आतिथेय को नहीं चूकने दिया। हिमवान के घर नारद के आतिथ्य में नारद का पाद प्रक्षालन तो तुलसी ने कराया ही, बरासन प्रदान कराने में भी शिथिलता नहीं आने दी-

''सैल राज बड़ आद कीन्हा। पद पसारि वर आसनु दीन्हा।।

नारि सहित मुनि पद सिरू नावा। चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा।।''

राजा दशरथ के घर जब विश्वामित्र पधारते है तो राजा दशरथ भी उनको दंडवत् प्रणाम करके अपने भी आसन पर लाकर बैठाते हैं और उनके चरणों को धोकर अपने को धन्य मानते हैं-

"करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठरेन्हि आनी।।"
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा।।

अतिथि के स्वागत में उसकी स्थिति के अनुकूल स्वागत का विधान किया जाता है। कवि विश्वामित्र के आगमन का समाचार सुनकर राजा दशरथ कवि स्वभाव के अनुकूल विप्र समाज सहित उनके स्वागतार्थ जाते हैं। भोजनादि की व्यवस्था में आतिथेय के व्यक्तित्व और अस्तित्व को भी प्रदर्शित करने में गोस्वामी जी पीछे नहीं हैं। विश्वामित्र कवि अवश्य हैं किन्तु उन्हें भोजन कराते समय भोजन की विविधता आतिथेय क राज वैभव की ओर संकेत करती है-

"विविध भाति भोजन करवाया। मुनिवर हृदय हरष अति पावा।।

पुन: उल्लेख्य है कि अतिथि विश्वामित्र जब राजकुमारों सहित जनकपुरी में पर्दार्पण करते है तो उनके स्वागत हेतु राजा जनक मंत्री बहुत से योद्धा, श्रेष्ठ ब्राम्हणों तथा गुरू शतानन्द एवं अपनी जाति के श्रेष्ठ लोगों को लेकर करते हैं-

"विश्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाएं।।
संग सचिव सुधि भूरि भट भुसुर बर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनाथ कहिं मुदित राउ एहि भांति।।"

अतिथि अथवा आतिथेय में वयोवृद्ध या पूज्य के प्रति छोटों के प्रणाम के अनन्तर वृद्धजनों द्वारा प्रणामकर्ता को आशीष तथा उससे कुशल प्रश्न भी लोकाचार ही कहा जायेगा। मानस में नारद के द्वारा प्रणाम किये जाने पर राम जनक के द्वारा प्रणाम किये जाने पर विश्वामित्र तथा राम के द्वाराप्रणाम किये जाने पर भरद्वाज क्रमश: प्रणाम कर्ताओं से कुशल प्रश्न करते देखे जाते हैं-

"करत दंडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई।।
स्वागत पूछि निकट बैठारे। लक्ष्मिमन सादर चरन पखारे।।"
"कुसल प्रश्न करि बारहिं बारा। विश्वामित्र नृपहिं बैठारा।।"

''कुसल प्रश्न करि आसन दीन्हें। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हें।।''

किसी आदर योग्य व्यक्ति या राजा से मिलने के लिए जाने में अथवा उसके आगमन पर उससे मिलने में कुछ भेंट देकर मिलने का उल्लेख भी यथावसर गोस्वामी जी करते हैं। राम के आगमन का समाचार सुनकर निषाद राज अपने बन्धु बान्धवों सहित जब उनसे मिलने जाता है तो भेंट अवश्य ले जाता है-

''यह सुधि गुहं निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई।।
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियं हरषु अपारा।।''

चित्रकूट में सानुज सपत्नीक राम के आगमन तथा निवास का समाचार जब कोल किरातों को मिलता है तो वहाँ भी यही स्थिति देखी जाती है -

''यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई।।
कंद मूल फल भरि भरि दोना। लगे रंक जनु लूटन सोना।।''

भरत के आगमन का समाचार सुनकर सविषाद विचार करने वाला निषाद जब भरत के मित्र शत्रु और उदासीन भाव की परीक्षा लेने जाता है तब भी भेंट ले जाना आवश्यक समझता है-

''असकहिं भेंट संजोवन लागे। कन्द मूल फल खग मृग मागे।।
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने।।''

यह भेंट भी परिस्थिति एवं अवसर के अनुकूल है। बैजनाथर, हरिहर प्रसाद, हरिदास, रोशनलाल आदि तिलककारों के अनुसार प्रसंगानुकूल यह भेंट भी तीन प्रकार की है- 'कन्द मल फल' यह सात्विक है, 'खग मृग' यह राजसी है और 'मीन पीन पाठीन पुराने' यह तामसी है। तीन ही भाव जानना था। सात्विक भेंट की स्वीकृति में मित्र भाव, राजसी भेंट की स्वीकृति में उदासीनभाव और तामसी उपहार की स्वीकृति में शत्रुभाव का ज्ञान परीक्षा या माप दंड था।'' सामान्य लोकाचार में इतनी बड़ी परीक्षा का विधान प्रस्तुत कर देना तुलसी जैसे लोकनायक कवि की कुशलता का परिचायक है।

शत्रु के प्रति आचार का उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है। शास्त्रीय विधि अथवा वेदविधि के अनुसार शठे शाठ्यं समाचारेत् का व्यवहार मान्य है। चाणक्य तो उपकार करने वाले शत्रु के साथ भी शत्रुता का व्यवहार को उचित समझते हैं। शास्त्रानुकूल आचार तो यही है कि युद्ध क्षेत्र मे समक्ष उपस्थित शत्रु पर दया न की जाय किन्तु युद्ध क्षेत्र से विमुख शत्रु का वध भी न किया जाय। तुलसी को उक्त आचार मान्य है और राम खरदूषण के दूतों से इसी नीति का सकेत करते हैं-

''जौ न होई बल घर फिरि जाहू। समर विमुख मैं हतउं न काहू।।
रन चढ़ि करिब कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई।।''

विभीषण की शरणागति प्रसंग में भी राम सुग्रीव की इस विचाराधारा से सहमत हैं कि भेद लेने के लिए आये हुए शत्रु भ्राता को बांधकर रखा जाय। यह नीति साधु सम्मत और शास्त्रानुमोदित है किन्तु शरण में आये हुए भीत शत्रु को भी अपना लेना उसका तिरस्कार न करना यह लोकाचार है और फिर राम तो साक्षात् 'शरनागत मय हारी' ही हैं। उनके विचार से तो-

''शरनागत कहुं जै तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पांवर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि।।''

गोस्वामी जी का काव्य तो लोक के आचार पर वेद की प्रतिष्ठा है, जिसमें आधार की दृढ़ता को कवि ने सदैव बनाये रखने का प्रयास किया है। मानस के राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ,। कौसल्या, वशिष्ठ, विश्वामित्र, सुमंत्र, जनक और शतानन्द आदि सभी के व्यवहारों में लोक व्यवहार का सम्यक निर्वाह तो है ही कोल किरात भिल्ल वनवासी के व्यवहारों में भी लोकाचार के सम्यक् दर्शन होते हैं, किन्तु इन सबका विस्तृत विवेचन प्रबन्ध के कलेवर की मार्यादा के अतिक्रमण के भय से यहां सम्भव नहीं है।

लोक विश्वास एवं मान्यताएँ-

सामाजिक जीवन में अनेकों विश्वास एवं मान्यताएँ ऐसी हैं जो सिद्धान्ततः निरर्थक हो सकती ह, तर्क की कसौटी पर अस्तित्वहीन सिद्ध हो सकती हैं किन्तु परम्परा रूप में इनके प्रति आस्था चिरकाल से चली आ रही है। इनकी सैद्धान्तिक एवं तार्किक असारता पर बिना ध्यान दिये हुए लोग अपने जीवन के लौकिक व्यापारों में इन विश्वासों एवं मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। तुलसी काव्य में लोक विश्वासों एवं मान्यताओं का उल्लेख अनेक स्फुट प्रसंगों में हुआ है।

शकुन विचार

शकुन प्रायः आगामी परिस्थित जन्य सुख एवं दुःख का सामना करने के लिए व्यक्ति को मानसिक रूप से तैयार कर देते हैं। ये शकुन सुख और दुख के सन्दर्भ से दो रूपों में दृष्टिगत होते है- शुभ शकुन (शकुन) औरि अपशकुन।

शुभ शकुन

सुखद परिस्थिति की उपस्थिति के सूचक तत्व शकुन ही कहे जाते हैं। गोस्वामी जी के काव्य में शुभ शकुनों का एक अच्छा खासा व्योरा राम की बारात प्रसंग में देखने को मिलता है जिसमें नीलकंठ का चारा लेना, दाहिनी ओर कौवे का खेत में बैठे रहना, नेवले का दर्शन, घड़े (भरे हुए) तथा बालक के साथ बर नारी का आना लोमड़ी का मुहुर्मुहुः दर्शन देना, समक्ष बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय का दर्शन, मृगमाला की बायीं ओर से दाहिनी ओर आना, क्षेमकरी (सफेद सिर वाली चील) का बोलना तथा श्यामा पक्षी का बायी ओर पेड़ पर दिखाई प्रड़ना, दही और मछली का सामने आना, दो विद्वान ब्राम्हणों का हाथ में पुस्तक लिए आगमन विशेष रूप में निदर्शित है। इसके अतिरिक्त पुरूषों का दाहिना और स्त्रियों का बायां नेत्र एवं बाहु

फड़कना बायीं ओर छींक होना, दर्पण तथा चकवा का दर्शन भी तुलसी ने शुभ शकुन के रूप में उल्लिखित किया है।

उपर्युक्त शकुन सूचक शुभ लक्षणों के उल्लेख के साथ गोस्वामी जी ने शकुन विचारने या शकुन मानने की प्रवृत्ति तथा उसके विधान की चर्चा भी उपर्युक्त प्रसंगों में की है। सामान्यतया घर की मुंडेर पर बैठकर कौवे का कांव कांव करना तथा क्षेमकरी का दर्शन किसी के आगमन की मंगलमयी सूचना रूप में आज भी स्वीकार किया जाता है। गीतावली में राम के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई माता कौसल्या कभी कौवे और कभी क्षेमकरी से अभीष्ट संदेश की अभिलाषा करती हुई शकुन मनाती हैं। कनक सुई द्वारा शकुन मनाने की परम्परा ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी देखी जाती है, इसमें स्त्रियां गोबर की गौरी बना कर चलनी में उलट कर रखती हैं और तत्पश्चात् पृथ्वी पर फेंकती हैं, यदि वह सीधी गिरती है तो शुभ अन्यथा अशुभ मानी जाती है। तुलसी ने गीतावली के अन्तर्गत कनक सुई द्वारा शकुन विचार की भी चर्चा की है।

अपशकुन

अशुभ सन्देशों के सूचक तत्व अपशकुन कहे जाते हैं। गोस्वामी जी के काव्य में शकुनों की भांति प्रसंगानुसार अपशकुनों का भी निर्देश है। अपशकुनों के अन्तर्गत तुलसी ने कौवों का बुरे स्थान पर बैठकर बुरी तरह से कांव कांव करना, गधे का बुरी तरह से चिल्लाना, सियार और कुत्तों का फेकरना, नदी, सरोवर, वन, बागों का शोभाहीन हो जाना, गधों, श्रृंगालों एवं कुत्तों का रोना, आकाश में जहां तहां पुच्छल तारे का प्रकट होना, बिना पर्व के सूर्य ग्रहण होना, प्रतिमाओं का रोना, उल्कापात होना, दिशाओं में दाह होना, बादलों का रक्त, बाल और धूलि की वर्षा करना, अत्यन्त प्रचंड वायु चलना, आदि उल्लेखनीय है। स्त्रियों की दाहिनी और पुरूषों की बायी आंखों का फड़कना तथा दु:स्वप्न और गिद्ध का सर पर बैठ जाना भी अपशकुन माने गये हैं।

भाग्यवाद-

निश्चित कर्म में असफलता अथवा किसी हानि के कारण उत्पन्न संवेदना से अपने को सुरक्षित या अप्रभावित रखने के लिए लोग प्राय: भाग्य को दोषदेकर शान्त हो लिया करते हैं। इसके विपरीत सुखद कृत्यों की उपस्थिति का कारण लोग सौभाग्य कह देते हैं। भाग्य को विधि के अमिट लेख के रूप में अपनाना तुलसी काव्य में देखा जाता है। तुलसी के राम सीता सुमित्रा, रावण के सचिव और शंकर भाग्य में आस्था रखते हैं।

अंध-विश्वास

किसी व्यक्ति वस्तु या घटना के प्रति बिना तर्क बुद्धि के अतिशय लगाव या दुराव अंध विश्वास का परिणाम है। इसका विशेष प्रचार समाज के निम्नवर्गीय व्यक्तियों में विशेष रूप से देखने को मिलता है।

राजनीतिक जीवन-चित्रण

किसी भी देश की सामाजिक स्थिति बहुत कुछ अपनी सम सामयिक शासन व्यवस्था पर निर्भर करती है। अत: सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किसी काव्य का अध्ययन करते समय उसके राजनयिक पक्ष पर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित है। गोस्वामी जी के काव्य में राजनीतिक पक्ष पर विचार करते समय दो प्रकार के राज्यों के दर्शन होते हैं। एक तो गोस्वामी जी के सम सामयिक विलास प्रिय तथा भूमि-चोर-प्रजा-भक्षक विदेशी शासकों का साम्राज्य जो प्रतिक्षण अपनी जर्जरता क्रूरता अत्याचार और विलासिता से जन समाज को प्रताड़ित और पीड़ित किये था और दूसरा गोस्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श राज्य जिसमें सभी की सच्चरित्रता उदारता सम्पन्नता के कारण दु:ख का कहीं नाम नहीं था। अत: प्रस्तुत अध्याय में दोनों प्रकार के शासनों के निदर्शन के साथ राज्य के विविध अंगों पर विचार करना अभीष्ट है।

गोस्वामी जी के जीवनकाल के प्रमुख प्रशासनिक एवं राजनीतिक घटनाओं में उथल पुथल सांघातिक संघर्ष कूट वात्याचक्र और जटिल षड्यन्त्र के दर्शन होते हैं। इस राजनीतिक विडम्बना को देखकर तुलसी का हृदय खिन्न हो उठा, क्रूर और पाप परायण शासकों के कठोर दंड द्वारा प्रजा की दुर्दशा तुलसी को बार बार यह कहने के लिए विवश कर रही थी कि-

''कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाजु, बड़ोई छली है।''

तथा

''नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजा नितहीं।।''

ऐसे ही दंड से प्रजा की विडंबना करने वाले राजाओं के लिए गोस्वामी जी ने भूमि चोर तथा प्रजासन जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। राजाओं के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा की पीड़ा को भी कोई सुनने वाला न था। इन आततायी शासकों के दरबार तो देवताओं के दरबार से कहीं बड़े थे क्योंकि इन राजाओं के दरबार में भगवत् भजन करने वाले धर्मात्माओं को भी घोर अपमान सहन करना पड़ता था-

''बड़े बिबुध दरबार तें भूमि भूप दरबार।
जापक पूजक पेखियत सहत निरादर भार।।''

ऐसे विलासी राजाओं के प्रिय भी राजानुवर्ती होने के कारण आततायी थे। प्रभु प्रिय कहे जाने वालों में विद्वान बुद्धिमान नीतिज्ञ और दूरदर्शी व्यक्तियों का कोई स्थान न था। सफाई से दूसरों का धन अपहरण कर अपना और राजा दोनों का पोषण करने वाले चोर चतुर समझे जाते थे। मारपीट कर धन अपहरण करने वाले बटपार खिलाड़ी कहे जाते थे। इन्हीं के साथी भीड़ और भडुवे भी थे जो अनेक प्रकार की खुशामदें और भाव भंगिमाओं द्वारा मालिकों को प्रसन्न रखते थे। ये सभी चोर, बटपार, भडुवा और भांट राजाओं के प्रिय थे-

''चोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भंडुआ भंड।

सब भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाषंड।।''

और ये प्रभु प्रिय तो प्रभु से भी अधिक भयंकर तथा कष्टकर थे। राजाओं के आतंक को सहस्र गुना बढ़ाकर प्रजा पर ढहा देना, इनके बायें हाथ का खेल था-

''प्रभु तें प्रभुगन दुखद लखि प्रजहिं संभारै राउ।
कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ।।''

यही नहीं ये प्रभु प्रिय अथवा परिचारक गण सदैव ऐसे अवसर की खोज में ही रहते जिसमें प्रजा को अत्यधिक पीड़ित किया जा सके और अवसर मिलने पर शासकों की अपेक्षा तीन गुना अत्याचार जन सामान्य पर ढाते थे। सज्जनों से टेढ़ा व्यवहार करना, समता में भी विषमता या संचार करना और सभी कर्मो को नष्ट भ्रष्ट कर डालना उनका स्वभाव था-

''त्रिविध एक विधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट।
सूधे टेढ़े सम विषम सब महं बारहबाट।।''

राजा के सत्कर्मो एवं दुष्कर्मो का प्रभाव उसके राज्य पर पड़ता है। सत्कर्मो से जहां उपकारी की सम्पत्ति के समान पृथ्वी धन धान्यादि से परिपूर्ण परिलक्षित होती है वहीं दुराचारी राजा के राज्य में अवृष्टि अतिवृष्टि, महामारी ईति भीतियों से प्रजा दुखी देखी जाती है। गोस्वामी जी ने अपने जीवन काल में कई अकालों को देखा था। विशेष करके सं0 1613-14 सं0 1630-31 और सं0 1680 के भीषण दुर्भिक्षों ने देश को तबाह कर दिया था। ये अकाल क्रमशः अकबर के राज्यारोहण, अकबर के राज्य के उत्कर्ष (मानस के रचना काल) और जहांगीर के शासन काल (गोस्वामी जी के अवसान) के समय पड़े। इन शासकों की कुनीति के परिणामस्वरूप पड़े हुए अकालों की करालता कि चित्रण तुलसी काव्य में दृष्टव्य है-

''कलि बरहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।।''

''दिन दिन दूनों देखि दरिदु, दुकालु, दुखु,

दुरितु दुराजु सुख सुकृत सकोच है।

मार्गें पैत पावत पचारि पातकी प्रचंड,

काल की करालता भले को हात पोच है।।"

अकालों के परिणाम स्वरूप प्रजा की स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय हो गयी थी। जीविका का कोई साधन नहीं था। भुखमरी के कारण लोग किहंकर्तव्य विमूढ़ थे। दरिद्रता के इस अकांड तांडव को देखकर अपने को सर नाम राम का गुलाम कहकर किसी के लेन देन में न पड़ने वाले तुलसी का हृदय हाहाकार कर उठा-

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

जीविका बिहीन लोग सीधमान सोच बस,

कहैं एक एकन सों, कहां जाई का करी?

वेदहूं पुरान कही, लोकहुं विलोकिअत,

सांकरे सबै पे राम रावरें कृपा करी।

दरिद दसानपन दबाई दुनी, दीनबंधु

दुरति दहन देखि तुलसी हहा करी।।"

ऐसी दरिद्रता और भुखमरी में महामारी का प्रकोप कोढ़ में खाज हो गया। माजा के कारण उछलती तैरती तड़पती और छटपटाती हुई मछलियों के समान काशी निवासियों की दशा कितनी हृदय द्रावक थी, गोस्वामी जी की पंक्तियों में दृष्टव्य है-

"सकर सहर सर नर नारि बारिचर

विकल सकल महामारी माजा भई है।

उछरत उतरात लहरात मरि जात,

भमरि भगात जल थल मीचु मई है।।"

"एक तौ कराल कलिकाल सूल मूल, तामें

कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।।''

प्रजा की ऐसी अवस्था में भी तत्कालीन क्रूर शासक किसानों से बल पूर्वक कर वसूल करते थे। गोस्वामी जी ने इसका कोई विद्रोह तो नहीं किया किन्तु कर ग्रहण करने की आदर्श नीति की प्रतिष्ठा करके उनके अत्याचारों की ओर सकेत अवश्य कर दिया है

''माली भनु किसान सम नीति निपुर नर पाल।
प्रजा भागि बस होहिगे कबहुं कबहुं कलिकाल।
बरषत हरषत लोग बस करषत लखै न कोई।
तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होई।।
सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन मम जानि।
सुप्रभु प्रजा हित लेहिं कर सामदिक अनुमानि।।''

इसके अतिरिक्त निशाचरों के ब्याज से जिन प्राणियों के क्रिया कलाप का चित्रण गोस्वामी जी ने मानस में किया है उनके सभी कृत्य उपर्युक्त राजाओं और उनके प्रिय व्यक्तियों मे प्राप्त है। धर्म विरोधी और वद विरोधी कर्म करने वाले, घोर आततायी, पापी, चोर, जुआरी, पर धन एवं पर स्त्री के लपट माता पिता का अपमान करने वाले तथा साधुओं से भी सेवा कराने में अभ्यस्त प्राणियों को गोस्वामी जी ने निशिचर की संज्ञा दी है-

''करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।।
बरनि न जाई अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह पापहिं कवनि भिति।।
बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी।।''

इन सभी विशेषताओं की कसौटी पर गोस्वामी जी के सम सामयिक शासक और उनके अनुचर खरे उतरते हैं। अतः इस निशाचर वर्णन में भी तत्कालीन शासक और उनके दरबारियों की ध्वन्यात्मक व्यंजना परिलक्षित होती है।

आदर्श राज्य तथा रामराज्य-

पृथ्वी के गोड़ गवार नृपालों तथा जवन महा महिपालों के राज्य के समक्ष गोस्वामी जी द्वारा कल्पित राज्यों का स्वरूप कहीं अधिक सुव्यवस्थित एवं परिष्कृत प्रतीत होता है। राम राज्य के अतिरिक्त नारद मोह प्रसंग में राजा प्रतापभानु का राज्य तीर्थ राज प्रयाग का राज्य तथा वन में वैराग्य मंत्री के साथ विवेक राजा का राज्य गोस्वामी जी की परिकल्पना में आदर्श राज्य हे।

उपर्युक्त उद्धरण में गोस्वामी जी ने माली, भानु और किसान के समान नीति निपुण नर पालों की स्पृहा की है। माली बाग के संरक्षण संवर्धन एवं प्रसाधन के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होता है। वृक्षों को जल से सींचना बढ़े हुए अनावश्यक से है तथा किसान खाद बीज सिंचाई और रक्षा से फसल तैयार करता है। इसी प्रकार प्रजा को अभ्युदय और कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना, उसे बाहरी आक्रमणों से बचाना, आन्तरिक विद्रोहों को शान्त करना, प्रजा के निम्न वर्गीय तथा निर्बल व्यक्तियों को सहायता देना, प्रजा को कष्ट दिये बिना कर वसूलना तथा प्रजा की समृद्धि के लिए अनेक प्रयास करनाराजा का कर्तव्य है। राम राज्य के अन्तर्गत गोस्वामी जी ने प्रजा की सुख समृद्धि और उसकी धर्म परायणता में उक्त आदर्श राज्य और राजा के अभीष्ट गुणों को सन्निहित कर दिया है-

''राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।।

बयरू न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।

''बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।''

राज्योद्यान के स्वामी राजा राम ने राक्षस वर्ग रूपी कटक समुद्राय को काट छांट कर धर्म व्यवस्था रूपी सुधा-स सींचकर इसे ऐसा मनोहर एवं सम्पन्न बना दिया कि उसमें आनंद पुष्पों के अतिरिक्त किसी प्रकार के कष्ट कंटकों का कहीं नाम तक नहीं है-

''दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
चरिउ चरन धर्म जग माही। पूरी रहा सपनेहु अघ नाहीं।।
राम भगति रत नर अरू नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।
अल्प मृत्यु नहिं कबनिउ पीरा। मब सिुन्दर सब बिरूज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।
सब निदर्भ धर्मरत पुनी। नर अरू नारि चतुर सब गुनी।।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहीं कपट सयानी।।
''राम राज न भगेस सुनु सचराचर जग नाहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।।''

जब इस प्रकार से राजा रूपी माली राज्य रूपी उद्यान को निष्कंटक बनाकर उसे प्रीति और मर्यादा की सुधावारि से सींचता है तो वाटिका का अनुपम सौन्दर्य एवं उसकी समृद्धि बढ़ जाती है। इस अनुपम सौन्दर्य एवं सम्पन्नता का एक दृश्य गोस्वामी जी की प्रस्तुत पंक्तियों में दर्शनीय है।

''विधु महि पूर मयूखिन्हि रवि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल राम चन्द्र के राज।।''
राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास।
तरू सुरतरू सुरधेनु महि अभिमत भोग विलास।।
''खेती बनि विद्या बनिज सेवा सिलिप सुकाज।
तुलसी सुरतरू सरिस सब सुफल राम के काज।।''

भूप के भानु सम होने का भी औचित्य गोस्वामी जी ने राम राज्य में प्रतिष्ठित किया है। राजा के नैतिक गुणों का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह राज्य के अन्धकार को दूर कर ज्ञान प्रकाश को विस्तृत करे तथा धर्म के सरोवर में ज्ञान और विज्ञान के पंकजों को प्रस्फुटित करे। राम राज्य में अज्ञान के विनाश और ज्ञान के विकास के प्रमाण दृष्टव्य है-

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।।
पूरी प्रकास रहेउ तिहुं लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।।
जिन्हहि सोक ते कहउ बखानी। प्रथम अविधा निसा नसानी।।
अध उलूक जहं तहा लुकाने। काम क्रोध के रव सकुचाने।।
विविध कर्म गुन काल सुभाऊ। एक चकोर सुख ललहिं न काऊ।।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कबनिहुं ओरा।।
धरम तड़ाग ग्यान विग्याना। ए पंकज विकसे मोक ए कोक अनेका।।
"यह प्रताप रवि जाके उर जब करई प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नाम।।"

कर ग्रहण के सम्बन्ध में भी राजा का व्यवहार सूर्यवत् होना चाहिए। राज्य व्यवस्था के लिए अर्थ सग्रह की आवश्यकता होती है और वह अर्थ सग्रह कर के रूप म ही प्रजा म उगाहा जाता है।, यह कर ग्रहण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। राजा को प्रत्यक्ष की अपपेक्षा अप्रत्यक्ष रीति से प्रजा से कर लेना चाहिए क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से कर लेने में प्रजा की किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता अपितु ग्रहीत कर के सदुपयोग को देखकर आश्चर्यमय आहलाद होता है। जिस प्रकार मुख शरीर पोषण के लिए अभीष्ट अन्नादि पोषक तत्वों को निश्चित मात्रा में ग्रहण करके सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है, उसी प्रकार प्रजा से निश्चित मात्रा से कर ग्रहण करके राजा राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ बनाता है। विवेकी मुख निश्चय ही खान पान में उद्दंडता का प्रदर्शन नहीं करेगा, वह टैक्स के रूप में उतना धन चाहेगा

जिससे सर्वांग का सुचारू रूप से भरण पोषण हो सके। अधर्म का एक पैसा भी उसके लिए विष के समान होगा। व्यर्थ का उत्पीड़क टैक्स उसकी कल्पना से बाहर की वस्तु होगी तभी तो गोस्वामी जी कहते हैं-

''मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहुं एक।
पालई पोषई सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।''

गोस्वामी जी के समसामयिक राजाओं के राज्य में जहां कपट हठ दम्भ द्वेष पाखण्ड, मान, मोह, काम, क्रोध, लोभादि की व्यापकता के कारण परस्पर कलह और द्वेष का बोलबाला था, कुशासन के कारण जहां देवता वर्षा नहीं करते थे और धान बोने से जमते नहीं थे, वहां राम राज्य में सब उदार सब पर उपकारी लोगों की बात कौन कह पक्षी और पशु भी अपने स्वाभाविक बैर को भुलाकर परस्पर प्रीति से रहते थे तथा वनों में वृक्ष, लताओं से युक्त पर्याप्त मात्रा से अधिक फल मधु और धन धान्य देती देखी जाती है-

''फूलहिं फरहिं सदा तरू कानन । रहहिं एक सिंग गज पंचानन।।
खग मृग सहज बयरू विसराई। सबन्हिं परसपर प्रीती बढ़ाई।।
कूजहि खग मृग नाना वृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा।।
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा।।
लता विटप मागें मधु चुवहीं। मन भावतो धेनु पय स्त्रवहीं।।
ससि सम्पन्न सदा रह धनी। त्रेतां भई कृत जुग कै करनी।।''

मुगल शासकों के राज्य में यदि नर पीड़ित रोग न भोग कहीं का वातावरण व्याप्त था तो रामराज्य में सभी सुन्दर तथा निरोग देखे जाते हैं।

राम के राज्य में चौदहों भुविनों में आनंद ही आनंद था। दुख और दरिद्रता का कहीं स्थान न था। प्रजा सभी प्रकार के सुखों का भोग करती थी। सभी प्रकार के पाप, क्लेश, कुलक्षण, कपट, कुमार्ग और कुचाल नष्ट हो गये थे तथा दरिद्रता, दम्भ दुष्कालादि, जो पाप परायन नृपों के राज्य में अपना अधिपत्य जमाये हुए थे, नाम मात्र को भी नहीं रह गये थे। पृथ्वी तो

कामधेनुरूपा हो गयी थी तथा वृक्ष साक्षात् कल्पतरू। पत्थर मणि और लाल हो गये थे। इस प्रकार उस समय सभी प्रण्यात्मा एवं भाग्यवान् स्त्री पुरूष अपने अपने वर्णाश्रमों में तत्पर एवं मन वचन तथा वेष से हंस के समान स्वच्छ पवित्र साधु चरित्र प्रेमी तथा प्रसन्नवदन एवं विनम्र थे। गीतावली में राम राज्य का वैभव संक्षेप में दृष्टव्य है-

''बन ते आइकै राजा राम भये भुआल।
मुद्रित चौदह भुवन सब सुख सुखी सब काल।।
टि कलुष कलेस कुलबन, कपट कुपथ कुचाल।
गये दारिद. दोष. दारून. दंभ दुरित दुकाल।।
कामधुक महि, कामतरू तरू, उपल मनिगन लाल।।
नारि नर तेहि समय सुकुती भरे भाग सुभाल।।
''बरन आश्रम घरभरत, मन बचन वेष मराल।
रामसिय सेवक सनेही,साधु सुमुख रसाल।।''

राज्य के अग

गोस्वामी जी के समकालीन राजाओं के राज्य और उनकी परिकल्पना के आदर्श राज्य का विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर राज्य के विविध अंगों की चर्चा भी स्पष्ट है। भारतीय मनीषियों ने राज्य के सात अंग माने है। मनुस्मृति मं राज्य की प्रकृतियों के रूप म स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दंड और सुहृद् उल्लिखित किया गया है

''स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोश दण्डी सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो होता: सप्तांग राज्य मुच्यते।।''

'महाभारत में भी आत्मा अमात्य कोष दंड मित्र, जनपद तथा पुर को राज्य के सप्ताग रूप में निरूपित किया गया है। कौटिल्य ने स्वामी अमात्य जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र को सप्त प्रकृति कहा है। अमरकोष में राज्य के जिन सात अंगों का उल्लेख है। उनमें छ: अंग तो मनुस्मृति के

अनुकूल है, किन्तु दण्ड के स्थान पर अमरकोष में सेना का उल्लेख किया गया हैं। अतः यहा राज्य के अंग रूप में राजा अमात्य सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, दण्ड ओर सना का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा हे।

राजा

राजा, राज्य और प्रजा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों में परस्पर सामंजस्य का अभाव तीनों को नष्ट करता है। राजा की उत्पत्ति के विषय में मनु के विचार इस प्रकार हैं- एक समय जब राजा नही था तो जनता भय से बिल्कुल अक्रान्त हो गयी थी। उस समय भगवान ने सब रक्षा के लिए इन्द्र वायु, यम, सूर्य, वरूण, चन्द्र कुबेर सबसे आवश्यक तत्वों को लेकर राजा की सृष्टि की। देवताओं के आवश्यक तत्वों से निर्मित वह राजा जीवितों में सबसे महान् हो जाता है। तात्पर्य राजा, इन्द्र के समान शीघ्र ऐश्वर्य कर्ता, वायु के समान प्राणवत् सूर्य के समान धर्म का प्रकाशक यम के समान पक्षपात रहित, अग्नि के समान दुष्टों का दलन करने वाला चन्द्र के समान आनन्ददाता और कुबेर के समान वैभवशाली होता है। राजा सूर्य के समान सबको प्रकाशित करता है और पृथ्वी पर कोई उसकी ओर आंख उठाकर नहीं देख सकता। अपने प्रभाव से वह अग्नि वायु और सूर्य है। वह कुबेर है, वह इन्द्र है वह वरूण है। सचमुच में वह सबकी महत्ता को आत्मसात् कर लेता है, उसके पक्ष में भाग्य की देवी रहती है, उसकी शूरता में विजय और क्रोध में मृत्यु का निवास है। इस प्रकार विभिन्न देवताओं से निर्दिष्ट अंश को प्राप्त कर उत्पन्न राजा देवी गुणों के प्राचुर्य के कारण ईश्वर का अंश माना गया है। यही कारण है कि हरि प्रेरित जेहि कलप जोई जातुधान पति होई'' के समक्ष देवताओं के अंश रूप में उत्पन्न राजाओं की बात कौन कहे, गोस्वामी जी ने अंशी रूप उक्त सभी देवताओं को उनके समक्ष नमित कर दिया-

रवि ससि पवन बरून धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी।।

किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीं के पंथहिं लागा।।

ब्रह्मा सृष्टि जहं लगि तनु धारी। दस मुख बसवर्ती नर नारी।।

आयुस करहिं सकल भयभीता। नवहि आइ नित चरन विनीता।।''

राजा के इन्हीं उत्कृष्ट गुणों के कारण गोस्वामी जी भी उसे ईश्वर का अंश मानते है। मानस में गोस्वामी जी ने लोकहु वेद सुसाहिब रीति का उल्लख करते हुए कहा है कि अमीर गरीब ग्रामीण और नागरिक पंडित और मूर्ख यशस्वी और कुख्यात, सुकवि और कुकवि, सभी नर नारी अपनी मति के अनुसार राजा की सराहना करते हैं और साधु बुद्धिमान सुशील और ईश्वर अंश से उत्पन्न कृपाल राजा सबकी सुनकर उनकी वाणी, भक्ति विनय और चाल को पहचान कर सुन्दर वाणी से सबका यथा योग्य सम्मान करते हैं। यह तो सामान्य प्राकृत राजाओं का स्वभाव है गोस्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित राज्य के राजा का तो कहना ही क्या है-

''गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर।।

सुकवि कुकवि निजमति अनुहारी। नृपहिं सराहत सब नर नारी।।

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला।।

सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी।।

यह प्रकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसल राऊ।।''

गीता में भगवान कृष्ण ने जिस स्वभावज क्षात्र कर्म को उपदिष्ट किया है उसमें शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में डटे रहना, दान और ईश्वर भाव (स्वामी) को क्षत्रिय अथवा राजा के गुण बताये हैं। तुलसी ने मानस में राम के मुख से जिस धर्म रथ की चर्चा करायी है उसमें शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, इन्द्रिय निग्रह, क्षमा, दया समता, ईश भजन, वैराग्य, संतोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल और अचल मन सम (मन को वश में रखना) यम, नियम, गुरू ब्राम्हण की पूजा को राजा के गुण समिष्ट रूप में निदर्शित किया है। गोस्वामी जी के अनुसार पराक्रमी और धर्मातमा राजा में इन गुणों की प्रधानता होनी चाहिए-

''सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
वल विवेक दुर्ग पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु मारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन को दंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिली मुख नाना।।
कवच अभेद विप्र गुरू पूजा। एहि सम विजय उपय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीजतन कह न कतहुं रिपु ताके।।
महा अजय ससार रिपु, जीति मकइ सोबीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर।।

गोस्वामी जी के राजा राम में उक्त सभी गुणों का समन्वय दृष्टिगत होता है। तुलसी काव्य के विविध प्रसगों मं निर्दिष्ट सकेर्ता मं राम के उक्त गुणों का परिचय मिल जाता है। जो नर तात तदपि अति सूरा में शौर्य सत्य संघ दृढत्र व्रत रघुराई में धैर्य राम सत्य संकल्प प्रभु सभी कालबस तोरि में अथवा मूषा न कहउं मोर यह बाना में सत्य तुलसी न कहूं न राम से साहिब सील निधान में शील राजन रामु अतुल बल जैसे में बल प्रभु करूनामय परम विवेकी में विवेक राम पुनीत विजय रस रूखे में दम (इन्द्रिय निग्रह) विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार में पर हि छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता में छमा कृपा अनुग्रह अंग अधाई। कीन्ह कृपानिधि सब अधिकाई में कृपा कह बाली सुनु भीरू प्रिय समदरसी रघुनाथ में समता लिंग थापि विधिवत करि पूजा में ईश भजिन राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाई में वैराग्य भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू में संतोष दान अनेक दूजिन्ह कहं दीन्हें में दान राम तेज बुधि बल विपुलाई में बुद्धि कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिवली विज्ञानथामाबुभै में विज्ञान मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी में मन की निर्मलता योगीन्द्र ज्ञान ग्मयं में समय तथा नियम वंदि विप्र गुरू चरन प्रभु चले करि सबहिं अचेत में ब्राम्हण और गुरू की पूजा के दर्शन होते हैं।

धर्म रथ के माध्यम से वर्णित गुणों के अतिरिक्त साम दाम दंड और भेद को भी राजनीति के चिार महत्वपूर्ण अंगों के रूप में राजा को धारण करना चाहिए। जो इन चारों से हीन हो उसे राजमुकुट धारण करने का कोई अधिकार नहीं है। यही कारण है कि मानस में जब राम अंगद सेरावण के मुकुटों के बारे में पूछते हैं कि तासु मुकुट तुम चारि चलाए। कहहु तात कवनी विधि पाए तो अंगद उत्तर में साम दाम दंड और भेद की राजा के हृदय में अनिवार्य उपस्थित बताते हैं

''सुनु सर्वग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होंहि भूप गुन चारी।।
साम दान अरू दड बिभेदा। नृप उर बसहि नाथ कह वेदा।।
नीति धर्म के चरन सुहाए । अस जिय जानि नाथ पहिं आए।।
धर्महीन प्रभु पद विमुख काल बिबस दस सीस।
तेहि परि हरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस।।''

उन मुकुटों का साम, दाम, दंड और भेद विहीन रावण को छोड़कर राम के पास आना इस बात का द्योतक है कि राम उक्त चारों गुणों से युक्त हैं। गोस्वामी जी के सम सामयिक राजाओं में इन चारों गुणों की समष्टि का अभाव था। साम, दाम, और भेद तो लुप्त ही हो गये थे कवल कराल दड ही राजाओं की नीति का सबसे बडा आधार था। ऐसे ही राजाओं को लक्ष्य कर गोस्वामी जी कहते हैं-

''गोड़ गवांर नृपाल महि जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दड कराल।।''

इसके विरीत उक्त चारों नीतियों का सम्यक् ज्ञान रखने वाले राम की शासन व्यवस्था इतनी सुदृढ़ तथा सुन्दर थी कि लोग अपने अपने धर्म में रत थे सब सम्पन्न थे कोई चोर डाकू और अत्याचारी न था, शत्रुता का कही नाम न था पशु पक्षी भी सहज बैर को छोड़कर मित्रतापूर्वक रहते थे अतः उक्त नीतियों के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी।

राजा की नियुक्ति के बारे में गोस्वामी जी का मत है कि अपने पुत्र कलत्रादि में राजा जिसे अपना राज्य दे वही राज्य पाने का अधिकारी है किन्तु ऐसे राज तन्त्र में भी गोस्वामी जी प्रजातन्त्र को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। राजा दशरथ राम को युवराज बनाना चाहते हैं किन्तु इस विचार को सुमंत्रादि मंत्रियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और अपने विचार के विषय में पंचों की राय चाहते हैं

''मुदित महीपति मंदिर आए। सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए।।
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगल वचन सुनाए।।
जो पांचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियं रामहिं टीका।।''

कहीं कहीं प्रभावशाली व्यक्ति तथा विजेता द्वारा निर्बल या विजित के राज्याभिषेक के भी उदाहरण तुलसी काव्य में प्राप्त है। सुग्रीव और विभीषण के अभिषेक इसी कोटि में आते हैं।

मंत्री

राज्य के अंगों में राजा के बाद मंत्री का महत्वपूर्ण स्थान है। मंत्री राज्य के कर्मो में राजा का सबसे बड़ा सहायक होता है। गोस्वामी जी के अनुसार मंत्री वह विज्ञ पुरूष होता है जो राजा की सफलता का मूल मंत्र कहा जा सकता है। यहां यह उल्लेख कर देना प्रासंगिक ही है कि बालि के द्वारा तिरस्कृत सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर अपने मंत्रियों के साथ रहता था एवं समय समय पर अपने खोये हुए राज्य के विषय में मंत्रियों से आचार विमर्श भी किया करता था। रावण के दरबार में विभीषण का आगमन मंत्रियों सहित देखा जाता है और वहां से प्रताड़ित और अपमानित होकर चलते समय भी वह आकाश मार्ग में मंत्रियों सहित जाता है। इस प्रकार मंत्रियों की अनुकूलता का भजन करने वाले सुग्रीव और विभीषण सत्कर्मो में प्रवृत्त रहे और समय आने पर सिंहासनसीन होने में सफल हुए।

राजा और मत्री की परस्पर अनुकूलता सारी समृद्धियों को जन्म देते हैं राजा को चाहिए कि वह राज्य कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए अच्छे मंत्रियों की नियुक्ति करे। मनु ने मंत्रियों की नियुक्ति के विषय में कहा कि जो परम्परा से सेवा करते चले आ रहे हैं जो शास्त्रज्ञ शूर और युद्ध विद्यान में कुशल हैं जिनका कुल शुद्ध है ऐसे सात या आठ मंत्रियों को राजा नियुक्ति करे। इन सात आठ मन्त्रियों की नियुक्ति में मनुस्मृतिकार ने ब्राम्हण और विद्वान मत्री के साथ राज्य सम्बन्धी छः गुणों संधि, विग्रह, यान, द्वैषीभाव, आसन और संयत्र से युक्त विचार करना राजा के लिए उपयोगी बताया है। गोस्वामी जी ने मंत्रियों की संख्या का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु शान्त और सुयोग्य मंत्रियों के हाथों में प्रजा राजसमाज घर, शरीर, धन, धर्म और सेना को सौंपकर राजा सुख से रह सकता है, ऐसा उल्लेख तुलसी ने किया है-

''रैअत राज समाज घर तन धन धरम सुबाहु।

सांत सुसचिवन सौंपि सुख बिलसई नित नरनाहू।।''

गोस्वामी जी मंत्रियों के विचार स्वातंत्रय के पक्षपाती हैं। सचित वेद गुर तीनि जौ प्रिय बोलहिं भय आस'' के दुष्परिणाम रूप में राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास की घोषणा तो तुलसी ने की है। इसके अतिरिक्त रावण के राज्य में उसका मंत्री विभीषण किसी संकोच और मानापमान के भय को छोड़कर रावण के लिए अप्रिय किन्तु हितकर बात को स्पष्ट शब्दों में कहता है

सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं।।

जहां सुमति तहं संपति नाना। जाहं कुमति तहं विपति निदाना।।

तब उर कुमति बसी विपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता।।

काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी।।

''तात चरन गहि मांगउं राखहु मोर दुलार।

सीता देहु राम कहुं अहित न होइ तुम्हार।।''

मंत्र पूर्वाः समारभाः की नीति से किसी भी राज्य सम्बन्धी कर्म को करने से पहले राजा को मंत्रणा करनी चाहिए। गोस्वामी जी ने मंत्रियों और प्रजा की सभाओं का अपने काव्य में एकाधिक स्थानों पर उल्लेख किया है। राजा दशरथ के देहावसानोपरान्त भरत को राज्य देने से पहले वसिष्ठ जी ने एकसभा का आयोजन किया था-

''सु दिनु सोधि मुनिवर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए।।
बेठ राज सभा सब जाई। पठए बोलि भर दोउ भाई।।''

इसके अनन्तर राम को चित्रकूट से लाने के लिए गये हुए भर शत्रुघ्न वसिष्ठ और ब्राम्हण तथा मंत्रियों की एक सभा के दर्शन होते हैं-

''गुर पद कमल प्रनामु करि बैठै आयसु पाई।
विप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आई।।''

लका पर आक्रमण करने से पूर्व नीतिज्ञ राम ने भी मंत्रणा करने के लिए सभा का आयोजन किया था-

''रिपु के समाचार जब पाए। राम सचिव सब निकट बोलाए।।
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि विधि लागिव करहु विचारा।।''

समुद्र को पारकर लंका में पहुंची हुई राम की सेना का समाचार जब रावण को मिलता है तो वह भी मंत्रियों को बुलाकर उचित मत पूंछता है-

''बैठेउ सभा सवरि असि पाई। सिधु पार सेना सब आई।।
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हसे मष्ट कर रहहू।।''

इस प्रकार गोस्वामी जी ने मंत्रियों को राज्य के अविच्छिन्न एवं महत्व पूर्ण अंग के रूप में निदर्शित किया है।

मित्र

राज्य की सुव्यवस्था और राज्य लक्ष्मी की रक्षा के लिए राजा को शक्ति की आवश्यकता होती है। यह अनिवार्य शक्ति या बल सेना के रूप

में राज्य में वर्तमान रहता है। युद्ध के अवसर पर शत्रु का सामना करने के लिए राजा को अन्य राजाओं की सहायता इष्ट होती है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता कि राजा अन्य राजाओं को भी अपना मित्र बनाये। यथावसर मित्र राज्यों की सहायता से शत्रु राजाओं को आक्रान्त कर राजा एक ओर जहां अपने राज्य का विस्तार करता है, वहीं दूसरी ओर मित्र राजाओं के सहयोग और स्थायी मित्रता से अपना प्रभाव क्षेत्र संवर्द्धित करता है। पृथ्वी को राक्षसहीन करने का संकल्प लेकर राम ने वन में तीन राजाओं को मित्र बनाया निपादराज केवट को किष्किन्धा के राजा सुग्रीव को और लंकापति विभीषण को। वन मार्ग में श्रृगवेरपुर पहुंचकर राम ने बन का पगपग जोहने वाले और वन्य प्रकृति में पले हुए निषादराज को सखा बनाया। निषादराज के प्रथम समागम में ही राम ने उन्हें सखा कहकर सम्बोधित किया।

''कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। सोंहिं दीन्ह पितु आयसु आना।''

पुनः निषादराज और राम के मध्य सखा का परिचय गोस्वामी जी की निम्न पंक्तियों से भी मिलता है-

''राम सखा तब नाव मंगाई।''

''राम सखा सुनि संदनु त्यागा।''

-''सखा वचन सुनि उर धरि धीरा।''

-''सखा वचन सुनि विटपनिहारी।''

-''सखहिं सेनह बिबस मग मूल।''

''सखा समेत मनोहर जोटा।''

''सानुज सखा समेत मगन मन।''

-''राम सखा रिषि बरबस भेंटा।''

-''तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।''

विपत्ति में मित्र कितने सहायक होते हैं इसका परिचय राम के प्रति मान के कथन में मिलता है-

''नाथ सैल पर कपि पति रहई। सो सुग्रीव दास तब अहई।।
तेहिसन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे।।
सो सीता कर खोज कराइहि। जहं तहं मरकट कोटि पठाइहिं।।''
तथा मैत्री के अस्तित्व को समझकर राम ने अग्नि को साक्षी बन बिना किसी छल और कपट के सुग्रीव से दृढ़ मित्रता जोड़ी। परस्पर सहयोग लिए उभय पक्ष वचनबद्ध हो गये थे।

मित्रों में तीसरा नाम विभीषण का आता है। अपने निकटस्थ राजा को मित्र बनाने की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं आवश्यक शत्रु के पासवर्ती राजाओं को मित्र बनाने की है। एक ओर तो राम ने शत्रु रावण के बालि को मारा और उसके भाई सुग्रीव को मित्र बनाया, तथा दूसरी ओर के मित्र विभीषण से प्रथम साक्षात्कार होने पर उसे लंकेश कहकर सम्बोधित किया और सखा धर्म की प्रतिष्ठा की-
''कहु लंकेश सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।।
खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहइकेहि भांती।।''

सुग्रीव और विभीषण को सखा बनाकर राम ने इनसे निष्कपट व्यवहार किया। गीतावली में राम का कथन इसका प्रमाण है-
''सुनहु सखा कपि पति लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ।''

प्रीति में भी नीति का पोषण करने वाले राम के इन्हीं गुणों के कारण तो वसिष्ठ जी ने राम के प्रति कहा है-
''नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सन जान जथारथु।।''

मित्र के सन्दर्भ मं शत्रु का भी उल्लेख कर देना समीचीन होगा। जिस प्रकार राज्य को सुदृढ़ बनाने में मित्रों की आवश्यकता है उसी प्रकार राज्य की दृढ़ता और सम्पन्नता की रक्षा के लिए शत्रुओं से सतर्क रहना भी अनिवार्य है। गोस्वामी जी के अनुसार तेजस्वी शत्रु अकेला ही क्यों न हो, उसे छोटा नहीं समझना चाहिए और कभी भी अपने शक्तिशाली तथा वैभवशाली से

शत्रुता उचित नहीं है। शत्रुता अथवा वैर भाव उसी व्यक्ति से करना चाहिए जिसे बुद्धि और बल से जीता जा सके। युद्ध क्षेत्र में पहुंचकर शत्रु के ऊपर दया को तो तुलसी ने घोर कायरता की संज्ञा दी है। यदि किसी प्रबल और समर्थ से शत्रुता ठन ही गयी है तो उससे सीधा विरोध नहीं करना चाहिए। उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे पानी नाव के साथ करता है। अपने सर पर नाव को धारण करने वाला पानी में नाव डगमगाते या डूबते देखकर उसकी सहायता के स्थान पर उस पर चारों ओर से आक्रमण करता है उसी प्रकार चतुर राजा के शत्रु पर अवसर देखकर आक्रमण करना चाहिए, गोस्वामी जी की यही शिक्षा है-

शत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाव।
बुड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूं दिसि धाव।।''

बल अथवा सेना-

राज्यांगों में मंत्री और राजा द्वारा नियोजित कार्यो के सम्पादन में सेना का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। प्राचीन नीति शास्त्रों में चतुरंगिनी गजारोही, अश्वारोही, रथारोही तथा पदाति सेना का उल्लेख है। सेना संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा।। ''चतुरंगिनी सेना संग लीन्हें। विचरत सबहिं चुनौती दीन्हें।।'' चतुरंगिनी सेना से भी अधिक श्रेणियों वाली सेना रावण की सेना है, जिसकी विविधता, विशालता, भयंकरता प्रस्तुत पंक्तियों मं अवलोकनीय है-

''चलेउ निसाचर कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा।।
बिबिध भांति बाहन रथ जाना। विपुल बरन पताक ध्वज नाना।।
चले मत्त गज जूथ घनेरे। प्राबिट जलद मरूत जनु प्रेरे।।
वरन वरन बिरदेत निकाया। समर सूर जानहिं बहु माया।।
अति विचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी।।
चलत कटक दिगसिंधुर डगहीं। छुमित पयोधि कुधर डगमगहीं।।

उठी रेनु रवि गयउ छपाई। मरूत थकित बसुधा अकुलाई।।
पवन निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं।।
भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई।।
केहरि नाद बीर सब करहीं। निज निज बल पौरूष उच्चरहीं।।
कहई दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्हि के ठट्टा।।
हौं मारिहउं भूप द्वौ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई।।''

और इसका सामना करने वाली राम की सेना की विशालता का पूरा परिचय तो तुलसी ने नहीं दिया किन्तु यूथपति बानरों की संख्या अठारह पद्म अवश्य बताई है। अर्बुदं दश कोटीनां मुनिभिः कथितं बुधैः। दशार्बुदं भवद्यत्र सोपियूथः प्रकथ्यते'' के अनुसार सौ करोड़ का एक यूथ होता है प्रत्येक यूथ का एक यूथप होता है इस प्रकार राम की सेना में अठारह पद यूथ और उन पर एकएक सेनापति कहकर गोस्वामी जी ने योद्धा बानरों की संख्या का संकेत कर दिया है।

सेना के मनोबल पर राजा की दृष्टि हर समय रहनी चाहिए। शक्ति शाली और अपनी सेना की शक्ति पर विश्वास करने वाले राजा सेना सेनापति और सैनिकों को कृपा और प्रीतिपूर्ण दृष्टि से प्रोत्साहित करते हैं। इसके विपरीत मनोबल से थकी हुई अपनी सेना के साहस पर संदेह होने पर राजा सैनिक तथा सेनापतियों को भय त्रास और चेतावनी देकर युद्धक्षेत्र में भेजते हैं। लंका पर चढ़ाई से पूर्व राम की सेना को स्वामी की कृपा दृष्टि से बल मिलता है-

देखी राम सकल कपि सेना। चितई कृपा करि राजिव नैना।।
राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुं गिरिंदा।''

और रावण अपने सैनिकों को विचलित देखकर पलायन के भयावह परिणामों के प्रति चेतावनी देता है-

निज दल विचल सुनी तेहिं काना। फेरि सुभट लंकेस रिसाना।।

जोरन बिमुख सुना मै काना। सो मै हतब कराल कृपाना।।
सर्वसु खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भए वल्लभ प्राना।।
उग्र वचन मुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि सुभ लजाने।।"

राम के तीक्ष्ण बाणों का सामना करने में असमर्थ युद्ध क्षेत्र से भागती हुई सेना के प्रति खरदूषणादि की उक्ति में भी यही भयावह परिणाम का त्रास परिलखित हाता है-

भए क्रुद्ध तीनिउ भाई। जो भागि रन ते जाइ।।
तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महुं ठानि।।
"आयिुध अनेक प्रकार। सनमुख ते करहिं प्रहार।।"

सेना का मुख्य धर्म युद्ध है। साभ दाम भेदादि नीतियों द्वारा शत्रुओं को अनुकूल बनाने में सफलता न मिलने पर युद्ध अनिवार्य हो जाता है। धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए युद्ध से परांगमुख होना कायरता है। गोस्वामी जी के काव्य में आदर्श राज्य का यह धर्म कहा गया है कि वह समुपस्थित धर्म युद्ध का स्वागत करें। राम परशुराम संवाद में राम की इस उक्ति में तुलसी की इस नीति का प्रयोग देखने को मिलता है-

देव दनुज भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना।।
"जा रन हिमहिं पचारे काऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।।"

खरदूषण के दूतों से राम के इस कथन में कि हम बलशाली शत्रु को देखकर नहीं डरते एक बार मृत्यु से भी लड़ सकते हैं, राजा की उक्त युद्ध सम्बन्धी नीति ही चरितार्थ होती हे। अपने सदृश योद्धा से युद्ध करना धर्म युद्ध का एक प्रमुख तत्व है। राम और रावण के युद्ध मं योद्धा अपने बराबर के विरोधी योद्धा से ही लड़ता है-

"दुहुं दिसि जय जय कार करि निज निज जोरी जानि।"
"भिरे कसकल जोरिहिं सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी।।"

युद्ध की प्रचंडता के दृश्य यदि कहीं देखने को मिलते है तो कवितावली लंकाकांड मं जहाँ युद्ध की भयकरता हनुमान की युद्ध कुशलता में मुखरित हो रही है।

युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र शस्त्रों में गोस्वामी जी ने मिंदिपाल (गोफन) शक्ति (सांग) तोमर मृदुगर फरसा शूल, कृपाण, परिध, पहाड़ों, के टुकड़ों, त्रिशूल, चक्र, तलवार, वज्रादि, के आयुध, पत्थर, बाण, धनु का प्रयोग किया है जो निम्नलिखित पंक्तियों मं दृष्टव्य है-

चले निसाचर आयसु मांगी। गहि कर मिंडिपाल बर सांगी।।
तोमर मुद्‌गर परसु प्रचंडा। मूल कृपान परिघ गिरी खडा।।"
बहु आयुध धर सुभट भिरहिं पचारि पचारि।
व्याकुल किए भालु कपि परिध त्रिसूलन्हि मारि।।"
सक्ति मूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना।।
"डारइ परसु परिधि पाषाना। लागेउ वृष्टि करै बहु बाना।।"
"सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिधि परसु धरा।।"
"कोटिन्ह चक्र त्रिशूल पबारै। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारै।।"

दुर्ग

देश अथवा राज्य के संरक्षण में जो स्थान सेना का है, सेना के संरक्षण में वही स्थान दुर्ग का। अत्यन्त दुर्गत होने के कारण ये दुर्ग कहे जाते हैं। दुर्गस्थ एक योद्धा भी सौ योद्धाओं के बराबर माना जाता है। ये दुर्ग पांच प्रकार के कहे गये हैं जो जलीय दुर्ग, पर्वत दुर्ग, वन दुर्ग, निर्जल दुर्ग, तथा धन्वीदुर्ग अभिधानों से जाने जाते हैं। जल से घिरे हुए दुर्ग को जलीय दुर्ग, पर्वतों के बीच स्थित दुर्ग को पर्वत दुर्ग, बनों द्वारा आवृत्त दुर्ग को बन दुर्ग, निर्जल देश से घिरे हुए दुर्ग को निर्जल या ईरिण दुर्ग तथा धनुर्धारी सैनिकों से सजे सुरक्षित दुर्ग को धन्वी दुर्ग कहा जाता है।

गोस्वामी जी ने लंकापुरी वर्णन में इनमें से कुछ दुर्गो का निर्देश प्रसगवश किया है।

आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप

भारतीय संस्कृति सदैव धर्म मूलक रही है। सुजला, सुफला, शस्य, श्यामला समृद्ध भारत भूमि भारतीयों को आजीविका के कठोर संघर्ष से मुक्त रखकर जीवन और जगत् के रहस्यों पर विचार करने के लिए अवकाश प्रदान करती आई है। इसीलिए जीविका सम्बन्धी समस्याओं से मुक्त भारतीय मनीषी मै कौन हूँ कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? सृष्टि क्या है? इनका निर्माता कौन है? सृष्टि और सृष्टिनियन्ता तथा जीव का क्या सम्बन्ध है? इस जगत् में जीव के बन्धन का क्या कारण है? इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है? आदि प्रश्नों के समाधान हेतु प्रयन्तशील हुए। इसी चिन्तन की व्याख्यात्मक संज्ञा अध्मात्म चिन्तन के फलस्वरूप जिस सत्य का साक्षात्कार साधक को होता है उसे जिस रूप में वह देखता है, वह उसका दर्शन कहलाता है। दर्शन को व्याख्यापित प्रतिपादित करने वाले दार्शनिक कहलाते हैं। दार्शनिकों ने सृष्टि कर्ता अथवा सृष्टिनियन्ता रूप में ब्रह्म (ईश्वर) की परिकल्पना की। ईश्वर के प्रति अस्तिक्य भाव तथा अनुराग की प्रतिष्ठा हुई जिसे भक्ति कहा गया। प्रस्तुत अध्याय में गोस्वामी तुलसी दास के भक्ति और दर्शन सम्बन्धी विचारों का अध्ययन अभीष्ट हे। अध्ययन को सुविधा हेतु दो शीर्षकों में विभक्त किया जा रहा है- (अ) दार्शनिक विचार, (ब) भक्ति और धर्म सम्बन्धी विचार।

दार्शनिक विचार

दर्शन की व्युत्पत्ति दृश धातु से हुई है जिसका अर्थ है देखना। सामान्यत: दर्शन का व्यवहार आलोचनात्मक व्याख्यान, तर्किक पर्यवेक्षण या वेदान्त आदि चिन्तन सम्प्रदायों के लिए होता है। अपने परिभाषिक अर्थ में दर्शन तत्वज्ञान, आत्ज्ञान का वाचक है। गोस्वामी जी ने ब्रह्मविचार, तत्वविचार

आदि शब्दों से दर्शन तथा ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्मवादी, परमारथवादी, तत्वदरसी, अद्वैतदरसी आदि शब्दों से दार्शनिक का बोध कराया है। अतः गोस्वामी के अनुसार परमार्थरूप ब्रह्म उनके अंशभूत जीव तथा जगत्, उनकी माया, उनकी भक्ति आदि का ज्ञान दर्शन है। प्रस्तुत शीर्षक अन्तर्गत ब्रह्मा, जीव, जगत, माया और मोक्ष सम्बन्ध में गोस्वामी जी के विचारों का अध्ययन किया जायेगा।

तुलसी का युग मुख्यतः भक्ति समन्वित वेदान्त का युग था। उस समय वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों पर भी वेदान्त का प्रभाव था। अतः गोस्वामी जी के दार्शनिक विचारों विवेचन से पूर्व आचार्य शंकर रामानुज निम्बार्क मध्य तथा वल्लभ के दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त परिचय देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद-

अद्वैत दर्शन के अनुसार ब्रह्मा ही परम तत्व है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। शकर ने ब्रह्म का लक्षण दो रूपों में अभिव्यक्त किया है-स्वरूप लक्षण तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण में वस्तु के तात्विक रूप का परिचय मिलता है कि वस्तु कैसी है, किन्तु तटस्थ लक्षण में वस्तु के आगन्तुक या अभिव्यक्त गुण या वर्तमान दशा का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए शंकराचार्य ने आत्मा को ब्रह्म कहा है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप तथा अनन्त है विज्ञान रूप एवं आनंदस्वरूप है। ब्रह्मा के तटस्थ लक्षण का वर्णन करते हुए शंकर ने कहा कि जिससे प्राणी उत्पन्न होते, जिसके द्वारा जीवित रहते है। तथा अन्त में जिसमें प्रविष्ट हो जाते है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म की यही सृष्टि है, स्थिति विनाश वाला लक्षण उसका तटस्थ लक्षण है। तटस्थ लक्षण वाला ब्रह्म सगुण रूप में प्रतिपाद्य है किन्तु ब्राम्हण का तटस्थ (सगुण) लक्षण केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है पारमार्थिक दृष्टि से नही। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण एवं

तटस्थ लक्षण के विवेचन में आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत एक दृष्टांत यहां उल्लेख्य है। जिस प्रकार एक गड़रिया रंगमंच पर राजा का अभिनव करता है, वह देश देशान्तरों को जीत कर शासन करता है परन्तु वास्तव में वह गड़रिया ही है। उसका यही वास्तविक रूप उसका स्वरूप लक्षण हुआ और रंगमंच पर उसका अवास्तविक रूप ही उसका तटस्थ लक्षण हुआ। शंकराचार्य ने स्वरूप और तटस्थ लक्षण युक्त ब्रह्म को क्रमशः परब्रह्म अपरब्रह्म कहा है। शंकर ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे अपरब्रह्म के रूप में जिसे वे अविधा कल्पित मानते हैं।

शंकर के अनुसार माया का कोई अस्तित्व नहीं है। वह न सत् है और न असत् अपितु अनिर्वचनीय है। माया से जगत की उत्पत्ति होती है। शंकर ने माया और उसकी सृष्टि दोनों को मिथ्या कहा है, उनके अनुसार माया का दूसरा नाम ही अविधा है। माया को अविधा इसलिए कहा गया है कि वह ज्ञान विरोधिनी है, ज्ञान के उपस्थित होते ही वह विलीन हो जाती है। माया के कारण ही ब्रह्म से जीवन की भिन्नता और जगत् की सत्यता की भ्रान्ति होती है।

माया की दो शक्तियाँ कही गयी है- आवरण और विक्षेप। ये शक्तियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। आवरण के द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप तिरोहित कर दिया जाता है और विक्षेप के द्वारा नवीन वस्तु की सृष्टि कर दी जाती है माया की इन दो शक्तियों को ग्रहण करने से जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसे अभ्यास कहते हैं। जो जैसा नही है उसमें वैसी बुद्धि करना अभ्यास कहा जाता है। इस प्रकार मिथ्या प्रतीति का दूसरा नाम अभ्यास है।

शकर ने आत्मा को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त निराकार, जन्म-जरा-मरण-रहित, अमृत, अभय, निर्विकार, सर्वगत, अचिन्त्य अज्ञेय अदाहा सनातन एवं परमार्थ माना है। उन्होंने जीव को आत्मा का अभिन्न रूप एवं

आत्मा को जीव का सत्य रूप कहा है। शंकराचार्य ने ब्रह्म जीव की एकता का प्रतिपादन किया है।

शंकर ने ब्रह्म और उससे अभिन्न आत्मा को त्रिकालाबाधित माना है उसके अतिरिक्त समस्त दृश्यमान पदार्थ को मिथ्या स्वीकार किया है। जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से असत्य एवं मिथ्या है। जगत् की स्थिति माया के कारण ब्रह्म अथवा आत्मा के ऊपर अभ्यस्त की गई है। ब्रह्म अधिष्ठान है जगत अभ्यस्त। माया के द्वारा ही ब्रह्म जगत् रूप में प्रतिभावित हो रहा है। ब्रह्म नाम रूप मुक्त है और जगत् नाम रूपात्मक। शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त एवं एक होने पर भी ब्रह्म विश्व प्रपंच के रूप में भासता है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव के ब्रह्म में लीन हो जाने की अवस्था को मुक्ति कहते हैं। मुक्ति की अवस्था में जीव सुख दुखादि सांसारिक कष्टों से दूर हो जाता है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत

यद्यपि विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रथम आचार्य नाथमुनि कहे जाते हैं तथापि इस दर्शन का विकास रामानुजाचार्य ने किया। नाथमुनि और रामानुज सम्बन्ध आलवार सन्तों से था। अतः विशिष्टाद्वैत दर्शन में बुद्धि पक्ष के साथ आलवार संतों के हृदय पक्ष का योग हुआ। रामानुज का दर्शन उपनिषद् गीता, न्याय शास्त्र, एवं ब्रह्मसूत्र पर आधारित है।

रामानुज ने तीन तत्व माने हैं- चित् (जीव), अचित् (जगत्) तथा ईश्वर। ब्रह्म चित् तथा अचित् दोनों तत्वों से युक्त है। वह चिदचित् अंशां से विशिष्ट होते हुए भी एक ही है। रामानज ने चित् और अचित् के साथ ईश्वर का वही सम्बन्ध माना है जो आत्मा तथा शरीर का होता है। रामानुज का ब्रह्म सगुण है। सगुण, सच्चिदानंद स्वरूप चेतन तथा आनंदमय है। रामनुज के अनुसार निर्गुण से अभिप्राय है कि ब्रह्म में जीव के निकृष्ट गुण नहीं पाये

जाते। उनका ब्रह्म नित्य सर्वव्यापक सूक्ष्म अन्तर्यामी अनंत अक्षय सर्वस्त्र सर्वशक्ति मान् तथा समस्त गुणों से युक्त है, वह कर्ता पालक और संहारक भी है। रामानुज का यह सगुण ब्रह्म भक्तों पर अनुग्रह करने, बन्धन में पड़े जीवों की रक्षा करने, जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करने तथा साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरूद्ध के रूप में अवतरित होता है। ईश्वर चेतन जीवों एवं जड़ पदार्थे में अनुस्यूत होकर उन्हें नियमित करता है। मूर्ति आदि उपास्य वस्तुओं में ईश्वर की उपासना का कर्त्व्य है।

जीव को रामानुज सत्य एवं नित्य मानते हैं। यह ब्रह्म का नित्य अंश है परन्तु परिच्छिन्न तथा परतन्त्र है और ब्रह्म अपरिच्छिन्न स्वतंत्र पूर्ण अपरिणामी सर्वत्र सर्वशक्तिमान् और समस्त शुभ गुणों का भण्डार है। ईश्वर जीव का नियामक है। जीव अपने सपने सभी कार्यो तथा अन्तिम पुरूषार्थ मुक्ति के लिए अवलंबित है। इस प्रकार जीव ईश्वर से ऐश्वर्यत: भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार प्रकृति ही माया है। ईश्वर माया से स्वतंत्र है, माया अविद्या है। रामानुज ने अविद्या में केवील आवरण शक्ति को स्वीकार किया है। रामानुज ने माया को सत्य तथा अद्भुत पदार्थे की सृष्टि करने वाली शक्ति माना है।

जगत् और ईश्वर में कार्य कारण का सम्बन्ध है यही रामानुज का मत है। ईश्वर कारण है और जगत् उसका कार्य। अत: जगत् ईश्वर की शक्ति प्रकृति का ही परिणाम है, अतएव वह भी सत्य हें मोक्ष के सम्बन्ध में विशिष्टाद्वैत वादी यह मानते हैं कि परमेश्वर की प्राप्ति जीव का परमपुरूषार्थ मोक्ष है और ज्ञान, भक्ति तथा प्रपत्ति मोक्ष के साधन।

निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्क और रामानुज के मतों में पर्याप्त साम्य होने पर भी परमात्मा और जीव के सम्बन्ध कौ लेकर किंचित् अन्तर है। निम्बार्क ने ब्रह्म से जीव

और जगत् का द्वैत तथा अद्वैत दोनों प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार किया हे। निम्बार्क ने ब्रह्म को सगुण माना है। उनके अनुसार ईश्वर सभी शक्तियों से सम्पन्न है तथा सब कुछ करने में समर्थ है। द्वैताद्वैतवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार दूध का परिणाम दही है उसी प्रकार ब्रह्म का परिणाम जगत् है। अश के साथ अशी का जो सम्बन्ध होता है, जीव और जगत् के साथ ईश्वर का वही सम्बन्ध है। अंश सम्पूर्ण अवयवों से अंशी के अंगभूत हैं, अतः अभिन्न है परन्तु वह अंशी अंश से परे भी है। निम्बार्क का माया सम्बन्धी विचार विशिष्टाद्वैत के सदृश है। इस मत में भगवदनुग्रह एवं प्रपत्ति से मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

माध्वाचार्य का द्वैतवाद

मध्वाचार्य ने विष्णु को ही परमतत्व माना है। इनके मत में ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है। वह केवल निमित्त कारण है। इनके अनुसार उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण बन्धन एवं मोक्ष इन आठों के कर्ता भगवान् विष्णु ही है जो संसार में अवतार भी लेते हैं। भगवान् के दशाबतारों में द्वैतवादियों ने कृष्ण को पूर्णावतार माना है। माध्वमत में जीव को ईश्वर से भिन्न माना गया है। वस्तुतः इनके मत में मौलिक एवं पारमार्थिक भेद हैं। ये पांच प्रकार के भेद मानते हैं जो शाश्वत तथा वास्तविक हैं- 1-ईश्वर का जीव से भेद,2-ईश्वर का भूत (जड़) से भेद, 3-जीव का भूत से भेद, 4-एक जीव का दूसरे जीव से भेद और5-एक भूत कण का दूसरे भृत कण से भेद। मध्वाचार्य ने जीव के तीन भेद माने हैं-मुक्ति योग्य, नित्य संसारी और तमोयोग्य। मुक्ति योग्य जीवों में देव पितृ ऋषि, चक्रवर्ती, तथा मनुष्योत्तम का उल्लेख है। नित्य संसारी जीव वे जीव हैं जो सदैव सुख दुख भोगते हैं, ये मध्यम मनुष्य होते हैं और अनन्त हैं, जो सदैव स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी पर घूमते रहते हैं। तमोयोग्य पुनः दो प्रकार के होते हैं-चतुर्गुणोपासक और एक गुणोपासक। जो सत्चित् आनंद और आत्मा रूप में ईश्वर की

उपासना करते है, चतुर्गुणोपासक हैं और जो केवल आत्मा का ही परम दव भगवान् समझकर उसकी उपासना करते हे वे एक गुणोपासक हैं। मध्य मत में माया को अविद्या की संज्ञा दी गई है और यह अजा (जन्म न लेने वाली) होकर भी सृष्टि हेतु स्थूल रूप धारण करती है। मध्व मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद

वेदान्त के पूर्वोक्त सम्प्रदायों में शुद्धाद्वैत का विशेष महत्व है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णुस्वामी कहे जाते हैं, किन्तु प्रामाणिक रूप से यही मान्य है कि इसका प्रतिपादन बल्लभाचार्य ने किया। ब्रह्म के माया रहित होने के कारण बल्लभाचार्य के मत का नाम शुद्धाद्वैत पडा और यही शुद्धाद्वैत व्यावहारिक क्षेत्र में अथवा साधना के क्षेत्र में ''पुष्टि मार्ग'' कहा गया। बल्लभाचार्य का ब्रह्म माया रहित एवं विशुद्ध है। बल्लभाचार्य का ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार का है। वह सगुण इसलिए है क्योंकि वह आनन्दादि दिव्य गुणों से युक्त है और निर्गुण इसलिए है कि वह जगत् के निकृष्ट गुणों से रहित है। वह ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप, सर्वव्यापक, अविनाशी, सर्वशक्तिमान होने के साथ साथ सजातीय, विजातीय, स्वगत, द्वैत रहित एवं सहस्रों नित्य गुणों से युक्त है। ब्रह्म जगत् का समवाची एवं निमित्त कारण है। वह अपने स्वरूप में ही नित्य लीला किया करता है। शंकराचार्य ने जिसे परब्रह्म कहा है उसे बल्लभाचार्य ने भगवान् पुरूषेश्वर-पुरुषोत्तम कहा है। बल्लभ ने जीव और जगत् को ईश्वर का अंश मानकर सत्य कहा है। इनके अनुसार जीव और ईश्वर में अंश और अंशी का सम्बन्ध है।अत: अंशांशी भाव से जीव और ईश्वर अभेद है। अंश रूप में जीव अपने अंशी के अधीन है क्योंकि वह अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्यवान् एवं सीमित है। बल्लभ मत में तीन प्रकार के जीवों का उल्लेख है-पुष्टजीव, मर्यादाजीव और प्रवाही जीव। इनमें पुष्ट जीव श्रेष्ठ माने जाते हैं। जगत् को भी शुद्धाद्वैतवादी सत्य मानते है क्योंकि ब्रह्म और

जगत् को संसार के पर्याय रूप में देखते है किन्तु बल्लभाचार्य जी स्पष्टतः जगत् को ईश्वरकृत तथा संसार को जीवकृत मानते है। ज्ञान से संसार का तो नाश होता है किन्तु जगत् का नहीं।

बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है जिसके दो रूप विद्या और अविद्या है। विद्या माया बन्धन से छुड़ाने का साधन है और अविद्या माया जीव को भ्रम में डालने वाली। शक्तिरूपा विद्या माया को भगवान् की योगमाया कहा गया है। योगमाया षड्गुणोपेत है किन्तु अविद्या माया उससे रहित एवं व्यामोहिका है। आचार्य वल्लभ ने विद्या से अविद्या नाश को जीवमुक्ति कहा है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में अविद्या कल्पित संसार से छूटकर पुरूषोत्तम का सान्निध्य प्राप्त करना ही जीवन्मुक्ति है और यह जीवन्मुक्ति भगवदनुग्रह के बिना प्राप्त नही हो सकती।

इस प्रकार संक्षेप में अद्वैत विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत द्वैत और शुद्धाद्वैत दर्शन का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त तुलसी के दार्शनिक विचारों का अवलोकन अभीष्ट है।

तुलसी के दार्शनिक विचार

नाना पुराण, निगम, आगम, रामायण के साथ क्वचिदन्यत् का अध्ययन करके उनसे रघुनाथ गाथा को संगठित करने वाले तुलसी का दर्शन स्वाभाविक है, वेद और पुराणों से अनुप्राणित है। गोस्वामी जी ने शंकर रामानुज, वल्लभ, रामानंदआदि के विचारों का सारतत्व ग्रहण करके भी यथावत् स्वीकार नहीं किया। सारतत्व की अभिव्यक्ति गोस्वामी जी की अपनी है। वस्तुतः तुलसी की दार्शनिक चिन्ताधारा वेदों, उपनिषदों दार्शनिक शाखाओं, शैव-शाक्त- वैष्णव तन्त्रों, निगम आगम और पुराणों की चिन्ताधारा का संश्लेषणात्मक रूप है।

ब्रह्म

गोस्वामी जी का ब्रह्म सर्वशक्तिमान, अपनी सत्ता से जगत् की सत्यता का आभास कराने वाला और ब्रह्मादिक समस्त देवताओं को अपनी माया के

वश में रखने वाला है। वही ब्रह्म अपने चरण कमलों की नौका से ससार सागर को पार करने की कामना करने वालों को पार उतारने वाला रामनामधेयी हरि है। तुलसी ने पूर्वोक्त सभी दर्शनों में निरूपित ब्रह्म के अनुरूप राम के भी स्वरूप-लक्षण, तटस्थ-लक्षण सुगुण रूप निर्गुण रूप तथा सगुण-निर्गुण रूप का विवेचन किया है।

राम का स्वरूप लक्षण

गोस्वामी जी ने राम के स्वरूप को वाणी और बुद्धि से परे, अविगत, अकथनीय अपार और वेद के अनुसार नैति नैति कहा है। राम का मन और वाणी से परे यह स्वरूप तैत्तीरीयोपनिपद् के ब्रह्म के अनुकूल है। गोस्वामी जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि जिसे वेद अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमानित करते हैं और मुनिगण जिसे अपनी बुद्धि के आधार पर निरूपित करते हैं, वही ब्रह्म राम उनका आराध्य है। तुलसी ने अनेक प्रसंगों में राम को सच्चिदानन्दस्वरूप स्वीकार किया है। अध्यात्म रामायण में भी राम को सच्चिदानंद स्वरूप कहा गया है। तुलसी ने राम के स्वरूप की सत्यता चिन्मयता और आनन्दमयता का निदर्शन अपने काव्य में प्रसंगानुसार अलग अलग भी किया है।

तुलसी के राम एक अद्वितीय अनुपम अभेद और शुद्ध हैं। वे सत्य नित्य शाश्वत, ज्ञानधन, विज्ञानरूप, बोधमय, अज, व्यापक, अनादि और अखण्ड हैं। वे परमानन्दस्वरूप परेश और जगदाचार हैं। वे सब के हृदय में वास करने वाले, विश्वात्मा, विश्वेश तथा विश्वायतन है।

राम का तटस्थ लक्षण-

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण को स्पष्ट करने के लिए, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ग़ड़रिये के दृष्टान्त को शंकराचार्य ने माध्यम बनाया है। गोस्वामी जी ने भी नट के उदाहरण से इसी भाव की अभिव्यक्ति करने वाला, वास्तव में वह नहीं होता जिसकी अभिव्यक्ति वह कर रहा है, उसी प्रकार नर रूप धारण करके अनेक लीलाएं करने वाला प्रभु (उसका

स्वरूप लक्षण) भी वास्तव में कुछ और ही होता है। यह तो उसकी लीला है-

भगत हेतु भगवान प्रभु नाथ धरेउ तनु भूप।

किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।।

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोई।

सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोई।।

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी।।

यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। नामरूपादि से युक्त राम सृष्टि के कर्ता, भर्ता एवं संहर्ता है। राम का यह रूप अद्वैत दर्शन के अपरब्रह्म का अनुरूप है। सृष्टि के आदि मध्य और अन्त में राम की ही सत्ता और राम की ही साहिबी है। जगत् के सर्जकत्व और पालकत्व के कारण ही उन्हें जगत् पिता अथवा जगत् का माता पिता भी कहा गया है।

राम का निर्गुण रूप-

गोस्वामी जी के राम का निर्गुण रूप अद्वैत के ब्रह्म से बहुत कुछ सादृश्य रखता है। शंकराचार्य के ब्रह्म की भांति तुलसी के राम भी निर्गुण, अविनाशी, सत्य, चेतनस्वरूप आनंन्दस्वरूप, व्यापक, बिरज, अकल, अनीह, अभेद, अगुन, अखण्ड, अनन्त, अनादि, निरूपाधि, अनुपम, निर्मम, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरंजन, अमल, अखिल, अनवध और अपार हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म के विरोधी धर्मो का वर्णन मिलता है। तुलसी ने भी राम के विरोधी धर्मो का उल्लेख किया है। तुलसी के राम (ब्रह्म) इन्द्रिय रहित होकर भी इन्द्रिय सहित है। 'ग्यान गिरा गोतीत' होकर भी ज्ञानगम्य तथा वेदान्तवैद्य हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म के विरोधी गुणों का निर्देश इस प्रकार है- वह हाथ पैरों से रहित होकर भी वेगवान् एवं ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह समस्त वैद्य वर्ग को जानता हे, किन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। उसे

ऋषियों ने सब का आदि एवं महान् कहा है। इसी के अनुरूप गोस्वामी जी के ब्रह्म में भी उक्त विरोधी गुण दृष्टव्य है-

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनुबानी बकता बड़ जोगी।।
तनु बिनु परस नयन बिनि देखा। ग्रहइ प्रान बिनु बास असेषा।।

राम का सगुण रूप-

जब जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होता है, दुष्टों, राक्षसों और अभिमानियों की वृद्धि होती है, अनाचार का बोलबाला होता है, गौब्राम्हण के प्रति क्रूरता का व्यवहार होता है, तब तब गीता के कृष्ण की भंति तुलसी के राम भी भक्तों के कल्याण के लिए सगुण साकार रूप में अवतरित होते है-

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु।।

मानस में गोस्वामी जी ने अनेक प्रसंगों में इस तथ्य का निर्देश किया है कि निर्गुण, निराकार, परब्रह्म, सगुण राम से अभिन्न है। मानस के मनुशतरूपा प्रसंग में गोस्वामी जी ने दम्पति के उदात्त धर्माचरण की सार्थकता द्वादश अक्षर मन्त्र के निष्ठामय आप में बताई है। उक्त दम्पति का यह कथन उनकी निष्ठा का परिचायक है-

अगुन अखण्ड अनन्त अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथ वादी।।
नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानंद निरूपाधि अनूपा।।
सम्भू बिरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।।

जौं यह वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।।

यही भाव वैराग्य सन्दीपिनी के प्रस्तुत सोरठे से अभिव्यक्त है-

अज अद्वैत बनाम, अलख रूप गुन रहित जो।

मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तनु धरेउ।।

गोस्वामी जी ने सगुण साकार राम में जिस वीरता, भयंकरता, सुन्दरता, मधुरता, उदारता आदि का समावेश किया है वह पुराणों के कृष्ण में भी देखी जाती है। भागवत् के कृष्ण के एक ही रूप में वीर, भयानक, श्रृंगार, वात्सल्य और रौद्र रसों की प्रतिष्ठा इस प्रकार की गई है कि निर्गुणोपासक ऋषियों का उसमें विराट रूप के दर्शन होते हैं, सगुणोपासक भक्त उसमें लोचनाभिराम नर भूषण का अवलोकन करते हैं, स्वजनों को आत्मीय की प्रतीति होती है, योगियों को उसमें परम तत्व की अनुभूति होती है तथा भक्त अपने ईष्टदेव के साक्षात् दर्शन का परमानन्द प्राप्त करता है। प्रत्येक मानव एक ही मूर्ति के अनेक रूपों में अपने भाव के अनुरूप रूप को देखता है। उसमें विद्वानों और सामान्य जन की रूचियों को संतोष होता है, सौन्दर्य प्रेमी पुरूषों एवं माधुर्य पर अनुरक्त नारियों सभी के नेत्रों को तृप्ति मिलती है। मानस के राम में भी दर्शक अपनी धारणाओं के अनुरूप अनेक रूपों के दर्शन करते हैं-

देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुं बीर रसु धरे सरीरा।।

डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुं भयानक मूरति मारी।।

रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।।

पुरबसिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई।।

नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रूचि अनुरूप।

जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।।

बिदुबन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा।।

जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे।।

सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।।

जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। हात सुद्ध सम सहज प्रकासा।।

हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।।

भागवत के कृष्ण और मानस के राम दोनों के दर्शन भक्त जन अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार करते हैं। तुलसी के सगुण राम दोनों के लिए दयालु, भिखारियों के लिए दानी पापियों के लिए पाप पुंज हारी अनाथों के नाथ, दुखियों के लिए दुखहर्ता, जीव के लिए ब्रह्म और सेवक के लिए स्वामी है। तुलसी संसार के सभी नाते राम से ही जोड़कर उस सम्बन्ध निर्वाह की स्पृहा बड़ी सुकुमारता से करते हैं-

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी।।

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?

मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो।।

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।

तात, मात, गुरू सखा तू सब विधि हितु मेरो।।

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै।।''

राम का सगुण निर्गुण रूप

अद्वैतवादी ब्रह्म के निर्गुण रूप की परमार्थतः सत्य मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज और शुद्धाद्वैतवादी दृटान्तों द्वारा निदर्शित किया है। जिस प्रकार जल और ओले में कोई भेद नहीं है, दोनो जल ही हैं। उसी प्रकार निर्गुण और सगुण एक ही हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। इस जगत् में उस ब्रह्म की उपस्थिति को गोस्वामी जी ने दास गत अग्नि और प्रगट अग्नि को समान बताया है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूपों में ऐक्य और अभेद को स्वीकार किया है। मानस और

विनयपत्रिका के विविध प्रसंगों में तुलसी की यह अवधारणा परिलक्षित होती है-

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

अगुन सगुन बिन नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।।

सगुनहिं अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।

जौ भुसुंडि मन मानस हसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।।

निर्गुण सगुण विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं।।

जे जानहि ते जानहूं स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी।।

अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर।।

जय निर्गुन जय जय गुन सागर। सुख मंदिर सुन्दर अति नागर।।

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।।

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूय भूपि सिरोमनें।।

अमल, अनवद्य, अद्वैत, निर्गुण, सगुण ब्रह्म सुमिरामि नर भूप रूपं।

परम कारण कंच नाम जलदाभतनु सगुण सकल दृष्य दृष्टा।।

नित्य निर्मुक्त संयुक्त गुण निर्गुणानंद भगवंत न्यामक नियंता।

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएं जैसा।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ब्रह्म स्वरूप निर्धारण के विषय में केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि सभी दर्शनों को अपनी विचार धारा में समन्वित करने के कारण समन्यवयवादी है।

माया-

ब्रह्म निरूपण की भंति माया निरूपण में भी गोस्वामी जी की प्रकृति समन्वयात्मक ही दिखाई पड़ती है। इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को माया कहकर तुलसी ने अद्वैतवादी शंकर के सिद्धान्त से अपना साम्य स्थापित किया है और उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश की कारण-रूपा- माया का प्रतिपादन

करके माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हुए तुलसी विशिष्टाद्वैतवादियों के सादृश्य का वरण करते हैं। गोस्वामी जी ने माया को ब्रह्म राम की शक्ति कहा है और राम को मायापति अध्यात्म रामायण में अनेक स्थलों पर सीता को माया कहा गया है। तुलसी ने भी शक्ति रूपा माया को सीता कहा है। गोस्वामी जी के अनुसार जिस प्रकार निर्गुण निराकार राम साकार रूप में अवतरित होते हैं, उसी प्रकार उनकी आदि शक्ति माया भी अवतार लेती है। तुलसी ने माया का व्यवहार अनेक अर्थो में किया है।अध्यात्म रामायण की भाँति गोस्वामी जी भी माया के दो भेद विधा और अविधा स्वीकार करते हैं। विधा माया त्रिगुणात्मिका है जो अपने गुणों से सृष्टि की रचना करती है, यद्यपि उसके द्वारा सृजन का यह कार्य प्रभु प्रेरित है उसमें उसकी अपनी शक्ति नहीं है। अविधा माया दुष्ट और दुख रूपा है, जिसके कारण जीव अनेक प्रकार के सांसारिक बन्धनों में बँधता है। इसी माया को गोस्वामी जी ने माया या अविधा संज्ञाओं से अभिहित किया है। यह माया जीव को भगवत् स्वरूप से अलग कर भव बन्धन में बांधती है जीव को बहुषावृत कर देती है गोस्वामी जी की यह (अविधा) मया, अद्वैत की माया के अनुरूप है।

उद्‌भव स्थितिसंहारकारिणी रामबल्लभा सीता विधा माया है। सीता शक्तिमान की शक्ति की भाँति राम से अविच्छिन्न है। वाणी और अर्थ में, जल और लहर में प्रतिभासित भेद जिस प्रकार वास्तविक नहीं है उसी प्रकार राम और सीता नाम से भिन्न होते हुए भी तत्वतः अवियुक्त है। वे संहार का उद्‌भव और पालन करने के कारण जगज्जननि ओर जगदंबा कही जाती है। विधा माया के रूप में सीता कृपानिधान का रूख पाकर जगत् का सृजन पालन और संहार करती है। डा0 उदयभानु सिंह माया की भांति सीता के भी विधा और अविधा दो रूप मानते है। उनके अनुसार विधा माया सीता के कार्य द्विविध हैं जगत की सृष्टि आदि एवं जीव का क्लेशकरण तथा श्रेयस्करण। उनके ये सभी व्यापार जीव के मंगल के लिए है। विश्व के

तोते और बन्दर की भांति अपने अज्ञानवश अनेक प्रकार के दुख भोगता है। तुलसी ने जीव को चेतन तो माना है किन्तु माया से विहित हो जाने पर उसे जड़ कह कर भी सम्बोधित किया है। गोस्वामी जी ने यह बार बार संकेत किया है कि माया से आच्छन्न जीव संसारी कहा जाता है और ऐसी अवस्था में जड़ता को प्राप्त कर वह अपने स्वरूप ज्ञान को भूल जाता है। जड़ माया से चेतन जीव का सम्पर्क होने पर अनाज्ञवश दोनों के सम्बन्धों की दृढ़ता की जो ग्रन्थि पड़ जाती है, वह मिथ्या होते हुए भी छूटती नहीं है। अनेक प्रयास करने पर छूटने के स्थान पर और उलझती ही जाती है। माया के बन्धन में पड़े हुए जीव के संसृप्ति क्लेशों का एक दृश्य विनय पत्रिका की प्रस्तुत पंक्तियों में दृष्टव्य है-

जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।।
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारून दुख पायो।।
पायो जो दारून दुसहुँ दुख, सुख लेस सपनेहुं नहिं मिल्यो।
भवसूल सोग अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।।
बहु जोनि जनम जरा विपति, मति मन्द हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु विश्राम मूढ़ विचार लखि पायो नहीं।।

माया वश अपने स्वरूप (ईश्वरत्व) की न पहचान कर अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ जीव संयोग से अज्ञान हटते ही अपने सहज स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ईश के समान जो जीव मायाच्छन्न होने के कारण जड़ था पुनः माया से रहित होते ही अपने चेतनत्व की स्थिति को प्राप्त करता है। जिस प्रकार गंगा जल गंगा से अलग होकर मदिरा के सम्पर्क से मदिरा ही कहलाने लगता है और पुनः गंगा को प्राप्त कर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर से अलग होकर उसी (ईश्वर) का अविनाशी अमर और चेतन अंश (जीव) माया के सम्पर्क से विकृत हो जाता है किन्तु पुनः ज्ञान प्राप्त होने पर ईश्वर और उसमें कोई भेद नहीं रह जाता-

सुरसरि जल कृत बारूनि जाना। कबहुं न संत करहिं तेहि पाना।।
सुरसरि मिलें सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतरू तैसें।।

गोस्वामी जी जीव को चेतन, अमल, अविनासी, नित्य और सुखराशि कहकर उसमें और ईश्वर में तत्वतः अभेद को स्वीकार करते हैं किन्तु यह भी मानते हैं कि ईश्वर से परमार्थतः अभिन्न जीव ऐश्वर्य तथा व्यवहार की दृष्टि से उससे भिन्न है। ईश्वर अंशी है, जीव अंश है, जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर माया को वश में रखने वाला है, जीव माया का यशवर्ती है, जीव परवश है, ईश्वर स्ववश (स्वतंत्र) है, जीव अनेक हैं, ईश्वर एक है। सूत्र रूप में ईश्वर और जीव के भेद को गोस्वामी जी ने लक्ष्मण के प्रश्न पर राम के मुख से इस प्रकार अभिव्यक्त कराया है-

माया ईस न आपु कहुं जान कहिअ सो जीव।
बंध मोक्ष प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव।।

गोस्वामी जी ने साधना की दृष्टि जीवों को तीन पकार के कहा है-विषयी, साधक और सिद्ध। इन्हीं तीन प्रकार के जीवों को प्रसंगान्तर में विषयी, विरक्त और विमुक्त की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इनमें सांसारिक विषय वासना में लिप्त जीव विषयी है। साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील जीव साधक है। भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान दोनों के उदय होने पर बन्धन (मोहश्रृंखला, ग्रंथि, गांठ) से स्वतन्त्र जीव मुक्त है। ये मुक्त जीव शरीर रहते हुए भी मुक्त (जीवन्मुक्त) हो सकते हैं और शरीर छोड़कर भी (विदेहमुक्त)।

जगत-

भारतीय चिन्तकों की जगत्सम्बन्धी धारणा को संक्षेप में गोस्वामी जी ने कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ माने कहकर निदर्शित किया है। इस पंक्ति से स्पष्ट है कि दार्शनिकों के मत वैषम्य में जगत् असत्य, सत्य और सत्यासत्य है। तुलसी काव्य में इन सभी मान्यताओं को स्थान मिला

है। अद्वैतवादी शंकर सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या के उद्घोष से जगत् को असत्य कहते हैं। तुलसी भी असत्य मृषा असत् झूठा अविद्यमान आदि कहते हैं। इस प्रकार अद्वैत जगत्सम्बन्धी धारणा से गोस्वामी जी की विचारणा का सादृश्य स्पष्ट है। जगत् के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में तुलसी की घोषणा यह पुष्ट करती है कि जगत् के सम्बन्ध में अद्वैतवादियों की धारणा उन्हें मान्य है। जगत् को नभवाटिका धुआं कैसे धौरहर आदि कहकर तुलसी ने उसकी असत्यता प्रदर्शित की है और मृगजल जेवरी को सांप आदि के दृष्टान्तों से संसार की असत्यता को सत्यता का भ्रम ठहराया है। संसार मिथ्या है। ब्रह्म राम ही सत्य है। उन्हीं की सत्यता से यह मृदा जगत रस्सी में सर्प के भ्रम की भांति 'अमृषा इव' प्रतिभाषित होता है। यह जग राम के प्रकाश से ही प्रकाशित है। जिस प्रकार सीप में चांदी, सूर्य किरणों में जल प्रतीति ही भ्राँति मात्र है उसी प्रकार यह जगत् मिथ्या है, केवल भ्रांन्ति है। इसी को शंकर के अनुयायी अभ्यास कहते हैं। जिस प्रकार विवर्त सर्प का अस्तित्व तभी तक प्रतीत होता है जब तक अधिष्ठान रज्जु के अस्तित्व को बोध नहीं होता उसी प्रकार इस जगत् की सत्ता में तभी तक आस्था रहती है जब तक ब्रह्म राम के सत्य का ज्ञान नहीं होता। राम को जानते ही यह जग वैसे ही अनस्तित्वववान् लगने लगता है जैसे जग जाने पर सुप्तावस्था में देखे गये स्वप्न-

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।।
जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।।

रामानुजाचार्य आदि विशिष्टाद्वैतवादियों ने ब्रह्मा को चित् (चेतन जीव) और अचित् (जड़ जगत्) में व्याप्त माना है। जब चित् अचित् दोनों ब्रह्ममय है और ब्रह्म सत्य है तो जगत् की सत्यता स्वतः सिद्ध है। गोस्वामी जी ने राम को विश्वास, विश्यतन, विश्वरूप, चराचन रूप आदि कहकर यह घोषित किया है कि यह जगत् राममय है और राम जगरूप। तुलसी ने संसार विटप

नमा महे कहकर विश्वरूप राम का जो सांगोपांग रूपक प्रस्तुत किया है वह जगत् के रूप में अभिव्यक्त राम की सत्ता को प्रदर्शित करता है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान् को भुवनदुभ तथा संसार तरू कहा गया है। भागवत कार ने भी यह उल्लेख किया है कि पट मं सूत्रों की भंति समस्त विश्व भगवान् में ओत प्रोत भाव से व्याप्त है।

तुलसी ने कार्य कारण सम्बन्ध से भी जगत् की सत्यता को विभिन्न उपमानों द्वारा प्रदर्शित किया है जिस प्रकार तन्तु और तन्तु निर्मित पट, मुक्तिका निर्मित पात्र, सर्प और माला, लकड़ी ओर लकड़ी से बने हाथी, स्वर्ण और स्वण निर्मित कड़े बाजूबंद आदि आभूषण दोनों सत्य हैं, उसी प्रकार कार्यक्रम जगत् और कारणरूप राम दोनों सत्य हैं। यहां यह उल्लेख्य है कि पट, घट, माला दारू निर्मित हाथी और आभूषणादि कार्य अपने तन्त्वादि कारणों से भिन्न और कुछ नहीं है उसी प्रकार यह जगत् भी कारण सापेक्ष हे। कारण का सम्यक् ज्ञान होने पर कार्य में भी कारण की अनुभूति होने लगती है। विज्ञजन तभी तो कण कण में भगवान के दर्शन करते हैं। जगत् कारण रूप राम को जानने से संसार के नष्ट होने की बात जब गोस्वामी जी कहते है तो उनका अभिप्राय यही है कि यह सम्पूर्ण जगत् कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व न रखकर राम की अभिव्यक्ति रूप में प्रतीत होने लगता है। सीय राममय सब जग जानी ईश्वर सर्वभुतमय अहई निज प्रभु मय देखहिं जगत सातवं सम मोहि भय जग देखा हरि व्यापक सर्वत्र समाना आदि उक्तियों के द्वारा तलसी ने जगत की इसी सापेक्ष सत्यता का अनुमोदन किया है।

यहां यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि कृष्ण के विराट् रूप में अर्जुन के द्वारा दृष्ट जगत के अनुरूप राम के उदर में कौशल्या और काक भुसुडि ने जिस विश्व के दर्शन किये है वह भी राम रूप सापेक्ष होने के कारण सत्य है। तुलसी का यह जगत् प्रस्तुत उद्धारणों में दृष्टव्य है-

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रहंड।।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरी सरित सिंधु महि कानन।।

काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ।

देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति समीत जोरे कर ठाढ़ी।।

देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।

तन पुलकित मुख बयन न आवा। नयन मूंदि चरननि सिरू नावा।।

बिसमयवत देघि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी।

तथा-

उदर मांझ सुनु अंडज राया। देखेउ बहु ब्रह्मांड निकाया।।

अति विचित्र तहं लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका।।

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा।।

अगनित लाकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला।।

सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भांति सृष्टि विस्तारा।।

सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर।।

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूं न समाई।

सो सब अद्‌भुत देखेउं बरनि कवनि विधि जाईं।।

एक एक ब्रह्मांड महुं रहउं बरष सत एक।

एहि विधि देखत फिरउं मं अंडकटाह अनेक।।

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न विष्नु सिव मनु दिसित्राता।।

नर गंधर्व भूत बेताला। किनर निसिचर पसु खग व्याला।।

देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहं आनहिं भाती।।

महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहं आनहि आना।।

अंड कोश प्रति प्रति निज रूपा। देखेउं जिनस अनेक अनूपा।।

अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।।

दशरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता।

प्रति ब्रह्मांड़ राम अवतारा। देखेउं बाल विनोद अपारा।।
भिन्न भिन्न मै दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखेउं आन।।
सोई सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुिवन देखत फिरउं प्रेरित मोह समीर।।
भ्रमत मोहिं ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुं कल्पसत एका।।
फिरत फिरत निज आश्रम आयउं। तहं पुनि रहि कछु काल गवायउं।।
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउं। निर्भर प्रेम हरपि उठि घायउं।
देखउं जन्म माहेत्सव जाई। जेहि विधि प्रथम कहा मैं गाई।।
राम उदर देखेउ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना।।

"ब्रह्म सत्य है और उससे भिन्न यत्किंचित दृश्यमान है, वह असत्य है।" ऐसी उक्तियों से ब्रह्म से भिन्नता संसार की असत्यता और अभिन्नता संसार की सत्यता सिद्ध करती है अर्थात् भेदाभेद सिद्धान्त जगत् को सत्यासत्य रूप में निदर्शित करता है। जगत् और ब्रह्म में कार्य कारण सम्बन्ध की प्रतिष्ठा करने वाले नैयायिक जगत् को ब्रह्म से भिन्नाभिन्न रूप में देखते है। उनके अनुसार कार्य (जगत्) तथा कारण (ब्रह्म) दोनों का अपना स्वभाव है। घट जब कभी उत्पन्न होता है तब वह मृत्तिका में ही उत्पन्न होता है। यह घट और मृत्तिका का अपना सवभाव है। अतएव ये लोग कार्य को अपने समवायिकरण के साथ नित्य रूप में सम्बद्ध मानकर भी उससे कार्य को सर्वथा भिन्न मानते हैं अर्थात् इनके मत में कारण और कार्य का सम्बन्ध अभेद सहिष्णु अत्यन्तभेद है। गोस्वामी जी के अनुसार भी जिस प्रकार सूर्य (कारण) से धूप (कार्य) भिन्न है क्योंकि धूप सूर्य नहीं हो सकती, किन्तु वह (धूप) सूर्य से पृथक भी नहीं है, अत: अभिन्न है, उसी प्रकार जगत् (कार्य) उस ब्रह्म (कारण) से भिन्न होकर भी पृथक रूप में अस्तित्व रहित होने के कारण उस ब्रह्म से अभिन्न है। अत: जगत् और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध होने से

जुगल प्रबल कोउ माने की बात ध्वनित होती है। सब रूप सदा सब होइ न सो तथा रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा उक्तियों से जगत् के इसी भेदाभेद अथवा सत्यासत्य सिद्धान्त का अनुमोदन प्रतीत होता है।

गोस्वामी जी की विचारधारा में सत्ता के तीन रूप है- पारमार्थिक व्यवहारिक और प्रतिभासिक। राम की सत्ता पारमार्थिक है। जगत की सत्ता व्यावहारिक है। रज्जू सर्प आदि की सत्ता प्रातिभासिक है। जगत् के सम्बन्ध में तुलसी की अवधारणा यह है कि परमार्थतः ब्रह्म ही सत्य है अतः उससे भिन्न जगत् पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं है किन्तु व्यावहारिक रूप में गोस्वामी जी जगत् की सत्यता को स्वीकार करते हैं। अतः गोस्वामी जी के विचार से प्रातिभासिक सत्ता की तुलना में जगत् की व्यवहारिक सत्ता सत्य है किन्तु ब्रह्म राम की पारमार्थिक सत्ता के समक्ष जगत् की सत्ता असत्य है।

मोक्ष

मोक्ष के सम्बन्ध में दार्शनिक इस विचार से एकमत हैं कि सांसारिक दुख से अत्यन्त निवृत्त को मोक्ष कहते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार अज्ञान कल्पित कर्तुत्व भोगतृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वयप परमात्मा में स्थित होना ही मुक्ति है। अध्यात्म रामायणकार न जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का ज्ञान होने पर अविधा के परमात्मा में लीन हो जाने को मोक्ष कहा है। श्रीमद्भागवत् गीता में इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संयम और भय इच्छा एवं क्रोध के त्याग को मुक्ति का नाम दिया गया है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में अनन्य भक्ति धारा बुद्धि के आत्यन्तिक लय होने से परमात्मा के साक्षात्कार रूप के बोध को मोक्ष कहा गया है। इन दार्शनिक विचारों के साथ जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, रामानुजाचार्य परमेश्वर की प्राप्ति को जीव का परम पुरूषार्थ अथवा मोक्ष मानते हैं। गोस्वामी जी के मोक्ष सम्बन्धी विचारों में इन सभी मतों का समन्वय प्रापत है। उनके अनुसार जड़ चेतन की मृषा ग्रन्थि के छूटने देहजनित विकारों को

त्यागने जीव का आत्म स्वरूप में अनुराग होने जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को पाकर तुरियावस्था में पहुंचने और भयमूल भेद भाव के विनष्ट होने से प्राप्त आत्मानुभव के सुख को मोक्ष कहा गया है। वे कहते हैं कि जब जीव संसार का लय करके अविधा को हटाकार ब्राम्ही अवस्था में तल्लीन हो जाता है तब भेदात्मक ज्ञान के आतयन्तिक नाश हो जाने पर उसको ब्रह्मानंद की जो अनुभूति होती है वही मोक्ष है। वैष्णव आचार्यो ने अविधा कल्पित संसार से छूटकर पुरूषोत्तम के सान्निध्य को प्राप्त करने को मुक्ति कहा है। उनके मत में यह मुक्ति चार प्रकार की है सालोक्य सामीप्य सारूप्य सायुज्य। गोस्वामी जी ने प्रसंगानुसार इन सभी मुक्तियों को अपने काव्य में निदर्शित किया है। भगवान् के धाम को पाप्त कर उनका अवलोकन लाभ सालोक्य मुक्ति है। जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।। तनु तजि तात जाहु मक धामा राम बालि निज धाम पठावा। आदि में सालोक्य भक्ति का संकेत है। भगवान् के नैकट्य को प्राप्त करना सामीप्य मुक्ति है। जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।। में इस मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। भौतिक शरीर को छोड़कर भगवत्स्वरूप हो जाता अथवा भगवान् से तादात्म्य स्थापित करना सारूप्य मुक्ति है। जटायु ऐसी ही मुक्ति का अधिकारी हुआ-

''गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।।''

जीव का ईश्वर के विग्रह से युक्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है। सायुज्य मुक्ति का स्पष्टत: उल्लेख तुलसी ने लंकाकांड में किया है। रामेश्वर का दर्शन करने वाले तो सालोक्य मुक्ति प्राप्त करते है परन्तु गंगाजल लाकर रामेश्वर पर चढ़ाने वाले सयुज्य मुक्ति पाते हैं एंसी घोषणा तुलसी ने राम के श्रीमुख से कराई है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन रूप में गोस्वामी जी ने भक्ति, उपासना, पूजा, ज्ञान, विवेक, विज्ञान, ध्यान, योग, वैराग्य,

शाम-दम-नियम-जप-तप-व्रत, तीर्थस्नान, यज्ञ, दया, दान, धर्म-कर्म, द्विज-देव-गुरू-संत-सेवा, निगमागम पुराण पाठ आदि को विभिन्न प्रसंगों में भवजन्य क्लेश से मुक्ति का साधन बताया है। उन्होंने परम्परा से प्राप्त मोक्ष साधनों में किसी का खंडन-मंडन न करके सभी को रामभक्ति में अन्तर्भूत कर दिया। तुलसी की भक्ति पद्धति में ज्ञान कर्म और उपासना का सम्यक् सम्न्वय हुआ है। इस ज्ञान कर्म एवं उपासना समन्वित तुलसी की भक्ति धारा में अवगाहन करने वाला सांसारिक क्लेशों से मुक्ति पाता है। तभी तो राम भक्ति सुरसीर में ब्रह्म विचार (ज्ञान) के प्रचार की सरस्वती तथा 'विधि निषेध भय कलिमल हरनी' कर्म कथा रवि नन्दिनी के संगम से प्रदुर्भूत त्रिवेणी में निमज्जनकर्ता के क्लेशों के शमन की उद्घोषणा गोस्वामी जी करते हैं। मुक्ति के उक्त सभी साधनों में तुलसी ने भक्ति को श्रेष्ठतम कहकर इसे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है क्योंकि उपर्युक्त मुक्ति के सभी साधन गोस्वामी जी की भक्ति पद्धति में समाहित हो जाते हैं। उक्त साधनों में विवेक वैराग्य एवं विज्ञानादि का समावेश ज्ञान में, उपासना, अनुराग, अर्चना, पूजा आदि का अंतर्भाव भक्ति (उपासना) में तथा जप, तप, यम, नियम, तीर्थाटन, व्रत, उपवास, दान, दया आदि का समाहार कर्म में देखा जा सकता है। अतः मोक्ष साधन रूप में तुलसी एक मात्र भक्ति की प्रतिष्ठा ही पर्याप्त मानते हैं। कहीं कही तो भक्ति अपने साध्य (मोक्ष) से भी महत्तर स्थान को प्राप्त करती है और इस गौरवशालिनी तथा मोक्ष से भी अधिक गरीयसी भक्ति को अपनाने में भक्त मोक्ष ही क्या धर्म अर्थ काम एवं सुमति, संपत्ति, ऋद्धि, सिद्धि, यश आदि सभी का त्याग और तिरस्कार करने में संकोच नहीं करता। भेद भक्ति में सायुज्य मुक्ति असम्भव है और भक्त को भेद भक्ति ही ग्राह्य है। भेद भक्ति में तो भगवान् के प्रति स्वामी या सेव्य भाव रहता है। सेवक स्वामी भाव तभी हो सकता है जब सेवक प्रभु से अलग रहे। सेवक सेव्य भाव से निरन्तर प्रभु की सेवा, उपासना भेद भक्ति है। गोस्वामी जी इसे

सायुज्य मुक्ति से श्रेष्ठ बताते है। भेद भक्ति में मन लगाने वाले दशरथ को मोक्ष नहीं हुआ। उन्हें मुक्ति की कामना ही कहां थी? उन्हें तो प्रभु चरणों में निरन्तर प्रीति ही अभीष्ट थी। मुनि शरभंग भी भेदभक्ति के महत्व को सम्यक् रूप से जानते थे। अतः योगाग्नि में शरीर को भस्म करने से पहले ही उन्होंने राम से भेद भक्ति का वर मांग लिया था। काकभुसुंडि जी ने भी गरूड़ जी से यह स्पष्ट कहा कि हरि भजन से भेद भक्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार से सगुणोपासना करने वाले भेद भक्ति को मुक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व देते हैं।

संक्षेप में तुलसी का दर्शन वेदान्त के अनुरूप गोस्वामी जी ने उनमें रागग्राण, पुराण, उपनिषद्, गीता आदि के विचारों का यथानुकूल समावेश किया। एवं उसे युगानुरूप बनाया हैं इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि ''परमार्थ की दृष्टि से शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति क व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।''

भक्ति और धर्म सम्बन्धी विचार-

भारतीय संस्कृति अनादि काल से धर्मभावना से अनुप्राणित है। जीवन और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय ऋषियों ने धर्म को नियामक तत्व के रूप में ग्रहण किया है। धर्म का भाावत्मक रूप भक्ति है। भक्ति एक ऐसा सरल और सहज मार्ग है जिसको अपनाकर व्यक्ति अपने भावों को प्रभु के प्रति समर्पित करता है और आनंद तथा शान्ति की प्राप्ति करता है। भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में भक्ति भावना, अपनी सहजता और सुलभता के कारण लोक जीवन का आश्रय ग्रहण करती हुई अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा कर सकी है और अपनी सरसता से सम्पूर्ण भारत भूमि को उत्कृष्ट भावों से आप्लावित करती रही है। धर्म और उसके भावात्मक रूप भक्ति का बहुत

कुछ समन्वय सृस्कृति से है। अतः आगे के स्तम्भों में गोस्वामी जी के काव्य में भक्ति और धर्म सम्बन्धी विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

भक्ति

भक्ति शब्द भज् धातु में क्तिन प्रत्यय के योग से निर्मित हुआ है। इसका अर्थ है ईश्वर परायण होना अथवा भगवान् की सेवा करना। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर में परानुरक्ति को भक्ति कहते हैं। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो अनुराग की प्रबलता होनी चाहिए और दूसरे उस प्रबल अनुराग का समर्पण परमात्मा के प्रति होना चाहिए तभी वह भक्ति की संज्ञा से अभिहित होगा। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को भगवान के प्रति परम रूपा और अमृत रूपा कहा गया है। इस अमृत रूपा भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध, अमृत तथा तृप्त हो जाता है। विष्णुपुराण में भगवान के प्रति उस आसक्तिपूर्ण प्रीति को भक्ति कहा गया है जो विषयों के प्रति अविवेकी जनों की आसक्तिपूर्ण प्रीति के तुल्य है। श्रीमद्भागवत में वेदविहित कर्म में लगे हुए जनों की भगवान के प्रति अनन्यभावपूर्वक स्वाभाविक सात्विक प्रवृत्ति को भक्ति की संज्ञा दी गई है। पुनः भगवान के गुण श्रवण मात्र से प्रदुर्भूत उन्हीं के प्रति अविच्छिन्न मनोगति को भक्ति कहा गया है। डा0 हरिकृष्ण अवस्थी ने आलंबन के महत्व के आलोक में अपने लघुत्व की एकान्त अनुभूति को भक्ति का मूल तत्व स्वीकार किया है। गोस्वामी जी ने भक्ति केअर्थ में अनुराग प्रीति, प्रेम, रति, स्नेह का प्रयोग किया है किन्तु ये भक्ति की श्रेणी में तभी स्वीकार किये जा सकते है जब इनका आलंबन लौकिक व्यक्ति या वस्तु न होकर ईश्वर (राम) हो। गोस्वामी जी ने उपर्युक्त सभी भक्त्याचार्यो (सन्तों) के मतों की दुहाई देकर उनके मतों के सार रूप में भक्ति की रीति को इस प्रकार व्यक्त किया है।

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी सन्तन के मते इहै भगति की रीति।।

भक्ति के विविध रूप

आराध्य के स्वरूप भेद से भक्ति दो प्रकार की मानी गई है- निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। तुलसी के राम सगुण-निर्गुण रूप हैं। अत: उनकी भक्ति ही उक्त दो प्रकारों की है पिछले पृष्ठों में तुलसी के ब्रह्मा निरूपण के सम्बन्ध में उसकी चर्चा की जा चुकी है यहां इतना और उल्लेख आवश्यक है कि सगुणोपासक भगवान् के निर्गुण रूप की अपेक्षा उनके सगुण रूप को तुलसी दास जी अधिक महत्व देते है अत: निर्गुणोपासना की अपेक्षा सगुणोपासना को श्रेष्ठतर स्वीकार करना वैष्णव भक्तों की प्रकृति है। तुलसी ने सगुण भक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया है-

अन्तरजामिहुतैं बड़े बाहेरजामि है राम, जै नाम लियेतै।
धावत धेनु पेन्हाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तै।।
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तैं।
पैज परै प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तैं, न हिये तैं।।

साधन और साध्य की दृष्टि से भी भक्ति के दो रूप किये गये हैं- साध्य रूपा और साधन रूपा। इन्हीं दोनों को क्रमशः मुख्या और गौणी भक्ति भी कहा गया है। भक्ति की सिद्धि जगविहित या अविहित साधनों द्वारा होती है अथवा जब बिना किसी संलक्ष्य साधन के ही भगवान् के प्रसाद मात्र से परम भक्ति की प्राप्ति होती है तब इसे साक्ष्य रूपा भक्ति कहते हैं। इसी को प्रेमाभक्ति भी कहा जाता है। नारद ने इसी साध्य रूपा प्रेमा भक्ति की ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया है। तुलसी काव्य में इन सभी आसक्तियों को न्यूनाधिक रूप में कहा जा सकता है।

गुणमहात्म्यासक्ति-

भगवान् या आराध्य के गुणों का गान करके या सुनकर जिस आनंद की अनुभूति होती है, उसे गुणमहात्म्यासक्ति कहते हैं। तुलसी काव्य में अनेक भक्त इस आसक्ति का अनुभव करते हैं

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद् गिरा नयन बह नीरा।।
जो नहिं करई राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरपाती।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चाथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।

रूपासक्ति-

प्रभु के रूप को देखकर निरन्तर देखते रहने में जो तन्मयता है, वही रूपासक्ति है। राम को देखकर न केवल सामान्य भक्त अपितु कारण विशेष से द्वेष रखने वाले शत्रु और हिसक जन्तु भी मुग्ध हो जाते हैं-

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई।।
जिन्हहिं निरखि मग सांपिनी बीछी। तजहिं विषम विषु तामस तीछी।।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहि दरस जलधर अभिलाषे।।
इन्हहि विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।।

पूजासक्ति-

नित्य अपार प्रीति के साथ भगवान की पूजा करने और करते हरने का भाव पूजासक्ति है। तलसी काव्य में ऐसे भक्तों की कमी नहीं है-

नित पूजत प्रभु पांवरी प्रीति न हृदयु समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति।।
सीस नवहि सुर गुरू द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेषी।।
कर नित करहि राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा।।
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरू मागा।।
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर वचन तब बोलेउ कागा।।

स्मरणसक्ति

राम का स्मरण करते ही पुलकित हो उठना, रोमांच हो आना तथा प्रेमाश्रु प्रवाह स्मरणसक्ति है। गोस्वामी जी ने ऐसे भक्तों की इस दशा का भी यथा स्थान उल्लेख किया है-

हिय फाटहुं फूटहुं नयन जरउ सो तन कहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम।।
सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं।
होत सुगम भव उदधि अगम अति, कोउ लांघत, कोउ उतरत थाहैं।।
राम विलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हसि मिलनी।।
निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू।।
जाहु भवन मम सुमिरन करेहु। मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहू।।

दास्यासक्ति

भगवान् को स्वामी अथवा सेव्य और अपने को दास अथवा सेवक मानकर प्रीति का जो तीव्र भाव भक्त के हृदय में उपस्थित होता है, वह दास्यासक्ति है-

करम वचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कैं उर डेरा।।
जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न नास तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउं कहेउं नहिं, जद्यपि अन्तरजामी।।
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि।।

सख्यासक्ति

ईश्वर को सखा मानकर की गई प्रीति सख्यासक्ति कही जायेगी। तुलसी काव्य में यद्यपि इस आसक्ति का प्रचुरता के साथ प्रयोग नहीं मिलता तथापि इसका पूर्ण अभाव भी नहीं है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है-

सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात।

तन पुलकहिं अति हरषु हियं देखि देखि दोउ भ्रात।।

सिसु सब राम प्रेम बस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने।।

निज निज रूचि सब लेहि बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाइ।।

कान्तासक्ति

भगवान् को कान्त (पति) मानकर उनके प्रति भक्त का लगाव कान्तासक्ति है। कृष्ण-गीतावली की गोपियों में इस आसक्ति के दर्शन होते हैं। इसके अतिरक्ति कवितावली की ग्राम वधूटियों में भी यह आसक्ति दृष्टव्य हैं-

धरि धीर कहैं, चलु देखिअ जाइ, जहां सजनी रजनी रहिहैं।

कहि हैजगु पांच, न सोच कछू, फलु लोचन आपन तौ लहिहैं।।

सुखु पाई हैं कान सुनें बतियां कल, आपुस में कछु पै कहिहैं।

''तुलसी अति प्रेम लगी पलकें, लखि रामु हिये महि हैं।।

वात्सल्यासक्ति

भगवान को पुत्र बालक या शिष्य मानकर उनसे की गई प्रीति वात्सल्यसक्ति कही जायेगी। तपस्या करते हुए मनु सतरूपा की अभिलाषा और वरदान प्राप्त की कामना में इस वात्सल्यासक्ति के दर्शन होते हैं-

सुत विषइक तब पद होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।।

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना।।

आत्मनिवेदानासक्ति

जहां पर भक्त प्रभु के समक्ष आत्म सर्वस्व निछावर करके ही सुख प्राप्त करता है वहाँ ऐसी आसक्ति के दर्शन होते हैं-

ताहि ते आयो सरन सबेरे।

ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे।।

लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे।

तिनहि मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरे।।

दोष निलय यह विषय सोक प्रद कहत सत सुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहां अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे।।
विष पियुष सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु बिनु बेरे।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौ हेरे।।
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघबीर भरोसे तेरे।
तुलसिदास यह बिपति बांगुरो तुमहि सो बनै निबेरे।।

तन्मयासक्ति

प्रभु के दर्शन, श्रवण अथवा गुणकथन आदि से भाव विभोर होकर जब भक्त अपने को भूल जाता है, तब उसमें इस आसक्ति के दर्शन होते हैं। राम के दर्शन करके भक्त सुतीक्ष्ण में इस आसक्ति का अवलोकन किया जा सकता है-

दिसि अरू विदिसि पंथ नहिं सूझा। को मै चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।।
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।

परमविरहासक्ति

प्रभु के दर्शन करने की उत्सुकता तथा दर्शन कर पाने के कारण एक एक क्षण अत्यन्त विह्वलता के साथ व्यतीत करने वाले भक्त की ऐसी ही दशा होती है। भगवत् दर्शन के लालायित गोस्वामी जी जैसे भक्तों मं यह आसक्ति दृष्टव्य है

कबहिं देखाइहौ हरि, चरन?
समन सकल कलेस कलिमल, सकल मंगल करन।।
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन।
''दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन।।

साधन रूपा भक्ति

साध्या भक्ति के साधनों को साधन रूपा भक्ति कहा जाता है, इसके दो रूप है वैधी तथा रामानुगा। भागवत् में शास्त्र के आदेशानुसार भक्ति

भाव की उत्पत्ति से पूर्व जो प्रकृति होती है वह वैधी भक्ति है। नवधा वैधी चर्चा आगे प्रसगानुसार की जायेगी। आराध्य विषयक प्रेममयी तृष्णा के द्वारा उत्पन्न परम प्रम रूपा भक्ति का साधन यह रागानुगा भक्ति है, यह भी दो प्रकार की होती है- काम रूपा और सम्बन्ध रूपा। कृष्ण गीतावली की गोपियों की भक्ति काम रूपा हे तथा दशरथ कौसल्या, भरत आदि की भक्ति सम्बन्ध रूपा है।

नवधा भक्ति

श्रीमद्‌भागवत में श्रवण, कीर्तन,स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन को नवधा भक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। डा0 उदयभान सिंह ने इन नौ प्रकार की भक्तियों को तीन वर्गों में विभक्त किया है क श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ख- पाद सेवन, अर्चन, वंदन ग-दास्य,सख्य, आत्म निवेदन। इनमें उन्होंने प्रथम वर्ग में आराध्य के नाम की दूसरे में रूप की और तीसरे में भक्त के भाव की प्रधानता को स्वीकार किया है। तुलसी काव्य में इस नवधा भक्ति का ''श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाही'' के अतिरिक्त भक्ति के उक्त प्रकारों की सूची को उपस्थित नहीं किया है किन्तु तुलसी काव्य विविध प्रसंगों में तुलसी ने इनका व्यवहार अवश्य किया है।

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि।। में श्रवण, कीर्तन और स्मरण, 'कर नित करहि राम पद पूजा' में पद सेवन, 'तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मन्दिर चली' में अर्जन 'बंदउ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय सिन्न' 'बंदउ नाम राम रघुबर को' आदि में बंदन तुलसी सरनाम गुलामु हौ राम को में 'दास्य परम पुनीत संत कोमल चित तिनहिं बनि आई। तौ कत विप्र व्याध गनिकहिं तारेहु कहु रही सगाई' में सख्य तथा तू गरीब को निवाज हौं गरीब तेरो। बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो में आत्म निवेदन के दर्शन होते है।

गोस्वामी जी ने भागवत की इस विख्यात नवधा भक्ति के अतिरिक्त अध्यात्म रामायण की अनुवर्तिनी नवधा भक्ति की चर्चा मानस में राम के

पूजासक्ति

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।।
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन घरहीं।।
सीस नवहिं सुर गुरू द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेषी।।
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयं नहिं दूजा।।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।।

नामासक्ति

मंत्र राजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।।
तर्पन होम करहि विधि नाना। विप्र जेवांइ देहिं बहु दाना।।
तुम्ह ते अधिक गुरहि जियं जानी। सकल भायं सेवहिं सनमानी।।
सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मन्दिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ।।

ज्ञानवृत्ति

काम कोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।।
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया।।

भगवदलम्बवृत्ति

सबके प्रिय सब हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।।
कहहिं सत्य प्रिय वचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी।।
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माही।।

संतवृत्ति

जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव विष तें विष भारी।।
जे हरषहिं पर संपत्ति देखी। दुखित होहिं पर विपति बिसेषी।।
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।।

सर्वस्वभाव

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।

तितिक्षावृत्ति

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं।।
नीति निपुन जिन्ह कई जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका।

कार्पण्यवृत्ति

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भंति तुम्हार भरोसा।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित वैदेही।।

मुख से शबरी प्रसग में कराई है, जो इस प्रकार है-

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगाा।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।।
सातवं सम मोहि भय जग देखा। मौतें संत अधिक कर लेखा।।
आठवं जथालाभ संतोषा। सपनेहुं नहिं देखइ पर दोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियं हरण न दीना।।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने सत्संग भगवत्कथा में रति गुरू-भक्ति, कीर्तन , जप भजन, संतवृत्ति, अनन्य भक्ति, संतोषवृत्ति, भगवदलंब को नवधा भक्ति के रूप में निरूपित किया है। इसके अतिरिक्त मानस में गोस्वामी जी ने वाल्मीकि के मुख से राम के निवास योग्य जिन चौदह स्थानों का उल्लेख किया है, वे भक्ति के चौदह साधन या चौदह प्रकार की भक्तियां हैं। रामदास गौड़ के अनुसार भागवत की नवधा भक्ति और अध्यात्मरामायण के अनुसार मानस में निदर्शित शबरी के प्रति प्रतिपादित नवधा भक्ति का योग

कहा गया है। भागवत् की नवधा भक्ति के श्रवण, कीर्तन, स्मरण और दास्य का अर्न्तभाव शबरी के प्रति उपदिष्ट नवधा भक्ति के क्रमशः कथा में रति, कीर्तन, जप, भजन तथा अनन्य वृत्ति में हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्भूत को जोड़ने से चौदह प्रकार की भक्ति-श्रवण, रूपासक्ति, कीर्तन, पूजासक्ति, नामासक्ति, ज्ञानवृत्ति, भगवदलबवृत्ति, संतवृत्ति, सर्वस्वभाव, तितिक्षावृत्ति, कर्पण्यवृत्ति, वैराग्यवृत्ति और शुद्ध प्रेमा भक्ति प्राप्त होती है। मानस के अयोध्याकांड में वाल्मीकि के द्वारा राम के निवासार्थ निर्दिष्ट चौदह स्थानों में भक्ति के उपर्युक्त सभी साधन अथवा प्रकार दृष्टव्य हैं-

श्रवण

जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।

भरहिं निरंतर होंहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहूँ गृह रूरे।।

रूपाशक्ति

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।

निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होंहिं सुखारी।।

तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।।

कीर्तन

जसु तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु

मुकुताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियं तासु।।

वैराग्यवृत्ति

जाति पांति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।

सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई। तेहिके हृदय रहहु रघुराई।।

अनन्यवृत्ति

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहं तहं देख घरे धनु बाना।।

करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा।।

शुद्ध प्रेमाभक्ति

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरतर तासु मन सो राउर निज गेहु।।

इन उपर्युक्त चौदह प्रकार के भक्ति साधनों के आधार पर डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र ने चौदह प्रकार के भक्तों की भी निदर्शना की है। उनके अनुसार चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान् ने जब चौदह वर्षो तक बन में निवास करना अंगीकार किया तब उनके पूछने पर वाल्मीकि जी ने पहिले चौदह प्रकार के भक्त हृदय रूपी भवन ही दिखाये हैं फिर कहीं चित्रकूट की चर्चा की है। इसलिए रस प्रकरण में चौदह प्रकार के भक्तों ही की चर्चा है जो इस भाँति है- (1) श्रवणानन्दी (2) दर्शनानन्दी (3) भजनानन्दी (4) सेवानन्दी (5) गुरू भक्ति पूर्वक जपासक्त जीव (6) निर्विकार (7) अनन्य शरणागतिवान् सन्त (8) कामिनी कांचन में अनासक्त सन्त (9)भगवान् को ही सब कुछ समझने वाले (10) परहित व्रती (11) विनय विश्वासी सेवक (12) ऐश्वर्य त्यागी भक्त (13) मुक्ति के लिए भी अलोलुप सेवक (14) निरीह सहज स्नेही।

भक्ति साधनों का उल्लेख गोस्वामी जी ने लक्ष्मण के आग्रह कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया पर राम के मुख से भी कराया है, जो इस प्रकार है-

भगति कि साधन कहउं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।।
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत त्रुति रीती।।
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माहीं।।
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।।
गुरू पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहं जाने दृढ़ सेवा।।
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।।

काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरन्तर बस में ताकें।।

वचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुं करउ सदा विश्रास।।

इसमें विप्र सेवा, श्रवणादि नवधा भक्ति, सन्त सेवा, ईश्वर को सर्वस्व मानना, भगवान् के स्मरण तथा गुणगान से पुलकित होना, काम क्रोधादि का त्याग तथा अनन्यता को भक्ति साधन रूप में निरूपित किया गया है। हम समग्र साधनों की भक्ति सरोवर की तह तक पहुंचने वाले सप्त सोपान अथवा भक्ति की सात भूमिकाएं कहा गया है।

ज्ञान और वैराग्य

माया ईश्वर और जीव को जानना ही अज्ञान है और इसका विलोम ज्ञान। इन्द्रियों के अर्थो में अलंकार रहित होकर जन्म, मरण, जरा, व्याधि दुःखादि का दर्शन न करके मन में विषय भोगों की कामना न होने देना वैराग्य है सिद्धियों एवं तीन गुणों का त्याग परम वैराग्य होता है। वैराग्य के उदित होने पर जीव धर्म मार्ग में जाग्रत माना जाता है। गोस्वामी जी ने ज्ञान और विरक्ति को भवबन्धन से छूटने का बहुत बड़ा साधन माना है। गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के जानने को ज्ञान कहा गया है। क्षेत्र का अर्थ है शरीर और क्षेत्रज्ञ का अर्थ है आत्मा। अध्यात्म रामायण में बुद्धि, प्राण, मन, देह और अहंकारादि से विलक्षण नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चेतन आत्मा को जान लेना ही ज्ञान कहा गया है। गोस्वामी जी का विश्वास है कि जिसको राम का ज्ञान न हुआ उसका सारा ज्ञान ही व्यर्थ है। तुलसीदास जी इस तथ्य को घोषणा के साथ प्रस्तुत करते हैं कि बिना विवेक के संसार सागर को कोई पार नहीं पा सकता–

''तुलसिदास हरि गुरू करूना बिनु विमल विवेक न होई।

बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।।''

तुलसी ने ज्ञान को परम पद कैवल्य का साधक कहा है, भव संभव खेद को दूर करने वाला माना है तथा मोक्ष प्रद स्वीकार किया है।

विवेक और वैराग्य को गोस्वामी जी ने भव बन्ध मुक्ति के लिए आवश्यक बताया है। वैराग्य से ज्ञान की सिद्धि होती है, अतः ज्ञान के लिए वैराग्य अनिवार्य है। वैराग्य रहित ज्ञान को गोस्वामी जी ने ब्यर्थ कहा है। मोक्ष के स्वतंत्र साधन (भक्ति) के साथ तुलसी ने अनेकों बार ज्ञान और वैराग्य के महत्व का उल्लेख किया है-

ब्रह्म निरूपन धरम विधि बरनहि तत्व विभाग।
कहहिं भगति भगवत के संजुत ग्यान विराग।।

मोरे जियं भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।

गोस्वामी जी ने गुरू वन्दना करके यह निरूपित किया है कि गुरू चरणों की धूलि भव रोग समष्टि के लिए संजीवनी मूल का चूर्ण है, कल्याण और आनंद की जननी है, भक्तों के मन दर्पण के मल को दूर करने वाली और मस्तक पर धारण करने से गुण समूह को वश में करने वाली है-

बन्दउं गुरू पद पदुम परागा। सुरूचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिअ मूरिमम चूरन चारू। समन सकल भव रूज परिवारू।।
सुकृति संभु तन विमल विभूति। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएं तिलक गुन गन बस करनी।।

वास्तव में गुरू को धर्म शास्त्रों में भी महत्तम स्थान प्रदान किया गया है। गुरू को अज्ञान रूपी अन्धकार का परिहार कर्ता कहा गया है, तभी तो मानस के प्रारम्भ मं मंगलाचरण में गोस्वामी जीं गुरू की वन्दना करते हुए कहते हैं-

बन्दउं गुरू पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तमपुंज जासु वचन रवि कर निकर।।

मुण्डकोपनिषद् में ज्ञान प्राप्ति के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय भाव सहित गुरू की शरण में जाने का उपदेश मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो गुरू को वही स्थान दिया गया है जो परमात्मा को-

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता हार्था: प्रकाशन्त महात्मन:।।

गोस्वामी जी ने गुरू को ईश्वर से भी अधिक महत्ता प्रदान की है और राम के समक्ष वाल्मीकि के मुख से यह स्पष्ट करा दिया है कि राम से अधिक गुरू को सम्मान देने वाले भक्त का हृदय भगवान के निवास योग्य है-

तुम्ह तें अधिक गुरहिं जियं जानी। सकल भयं सेवहिं सनमानी।।

विधाता के क्रुद्ध हो जाने पर भी गुरू व्यक्ति की रक्षा कर सकता है, किन्तु गुरू के प्रतिकूल हो जाने पर संसार में काई रक्षक नहीं है-

राखइ गुरू जो कोप विधाता। गुरू विरोध नहिं कोउ जग त्राता।।

गुरू से ईर्ष्या करने वाले के लिए गोस्वामी जी ने रौरव नरक को ही गन्तव्य स्थान ठहराया है-

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं।।

सत्संगति

गोस्वामी जी मूलत: भक्त है। भक्ति को सभी सुखों की खानि कहने वाले तुलसी यह मानते है कि सत्संग के बिना प्राणियों को भक्ति की प्राप्ति असम्भव है क्योंकि जब तक सत्संग नहीं होगा तब तक सत्संग नहीं होगा तब तक भगवत चर्चा असम्भव है और भगवत चर्चा के अभाव में माह का नाश नहीं हो सकता।

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस विचारि।।
भक्ति विराग ग्यान साधन कहि बहु विधि डहंकत लोक फिरौ।।

सिव सरबस सुखधाम नाम तव, बंचि नरक पद उदर भरौं।।
ग्यान विराग भगति साधन कछु मपनेहुं नाथ न मेरे।।
सुगुन ग्यान विराग भगति सुसाधननि की पांति।
भजे विकल विलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति।।

भक्ति और ज्ञान वैराग्य के साथ सत्यपालन गुरू महिमा सत्संगति देवोपासना एवं देव्युपासना, तीर्थाटन, व्रत, उपवास, दान,यज्ञ, श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों का भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व है। अतः यहां पर इनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

सत्य पालन

धार्मिक ग्रन्थों में सत्य को धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्तम्भ स्वीकार किया गया है। उपनिषदों ने सत्यमेव जयति नानृतं कह कर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग का धर्म बताया है। महर्षि वाल्मीकि ने तो सत्य को इतना महत्व दिया कि उसको परम धर्म मानत हुए परब्रह्म का पर्याय कहा है। गोस्वामी जी भी सत्य के प्रति निष्ठावान हैं। वे सत्य को सब पुण्यों का मूल मानते हैं। सुमंत्र के प्रति राम के उपदेश में गोस्वामी जी की सत्य सम्बन्धिनी मान्यता दृष्टव्य है-

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहै धरम हित कोटि कलेसा।।
रति देव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना।।
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।

सत्य प्रतिज्ञ दशरथ तो प्राण त्याग कर भी सत्य के ग्रहण को श्रेष्ठ मानते हैं-

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुं पर वचन न जाई।।

गोस्वामी जी ने जहां सत्य को समस्त पुण्यों का मूल एवं श्रेष्ठतमधर्म कहा है वहीं असत्य को सबसे बड़ा पाप घोषित किया है-

नाहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरी सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।

गुरू महिमा

भारतीय संस्कृति में जहां ज्ञान को उच्च स्थान प्रदान किया गया, वहीं ज्ञान दाता गुरू को आदर के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया गया है। पहले कहा जा चुका है कि वैराग्य के बिना ज्ञान कीप्राप्ति नहीं होती। गोस्वामी जी की मान्यता है कि गुरू के बिना ज्ञान असम्भव है। मानस के प्रारम्भ में ही नाश नहीं होगा तब तक सांसारिकता से विरक्ति और भागवत् चरणों में अनुरक्ति नहीं होगी। अतः अनुपम सुख देने वाली भक्ति का प्रादुर्भाव सन्तों के दर्शन और प्रसाद से होता है। मोह और संशय के नाश के लिए एक लम्बी अवधि तक सत्संग की अनिवार्यता पर तुलसी ने बल दिया है। तुलसी के मानस का अवगाहन करने में क्षमता की प्राप्ति हेतु मन लगाकर सत्संग करने का निर्देश तुलसी काव्य में मिलता है। सत्संगति के प्रभाव स्वरूप व्यक्ति में सद्यः परिवर्तन हो जाता है, कौवे कोयल और बगुले हंस का गुण और रूप प्राप्त करते हैं। सूत्र रूप में गोस्वामी जी ने सत्संग के महत्व की निदर्शना इस प्रकार की है-

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना।।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहि पाई।।
सो जानव सत संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।।
बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई।।

देवोपासना एवं देव्युपासना-

भक्ति का आधार आराध्य और उसके विविध रूपों की कल्पना भी भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। ऋग्वेदादि में जिन देवताओं की कल्पना की गई तथा जिस भक्ति की प्रतिष्ठा हुई वे देव अनिष्टकारक और भक्ति भय प्ररित थी। ऋग्वेदादि उपासना पद्धति भय प्रेरित थी जिसके द्वारा

समाज नैसर्गिक शक्तियों के कोपनिवाराणार्थ तथा आत्म कलयाण हेतु प्रार्थनाएं किया करता था, फलतः उसमें वाह्योचार का आग्रह है, भक्ति के मूर्त रूप नहीं । इस युग में वरूण, इन्द्र रूद्र और मरूत जैसी प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व प्रदान किया गया था। संहिताओं में आराध्य के विविध रूप और भक्ति की विविध पद्धतियों के दर्शन होते है, इस युग में अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वरूण, वायु प्रभृति प्रत्यक्ष देव परक स्तुतियां ही की जाती थी साथ ही ये देवगण सर्वशक्तिमान सृष्टि के आदि कारण एवं परब्रह्म के ही अभिन्न अंग समझे जाते थे। संहिता युग में विष्णु के विशिष्ट महत्व की स्थापना न हो सकी, वे एक सामान्य देव मात्र थे। प्रारम्भिक युग में सर्वाधिक गरिमा इन्द्र को प्राप्त हुई और विष्णु को उपेन्द्र के नाम से अभिहित किया गया।

अग्नि की स्तुति में परमेश्वर के महन्महत्व का उद्घाटन तथा सविता की स्तुति में उसकी भक्त वत्सलता और प्रपत्ति का वर्णन भक्ति की भाव भूमि पर हुआ है।

संहिता में विविध देवों के अनेकत्व में एकत्व का प्रतिपादन करके उन्हें ईश्वर के सतृत्व के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। ब्राम्हण युग में विष्णु का सर्वोच्च स्थान दिया गया और उपनिषदों में विष्णु के विविध अवतारों का भी रहस्योद्घाटन हुआ। पुराण साहित्य में लोक कल्याण की भावना को प्राधान्य देते हुए आधिभौतिक पंच तत्वों के अनुसार परमात्मा के पांच रूपों सूर्य, गणेश देवी शंकर और विषणु का उल्लेख किया गया है। महाभारत में कृष्ण के विविध नामों का उल्लेख हुआ जिसमें विष्णु, नारायण वासुदेवादि को प्रमुखता दी गयी वाल्मीकी रामायण में राम की आराधना पर बल दिया गया क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु महेशादि त्रिदेवों की कल्पना की गयी और इनकी शक्तियों के रूप में सरस्वती दुर्गा पार्वती सीता राधा आदि को भी देवत्व प्रदान किया गया। यहां यह उल्लेख्य है कि प्राकृतिक शक्तियों को देव रूप में अपनाने वाले भारतीयों ने पर्वतों सरिताओं और वनस्पतियों का भी देवत्व प्रदान किया

था। तुलसीकाव्य में इन विविध देवों एवं देवियों की उपासना प्रसंगानुसार हुई है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए गणेश स्तुति भारतीय संस्कृति का अंग सी बन गयी है। यही नहीं श्री गणेश कार्य के प्रारम्भ का पर्याय हो गया है विनय पत्रिका का प्रारम्भ गणेश स्तुति से करके गोस्वामी जी ने उक्त सांस्कृतिक अवधारणा की पुष्टि की है। मानस के मंगलाचरण में भी वाणी विनायक की वन्दना की गई है।

मांगलिक कृत्यों के प्ररम्भ में गौरी गणेश वन्दना भी तुलसी काव्य में अनेक सथलों पर की गयी है, जिसकी चर्चा प्रस्तुत प्रबन्ध के पंचम अध्याय में की जा चुकी है। विनय पत्रिका में गणेश के साथ सूर्य, शिव, देवी, गंगा, यमुना, हनुमान, सीता आदि की स्तुतिया राम की स्तुति से पूर्व ही की गई है। मानस मं भी जगजननि जानकी तथा गिरिवर राज किसोरी पार्वती को गोस्वामीजी ने अराध्य स्वीकार किया है। राम भगति चर्चा जिसे सुख है ऐसी सरस्वती का उल्लेख मानस में अनेक स्थलों पर हुआ है। गोस्वामी जी ने आदि शक्ति सीता को अंश रूप अगणित लक्ष्मी पार्वती और ब्रह्माणी का अंशीत्व प्रदान करते हुए उन्हें उद्‌भव स्थिति संहारकारिणी राम बल्लभा रूप में वन्द्य कहा है।

पुराण साहित्य की पंच देवोपासना को भी तुलसी ने मान्यता प्रदान की है। चित्रकूट प्रसंग में राम के राज्याभिषेक की कामना करने वाले अवधपुर वासी पंच देवापासना करते हैं और राम के राज्यभिषेक्क तथा भरत के युवाराजत्व के लिए आंचल पसार कर विनती करते हैं-

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरी तिपुरारि तमारी।।
रामरमन पद बंदि बहोरी। विनवहिं अंजुलि अंचल जोरी।।
राजारामु जानकी रानी। आनन्द अवधि अवध रजधानी।।
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहिं रामु करहुं जुबराजा।।

देवी देवासना के लोक पक्ष का भी किंचित अवलोकन आवश्यक है। धनुष यज्ञ प्रसंग में समस्त जनकपुरवासी देवताओं, पितरों और गणेश की वन्दना करते हैं तथा अपने पुण्य के प्रभावस्वरूप राम के द्वारा धनुषभंग की अकांक्षा करते हैं-

वंदि पितर सुर सुकृत संभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।।
तौ सिवधनु मृनाल की नाई। तोरहु रामु गनेस गोसाई।।

इसी प्रसग में व्यथित हृदया सीता गणेश महेश भवानी का तो स्मरण करती ही हैं साथ ही न जाने कितने देवी देवताओं की विनती भी करती हैं-

तब रामहिं बिलोकि वैदेही। समय हृदयं वनवति जेहि तेहि।।
मन ही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी।।
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हितु हरहु चाप गरूआई।।
गननायक वरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउ तुअ सेवा।।
बार बार विनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरूता अति थोरी।।

राम के अभिषेक का समाचार सुनकर आनंद से परिपूर्ण माता कौसल्या भी ग्राम देवियों देवताओं और नागों की पूजा करती हैं तथा कार्य की सिद्धि होने पर मनौती चढ़ाने का वचन देती हैं-

पूजीं ग्राम देवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलि भागा।।
जेहि विधि होई राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू।।

तीर्थाटन

तीर्थाटन भी मुख्य भारतीय धर्म कृत्यों में से एक है। सत्संग लाभ तथा प्रभु की लीला भूमि का दर्शन तीर्थाटन का लक्ष्य होता है। गोस्वामी जी ने अयोध्या, नैमिष, चित्रकूट, प्रयाग काशी, गया आदि अनेक तीर्थ स्थानों का उल्लेख किया है। जिनमें प्रयाग काशी अयोध्या को विशेष महत्व प्रदान किया है। काशी को भगवान शंकर की नगरी रूप में निदर्शित करके गोस्वामी जी ने उसे योग, वैराग्य, साधनादिजन्य गति की दायिनी कहा है-

जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि मांगत सकुचाहीं।
वेद विहित तेहि पद पुरारि पुर, कीट पतग समाहीं।।

तभी तो गोस्वामी जी सभी प्रकार के दुख पाप क्लेश को नष्ट करने वाली काशी का आजीवन सेवन करने की स्पृहा करते हैं-

सेइय सहित सनेह देह भरि, काम धेनु कलि कासी।
समनि सोक सताप पाप, रूज, सकल सुमंगल रासी।।

गोस्वामी जी के काव्य में प्रयाग तीर्थराज के रूप में निदर्शित हुआ है। वनवास प्रसंग में राम और भरत दोनों के प्रयाग पहुंचने पर तीर्थराज प्रयाग के महत्व की निदर्शना तलसी काव्य में हुई है। प्रात:काल स्नान करके राम ने तीर्थराज प्रयाग के दर्शन किये हैं। तुलसी ने पाप पुंज नष्ट करने वाले सुख सागर राम को सुख देने वाले प्रयाग के महत्व को अवर्णनीय कहा है और राम के मुख से सीता लक्ष्मण और गुह के समक्ष तीथ्रराज की महिमा का बखान कराया है-

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ।।
अस तीरथ पति देखि सुहावा। सुख सागर रघुबर सुखुपावा।।
कहि सिय लखनहिं सखहिं सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई।।

भरत भी तीसरे पहर प्रयाग में प्रवेश करके सकल काम प्रद तीर्थराज प्रयाग से जनम जनम रति राम पद का वरदान मांगते हैं-

सकल काम प्रद तीरथ राऊ। वेद विदित जग प्रकट प्रभाऊ।।
मांगउ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमु।।
अस जियं जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी।।
अरथ न धरम न काम रूचि न चहउं निरबान।,
जनम जनम रति राम पद यह वरदानु न आन।।

अयोध्या तो तुलसी के आराध्य के जन्म और लीला की स्थली है। स्वत: तलसी के आराध्य को अयोध्या और अयोध्यावासी अत्यन्त प्रिय हैं तथा

सब प्रकार के सुखों को देने वाली अयोध्या में सतत प्रवाहिनी सरयू का स्नान करने से साधनादि कर्मों से विरत प्राणी सालोक्य मुक्ति प्राप्त करत हैं, यह तुलसी के राम की घोषणा है-

जन्म भीूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि वह सरजू पावनि।।
जा मज्जन तेविनहिं प्रयासा। गम समीप नर पावहिं बासा।।
अति प्रिय मोहि इहां के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।।

यहां यह उल्लेख कर देना आप्रसंगिक न होगा कि तुलसी ने संत समाज को गतिशील तीर्थराज रूप में निदर्शित किया है-

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू।।
राम भक्ति जहं सुरसरि धारा। सरसई ब्रह्म विचार प्रचारा।।
विधि निषेधमय कलि मल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी।।
हरि हर कथा विरजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।।
बटु बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथ राज समाज सुकरमा।।
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।।
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।।

नैमिषारण्य को भी तुलसी ने विख्यात तीर्थ तथा साधकों को सिद्धि देने वाला कहा है। गोस्वामी जी ने चित्रकूट को शोक विमोचन, कलियुग के पापों को नष्ट करने वाला तथा कल्याण दाता कहा है।

यही कारण था जब काशी के पंडितों के अत्याचार से तुलसी अत्यधिक पीड़ित और चिन्तित हो जाते थे तो यही उपाय सूझता था-

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल मगु,बिलसत बढ़त मोह माया भलु।।
भूमि विलोकु राम पद अंकित, बन विलोकु रघुबर विहार थलु।।
सैल स्त्रंग भवभंग हेतु लखु दलन कपट पाखंड दंभ दलु।।

इसके अतिरिक्त गया का भी उल्लेख काव्य में तीर्थ के रूप में ही हुआ है-

जप तप, व्रत उपवास, दान, यज्ञ और श्राद्ध

आराध्य के नाम या नामों का निरंतर स्मरण जप है तथा भोग सामग्रियों के परिहारपूर्वक संयमित जीवन का निर्वाह तप। धर्म परायण देश में अभीष्ट की प्राप्ति के लिए जप तप का प्रश्रय सामान्य है। लक्ष्मी को भी मुग्ध करने वाली विश्वमोहिनी के सौन्दर्य पर अनुरक्त नारद उसकी प्राप्ति के लिए जप तपद की दुहाई देते हैं-

जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे विधि मिलइ कवन विधि वाला।।

जप तप आदि का प्रयोग प्रायः पंच यादि अनुष्ठानों से शरीर को कसने के अर्थ में ही किया जाता है। तुलसी काव्य के अत्रि आदि ऋषियों के सन्दर्भो में जप तप इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है-

जपहु जाइ संकर सतनामा। होइहिं हृदयं तुरत विश्रामा।।

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रम समाना।।

साधक नाम जपहिं लय लाएं। होहिं सिद्धि अनिमादिक पाएं।।

तम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती।

सहस नाम समसुनि सिव बानी। जपि जेई पिय संग भवानी।।

तपस्या अथवा साधना को द्योतित करने में तप का प्रयोग भी देखिए-

तप बल रचई प्रपंचु विधाता। तप बल विघ्नु सकल जग त्राता।।

तप बल संभु करहिं संघारा। तप बल सेषु घरई महि भारा।।

तप आधार सब सृष्टि भवानी। करहिं जाइ तपु अस जियं जानी।।

तप बल ते जब सुजइ विधाता। तप बल विष्णु भए परित्राता।।

तप बल संभु करहि संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा।।

तप बल विप्र सदा बरि आरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा।।

तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहउं इहां बरष परवाना।।

भोजन न करने या न खाने को उपवास कहते हैं। कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किए कठिन कछुदिन उपवासा में यही उपवास का तात्पर्य है। यहां वह उल्लेख है कि धार्मिक कृत्यों के सन्दर्भ में यह उपवास निश्चित अनुष्ठान को संलक्ष्य करके किया जाता है। पार्वती का उक्त उपवास निश्चित अनुष्ठान बरउं संभु न त रहउं कुंआरी से आबद्ध था। व्रत का सामान्य अर्थ है अनुष्ठान किन्तु शनैः शनैः यह सानुष्ठानोपवास के अर्थ को प्रकट करने हेतु प्रयुक्त होने लगा। व्रत निरंबु तेंहि दिनि प्रभु कीन्हा में व्रत का यही तात्पर्य है किन्तु मुनि व्रत नेमु साधु सकुचाहीं में व्रत मात्रअनुष्ठान या दृढ़ संकल्प को अभिव्यक्त करता है।

दान भी एक प्रमुख धार्मिक कृत्य है। गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग दो रूपों में किया है। एक तो वहदान जो दानेन हन्यते व्याधिः को संलक्ष्य करके बिप्रादि को दिया जाता है और दूसरे रूप में मांगलिक अवसरों पर सूत, मागध आदि को। प्रथम अर्थ में दान को द्योतित करने वाली कतिपय पंक्तियां यहां उद्धृत है-

दिन प्रति देई विविध विधि दाना। सुनई सास्त्र बर वेद पुराना।।

विप्र जेवांई देहि दिन दाना। सिव अभिषिक करहिं विधि नाना।।

दिए दान विप्रन्ह विपुल पूजि ननेस पुरारि।

दिए दान आनंद समेता। चले विप्रवर आसिष देता।।

और दूसरे अर्थ में दान, न्यौदावर के पर्याय रूप में देखा जाता है। इसके भी कतिपय उद्धारण दृश्टव्य हैं-

सर्वस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहिं ताहू।।

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहिं आवा।।

पाई असीस महीसु अनंदा। लिए बोलि पुनि जाचक बूंदा।।

कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिए बूझि रूचि रवि कुल नंदन।।

यश और श्राद्ध जैसे धार्मिक कृतय मनुष्य को आध्यातत्मिक उत्कर्ष प्रदान करते हैं। रावण जेसे विद्वान ब्राम्हण को भी यज्ञ श्राद जैसे कृत्यों की महत्ता विदित है। वह जानता है कि यश और श्राद्ध जैसे अनुष्ठानों को निर्विघ्न रूप से पूर्ण होना चाहिए ।

राजनीतिक चिन्तन

तुलसी राम के अनन्य भक्त थे। आत्मलीन न हरकर राममय जीवन को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हुए वे संसार से सर्वथा निरपेक्ष नहीं थे। वे परोपकार को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। परपीड़ा से इनका हृदय द्रवित हो उठता था। यही कारण है कि तत्कालीन जनमानस की पीड़ा ने उनके हृदय को झकझोर दिया था। जनता की पीड़ा का कारण तत्कालीन शासन था जिसकी अनुभूति गोस्वामी तुलसी दास जी को थी। तुलसी के युग में मुसलमानों का शासन था। अकबर महान् के कतिपय हिन्दू राजाओं को उच्च पद देकर साम्प्रदायिक सहृदयता का परिचय दिया था किन्तु हिन्दु और मुसलमान शासन तन्त्र की दृष्टि से अलग अलग थे, जिसकी अनभूति सामान्य जनता को भी थी। हिन्दुओं से जजिया कर एवं अन्य अनेक प्रत्यक्ष कर वसूलना तथा मुसलमानों को इससे मुक्त रराना इस विभेद का प्रत्यक्ष उदाहरण था। तुलसी इस भेदपरक स्थिति से दुखी थे, वे पराधीनता के कष्ट को समझते थे। जिसकी अन्तर्व्यथा उन्होंने पराधीन सपनेहु सुख नाहीं1 कहकर व्यक्त किया है।

सन् 1556 से 1605 तक अकबर तथा तत्पचात् जहांगीर का शासन काल था। इस युग के शासक व अधिकारीगण में अधिकार लिप्सा और शक्ति का मादकता थी। किसी नियम, मर्यादा अथवा आदर्श से वे परिचलित नहीं थे। पुत्र सहज ही पिता का भतीजा अपने चाचा का भाई भाई का वध करके राज्य सत्ता का अधिकारी बन बैठता था। शासक की दृष्टि जनकल्याण

की ओर से विमुख थी, वे अपने अधिकार और शक्तिवर्द्धन को ही अपना परम श्रेय मानते थे। चारों ओर अहंमनयता, विलासिता एवं क्रूरता का राज्य था। इन सब परिस्थितियों का गोस्वामी जी के मानस पटल पर गहरा प्रभाव था। तुलसी के मन में प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय रघुवंशी राजाओं का आदर्श शासन जागरित हुआ। इस आदर्श को सामने रखकर उन्होंने राष्ट्रीय एकता के आत्मभाव को जागृत करने के लिए राम राज्य की परिकल्पना की। उन्होंने इस राज्य की स्थापना बाह्यविजयों से नहीं की। इसकी स्थापना मानवता और करूणा से हुई।

तुलसी के युग में राष्ट्रीय अखंडता खंडित हो चुकी थी। छोटे छोटे राज्य मुगल शासकों के अधीन थे। इन राज्यों के प्रति शोषण की वृत्ति मुगल शासकों में बनी रही।कराधान के नियम कठोर थे। कर का भुगतान न करने पर इन राज्यों को महामहिपाल का कोपभाजन बनना पड़ता था। इस प्रकार तुलसी का समाज नाममात्र के लिए जीवित था, परन्तु वास्तव में मृतप्राय था। जनता अकाल और भुखमरी से पीड़ित थी। खाने के लिए अन्न नहीं मिलता था, ढूंढ़े रोजगार नहीं मिलता था। कवि ने इस दुर्दर्शा का चित्रण रामचरितमानस विनयपत्रिका एवं कवितावली में किया है। यवनशासकों के अत्याचार को कवि ने रावण के आतंक के माध्यम से चित्रित किया है। तुलसी ने तत्कालीन शासन के विरूद्ध कोई आन्दोलन नहीं चलाया। उन्होंने आदर्श सम्राट् और आदर्श राज्य का स्वरूप जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करके वैसे ही राज्य को प्राप्त करने के लिए उत्साहित किया। इतिहास में महान कहा जाने वाला अकबर तुलसी के युग में इस देश का भाग्यविधाता था। वह साम्राज्यवादी था। उसने अपने राज्य को विस्तृत करने के लिए दुर्गावती और चांदबीबी जैसी नारियों पर भी आक्रमण किया था। वह बड़ा कूटनीतिज्ञ था और उसकी नीति में दण्ड का प्राधान्य था। तुलसी इस विदेशी सत्ता की गुलामी से दुखी थे। उन्होंने रावण के अत्याचारों और अनीतियों के बहाने

तत्कालीन शासकों की अनीति और अत्याचार का वर्णन किया है। सम्राट् की ही भांति उसके अधिकारी भी प्रजा की सम्पत्ति के लिए लोलुप थे। उनके व्यवहार छल छद्म युक्त थे। राजाओं की भूमिलिप्सा का वर्णन करते हुए तुलसी ने भूमि चोर भूप भये1 कहा है। इसी लोभ के कारण वे अत्यन्त कठोर और अनुदार थे। स्वार्थी वृत्ति के कारण अधिकारी अन्यायपूर्ण कुचालें चलते थे तथा नीति प्रीति एवं मर्यादा को त्याग कर मनमाने अत्याचार करते थे। विनयपत्रिका में राज्यधिकारियों की कुचाल का वर्णन करते हुए तलसी कहते हैं-

राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेर हुई है।।2

इस अत्याचार का परिणाम यह हुआ कि देश में बेकारी बढ़ी। लोगों को किसी भी व्यवसाय का अवसर न था। दरिद्रता वश उदर पूर्ति के लिए लोग बेटा बेटी बेचने को विवश हो रहे थे। ऐसे संकट के क्षणों मं कवि ने रामराज्य की परिकल्पना की जिसमें दरिद्र दुखी दीन तथा लक्षणहीन कोई नहीं था। सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करते थे। राजा को ईश्वर का अंश निरूपित किया गया। जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी होती है वह नरक का अधिकारी होता है। इन विचारों के माध्यम से तत्कालीन समाज को राष्ट्रीय विप्लव से बचाने का प्रयत्न तुलसी ने किया।

रामचरितमानस के कथानक की राजनीतिक व्याख्या प्रस्तुत करते समय युगीन स्थिति का समकलन अनपेक्षित नहीं है। राम के अवतरण के पूर्व भारत की राजनीतिक स्थिति अस्त व्यस्त थी। रावण ने अनेक विजयों के माध्यम से अमरावती तक अपना अधिकार जमा लिया था। भारत के अनेक प्रदेश उसके अधिकार में आ चुके थे। उसके बक्सर के आस पास के क्षेत्रों पर आधिपत्य करके उसका शासन सुन्द की पत्नी ताड़का को दे दिया था। दण्डकारण्य

---

[1] कवितावली, 7,177

उसको बहन शूर्पणाखा के अधिकार क्षेत्र में था। गोदावरी के आस पास का क्षेत्र खरदूषण के अधिकार क्षेत्र में थे। किष्किन्धा का शासक बालि रावण का घनिष्ठ मित्र था। मारीच और सुबाहु का आतंक सर्वत्र व्याप्त था। राष्ट्र् पूर्णतः दासता में निमज्जित था। इन दुष्टों का संहार करके राष्ट्रीय एकता के लिए अनेक ऋषि मुनि प्रयत्नशील थे। इस दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावी कदम विश्वामित्र ने उठाया। उन्होंने राम में अखंड राष्ट्र् की कल्पना की। वसिष्ठ के प्रभाव से उन्हें प्राप्त किया। राम ने अपनी सूझ बूझ से ताड़का का वध किया। शूर्पणखा को अपदस्थ किया। खरदूषण तथा सुबाहु का ससैन्य संहार किया। बालि के लघु भ्राता सुग्रीव से मैत्री स्थापित करके बालि का वध करके रावण की समस्त किलेबन्दी को छिन्न भिन्न करके अखंड राष्ट्र् की स्थापना की। जनमानस में विश्वास जागृत करके रामराज्य की स्थापना करके राम ने सागरपर्यन्त भूमि की एक अखंड राष्ट्र् में समाहित कर लिया-

भूमि सत्प सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।।1

वनवास के अनन्तर श्रीराम ने चित्रकूट को अपना निवास बनाया। वे इस वन प्रदेश के शासक थे। उनके प्रभाव से सभी वनवासी सुखी थे। विवेकवान सम्राट् राम विरागमय सचिव लक्ष्मण की सहायता से वनकान्तार का तन्त्र चला रहे थे। इसकी शैलराजधानी चित्रकूट थी जिसमें शान्तिसुन्दरी सीता साम्राज्ञी थी।2 सर्वत्र पशु पक्षी जीव जन्तु वैरविरहित भाव से आनन्दमग्न थे। रावण ने सीता का अपहरण करके राष्ट्र् की आन्तरिक शान्ति को खंडित कर दिया। राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न एक बार पुनः उपस्थित हो गया। राम ने बन्दर भलुओं की सेना बनाकर सीता को प्राप्त किया। आन्तरिक शान्ति पुनः स्थापित हुई। आन्तरिक शान्ति से ही राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है। राम ने अपने प्रयास से ऐसा करके राज धर्म का पालन किया और इन्द्र क समान अखंड पृथ्वी का भोग किया।

---

[1] रामचरितमानस 7,22,1

अभिलाषाओं को कठोरता से दबाना चाहता है। उसके मन्त्री भी भयवश राजा को इच्छानुसार ही परामर्श देते हैं। ऐसे राज्य को तुलसी ने रावणराज्य की संज्ञा दी है, क्योंकि वहां चापलूसी का वातावरण राज्य की व्यवस्था को असंतुति कर देता है-

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास।।3

तुलसी ने राजा क गुणों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। एक स्थल पर वे कहते हैं-

माली भानु किसान सम नीति निपुन नर पाल।
प्रजा भागवस होहिंगे कबहुं कबहु कलिकाल।।4

माली जिस प्रकार उद्यान का संरक्षण औरपालन करता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का संरक्षक और पालक होना चाहिए। माली जीव जन्तुओं से उद्यान की रक्षा करते हुए उसके घास फूस को निकालकर फेंक देता है,मुरझाए हुए पौधों को सींचता है तथा कमजोर पौधों को लकड़ी का आश्रय देकर बढ़ाता है। उसी प्रकार राजा बाह्‌य शत्रुओं से देश की रक्षा करता है आन्तरिक घातक तत्वों का विनाश करता है, दीन दुर्बलों को समृद्ध करता है तथा असहाय और असमर्थे की सहायता करता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी उष्मा से जीवन में प्राणसंचार करता है प्रकाश विकीर्ण करता है उसी प्रकार राजा अपने तेज के प्रताप से प्रजा में विश्वास जागृत करता है और ज्ञान का प्रसार करके अज्ञान को विनष्ट करता है। किसान जिस प्रकार कठिन परिश्रम करके अपनी कृषि के सम्वर्द्धन में जुटा रहता है और अपने को विस्मृत कर देता है उसी प्रकार राजा अपने सुख का परित्याग करके प्रजा की समृद्धि में अनुरत रहता है। देखने पर ऐसा प्रतीत हाता है कि वह राजसिंहासन पर विराजमान होकर सुखोपभोग कर रहा है किन्तु यह उसकी महत्ता का प्रतीक

---

[3] रामचरितमानस 5,37

[4] दोहावली 507

मात्र है वसतुतः वह प्रजानुरंजन में ही लीन रहता है। इसी आदर्श की पुष्टि तुलसी करते हुए कहते हैं-

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खानपान कहुं एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।

मुख अकेले खाता पीता हुआ दिखलाई पड़ता है किन्तु वह विवेकयुक्त होकर सभी अंगों का परिपालन करता है। इसी प्रकार एकाकी राज सुखभोग करता हुआ राजा भी अपने अंगभूत प्रजा का पालन करता है। प्रजा को प्रसन्न और सुखी रखना राजा का एकमात्र कर्तव्य है। राजा प्रजा के बीच जब ऐसा तारतम्य रहता है तभी राष्ट्रीयता का भाव जागृत होता है। राम प्रतिदिन इसी भावना से कार्य करते हैं-

जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।।2

जब राजा प्रजा का यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है तब राज्य में परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। राज्य के लिए संघर्ष होता है धन जन की हानि होती है। रावण का विनाश होता है। उसकी हत्या का षड्यन्त्र करके उसका भाई विभीषण उत्तराधिकार के संघर्ष मं विजयी होता है।

तुलसी राष्ट्रीय विचारधारा से ओत प्रोत थे। यद्यपि उनके युग में एकतंत्रीय शासन व्यवस्था थी किन्तु व्र प्रजातन्त्र के समर्थक थे। प्रजा की इच्छा को दशरथ और राम दोनों ने महत्व प्रदान किया है। दशरथ के मन में राम के राज्याभिषेक का विचार आते ही उन्होंने गुरू वसिष्ठ तथा जनप्रतिनिधियों से परामर्श लिया। उन्होंने कहा-

जौ पांचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियं रामहिं टीका।।3

राजा को लोकतन्त्र की रक्षा के लिए प्रजा की रूचि तथा वर्जनाओं को स्वीकार करना चाहिए। राम सिंहासनारूढ़ होने के बाद प्रजाजनों को सर्वाधिक महत्व देते हुए कहते हैं-

---

[2] वही 1,205,5

[3] वही 2,5,3

जौं अनीति कदु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई।।1

राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में तलसी का सबसे बड़ा अवदान तद्युगीन विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करना है। तुलसी के युग में हिन्दुत्व भी छिन्न भिन्न हो रहा था। अनेक प्रकार की धार्मिक सामाजिक सांस्कृतिक बुराइयां समाज में व्याप्त थीं। शैव वैष्णव वैष्णव शाक्त निर्गुन सगुण इत्यादि उपासना पद्धतियां इतनी अनेकता स्थापित कर चुकी थीं कि हिन्तुत्व समाप्त प्राय हो रहा था। तुलसी ने इन उपासना जन्य विरोधी परिस्थितियां का सम्यक् अनुशीलन करके अपने कथानकों में यथोचित परिशोधन करके इस विरोध को शान्त किया और राष्ट्रीय एकीकरण में अपना महत्व पूर्ण योगदान प्रस्तुत किया। उन्होंने राम और शिव को एक दूसरे का उपासक बनाकर सीता द्वारा पार्वती पूजन कराकर सगुण निर्गुण में अभेद स्थापित करके राष्ट्रीय एकता का सराहनीय प्रयास किया।

इस प्रकार तुलसी का महत्व अकबर के समकक्ष ही समझना चाहिए। अकबर ने शासन के माध्यम से युग और समाज के विधान की चेष्टा की ओर तुलसी ने साहित्य के माध्यम से उस समाज में राष्ट्रनिष्ठा की रचनाशीलता का भाव पिंरोया। युगनेतृत्व की दृष्टि से तुलसी महान थे। बिन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार अधिकतर फारसी कवियों की तुच्छ और अशुद्ध कविताओं को छोड़कर तुलसी जैसे एक महान हिन्दू के विशुद्ध और पौरूषेय ग्रन्थ के पढ़ने में बड़ा आनंद मिलता है। वह हिन्दू अपने युग के भारत का सबसे महान व्यक्ति था अकबर से भी महान क्योंकि कवि द्वारा लाखों नर नारियों के मस्तिष्क और हृदयों पर प्राप्त विजय सम्राट द्वाराप्राप्त की गयी सभी विजयों अथवा किसी भी विजय से अधिक स्थायी और महत्वपूर्ण थी।2

गोस्वामी जी के साहित्य में ऐसे प्रदुर संकेत प्राप्त होते है जिनमें उनके राज नीतिक विचार परिलक्षित होते हैं। वे विचार अनुषंगिक रूप से नहीं हुए

---

[1] रामचरितमानस 7,43,6

[2] विन्सेन्ट स्मिथ अकबर दि ग्रेट मुगल पृ0 303

हैं अपितु इस क्षेत्र में कवि का अपना मौलिक चिन्तन है। कवि राजनीतिक सन्निवेश में अपने दृष्टिकोण को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। राजनीतिक विवेचन के प्रयोजन से ही तुलसी ने धर्मरथ धार्मिकराजा निरंकुश शासन सत्ता और नीति के रूपकों की प्रस्तुति अपने साहित्य मं की है। तुलसी धर्मनिष्ठ शासक को ही राजा मानते थे। धर्म पथ पर चलने वाले राजा के मन्त्री और कर्मचारी भी उसी पथ पर चलते हैं तथा वही कार्य करत हैं जिससे प्रजा का कल्याण होता है।

प्रजा रंजन में संलग्न राजा के राज्य में पृथ्वी कामधेनु हो जाती है। चारों ओर सुख और शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। इसी तथ्य को तुलसी ने साहित्यिक सौन्दर्य के साथ निम्नलिखित दोहे में उद्घटित किया है-

धरनि धेनु चारितु चरत प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ।
हाथ कछू नहिं लागिहैं किएं गोड़ की गाय।।[1]

अर्थात् पृथ्वी गाय के समान है। राजा का सुन्दर चरित्र ही उसका चारा है जिसको खाकर पृथ्वी प्रसन्न होकर सभी प्रकार के अन्नों की प्रचुरता से उत्पन्न करती है और प्रजारूपी अपने बछड़े को इन सब उत्तम पदार्थे को देती है जिससे प्रजा धन धान्य से सम्पनन होकर सुखमय जीवनव्यतीत करती है। यदि गाय को बलपूर्वक बांधकर कष्ट दिया जाय तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। अतः राजा को धर्म कर ही लगाना चाहिए। कर से प्राप्त धन प्रजा के कल्याणकारक कार्यो में व्यय करना चाहिए। प्रजा पालक राजा के राज्य में चारों तरफ सम्पत्ति दिखाई देती है। कर्तव्य से च्युत स्वेच्छा चारी राजा के राज्य में प्रजा के क्लेश बढ़ते हैं। गीतावली में मन्दोन्मत्त अहंकारी राजा की निरंकुशनीति अत्याचार एवं शोषण का चित्रण कामदेव के रूपक के माध्यम से हुआ है-

ऋतु पति आए भलो वन्यो वन समाज। मानो भए है मदन महराज आज।।

---

[1] दोहावली, 512

मनो प्रथम फागु मिस करि अनीति। होरी मिस अरिपुर जारि जीति।।
मारूत मिस पत्र प्रजा उजारि। नयनगर बसाए बिपिन झारि।।
सिंहासन सैल सिला सुरंग। कानन छवि रति परिजन कुरंग।।
सित छत्रसुमन बल्ली बितान। चामर समोर निझर निसान।।
मनो मधुमाधव दोउ अनिपधीर। बर विपुल विटप बानैत बीर।।
मधुकर सुक कोकिल वंदि वृंद। बरनहिं बिसुद्ध जस विविध छंद।।
महि परत सुमन रसफल पराग। जनु देत इतर नृप कर विभाग।।
कलि सचिव सहित नय निपुर मार। कियो बिस्ब बिबस चारिहु प्रकार।।
तिनकी न काम सकै चापि छांह। तुलसीं जे बसहिं रघुबीर बांह।।[2]

ऋतुराज के आने पर वन की शोभा बड़ी भली बन गई है, मानो आज कामदेव को महाराज पद की सार्वभौमिकता प्राप्त हुई हो। नवीन शक्ति बल और ऐश्वर्य के मद में उस स्वेच्छाचारी राजा ने फाग के मिस मर्यादा त्यागकर वनरूप शत्रु क नगर पर विजय प्राप्त कर होली के बहाने उसे जला डाला हो और पुनः वायुरूप से पत्ररूप प्रजा को लूटकर समग्र वन में नई कोंपलें उत्पन्न कर नया नगर बसा लिया हो। उन मदन महाराज का राजसिंहासन पर्वत की सुन्दर शिला है वन की शोभा ही उसकी पत्नी रति है मृगगण ही परिजन है, पुण्य ही श्वेतछत्र है लताएं वितान हैं, वायु चमर है और झरने नौबत हैं। चैत्र वैशाख दोनों धीर वीर सेनापति हैं। अनेक सुन्दर वृक्ष उनके दृढ़प्रतिज्ञ वीर है तथा भौंरे शुक कोकिल ही बन्दीजन हैं जो नाना छन्दों में उनका विशुद्ध यशगान कर रहे हैं। पृथ्वी पर गिरा हुआ पराग मकरन्द और फल सामन्तों द्वारा प्रदत्त कर है। इस प्रकार नीतिनिपुण कामदेव ने अपने मन्त्री कलियुग के साथ साम दाम भेद और दण्ड चारों प्रकार से समस्त विश्व को अपने अधीन कर लिया है। इस राज्य में विरही पुरूषों पर नित्य नई मार पड़ती है और सिद्ध साधकों को ललकार कर दण्ड दिया जाता है इस रूपक में पाशविक

---

[2] गीतावली 7,49

बल से साम्राज्य फैलाने वाले राजा के अद्‌भुत साज सज्जा का वर्णन किया गया है। उसकी आतंकपूर्ण दुर्नीति के परिणामस्वरूप निर्बल निर्दोष और सत्पुरूष सताये जाते हैं और ऋषि मुनि को भी कर देना पड़ता है।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए कुशल दूत द्वारा शत्रु का भेद जानना चाहिए। शत्रु के बलाबल का ज्ञान किये बिना युद्ध छेड़ना घातक है। युद्ध आरम्भ करने के पहले पूरी सैनिक साज सज्जा अपेक्षित है। जब शत्रु दुर्बल असहाय और अकेला हो तभी पूरी सन्यशक्ति से आक्रमण करना चाहिए। निम्नलिखित पंक्तियों मं तुलसी ने इसी नीति कौशल का दिग्दर्शन कराया है-

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसिनिपट अकेल।
सहित विपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल।।1

गोस्वामी जी ने लंकाधिपति रावण की अधर्ममूलक आतंकभरी नीति के रूप तत्कालीन यवन शासकों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। रावण के आतंग से भयभीत देवता उसके आगमन का समाचार सुनकर सुमेरू पर्वत की कन्दराओं में जा छिपे दिग्पालों के सुहावने लोक रावण को निर्जन मिले। युद्ध के मद से उन्मत रावण ने सारे संसार में धावा मारा। वह बराबर के योद्धाओं को ढूंढ़ता फिरा किन्तु कहीं कोई न मिला। परिणामस्वरूप सृष्टि के नर नारी उसके अधीन होकर भयवश उसकी आज्ञा का पालन करने लगे-

रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरू गिरी खोहा।।
दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए।।
रन मदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुं न पावा।।
ब्रह्मसृष्टि जहं लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी।।2

कहने का तात्पर्य यह है कि भारत के सभी स्वतन्त्र राजा शनैः शनैः यवन सम्राट् के आगे मस्तक झुकाकर दास बन गए। सिर उठाने वाला राजा

---

[1] रामचरितमानस 3,37 (क)

[2] वही. 1 18,2,2,6-12

दमन का शिकार हुआ। इस तथ्य को अव्यक्त ढंग से तुलसी ने कितने सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। रावण ने शक्ति और अहंकार के मद में देव यक्ष गन्धर्व मनुष्य किन्न नाग सबकी कन्याओं और अनेक सुन्दरी स्त्रियों को अपने बाहुबल से हठात् जीत लिया-

देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरौं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि।।1

रावण के बहाने तुलसी यह अच्छी तरह व्यंजित कर सके हैं कि राजपुरूषों की सभी सुन्दर पुत्रियां और बहनें यवन सम्राटों की हरम में पहुंच गई थीं। तुलसी ने अपने युग की राजनीतिक परिस्थिति को अपने काव्य में साकार कर दिया है। यवनों ने हिन्दु जनता को सत्रस्त करके अपने अधीन कर लिया था। उन्मत्त यवन सैनिकों के उत्पात से धर्म वेद पुराण पृथ्वी से उठ गये। राक्षस नानारूप धारण कर उपद्रव करने लगे। उन्हें जिस स्थान में गाय व ब्रह्मण मिलते उस नगर गांव और शहर में आग लगा देते थे। उनके भय से कहीं शुभ आचरण नहीं होते थे। वेद पुराण स्वप्न में भी कहीं सुनने में नहीं आते थे।2

कलियुग की विलासिता के माध्यम से तुलसी ने यवनों की विलासिता का चित्रण किया है। विलासीप्रवृत्ति ने उस युग के लोगों को बेहाल कर दिया था। पुत्र जब तक पत्नी का साहचर्य नहीं प्राप्त करता था तभी तक वह अपने माता पिता की सेवा करता था। विवाह के अनन्तर ससुराल प्रिय हो जाती थी। और कुटुम्बी शत्रुरूप दिखाई पड़ते थे। सारा समाज नारी के वश में था। सामान्य धर्माचरण भी शेष नहीं था। विलास में व्यक्ति बहन और बेटियों को भी नहीं मानते थे।

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत क्वौ अनुजा तनुजा।।4

---

[1] रामचरितमानस 1,182 (ख)

[2] वही 1, 183,4-7

[4] रामचरितमानस 7,10,2,5

तुलसी के समसामयिक शासकों के अत्याचार और राजनीतिक तथा धार्मिक कट्टरता और रावण की क्रूरता का मिलान किया जाय तो दोनों में कोई असमानता नहीं होगी। रावण के अन्यायों का वर्णन करके तुलसी ने अपने युग की राजनीतिक स्थिति को साकार कर दिया है।

तुलसी के राजनीतिक चिन्तन का प्रबल आधार है रामचरितमानस में वर्णित विविध राज्य। तुलसी ने स्वेच्छाचारी राज्य तथा रामराज्य दोनों का वर्णन किया है। स्वेच्छाचारी राज्य राजा की निजी सम्पत्ति है। राजा राष्ट्र का स्वामी समझा जाता है तथा यह स्वयं शासक होता हे और उसी उचित अनुचित आज्ञा प्रजा को माननी पड़ती है। जहां हितैषी एवं मन्त्रियों का परामर्श नहीं सुना जाता जहां अपनी इच्छा ही कानून है तथा आतंक ही प्रधान है ऐसे राज्य का प्रतीक है रावण राज्य। इसके विपरीत वह राज्य जिसका आधार प्रजाहित है प्रजा की समृद्धि तथा तुष्टि ही जिसका लक्ष्य है और धर्म पर आश्रित श्रेष्ठ शासन ही जिसका प्रतीक है दशरथ भर जनक तथा राम का राज्य इस कोटि में आता है।

रामचरितमानस में वर्णित श्रृंगवेरपुर स्थित निषादराज गुह मांडलिक राज्य का स्वामी प्रतीत होता है। राम के आगमन का समाचार सुनकर वह अपने बन्धु बान्धवों के साथ फल मूल की भेंट सामग्री साथ लेकर राम से मिलता है-

यह सुधि गुहं निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई।।
लिए फल मूल भंट भरि भारा। मिलन चलेउ यिं हरषु अपारा।।1

तुलसी ने दक्षिण के बलिष्ठ वानर राज्य किष्किन्धा का विस्तृत वर्णन किया है जो एक स्वतन्त्र राज्य प्रतीत हाता है। अपनी अन्धाधुन्ध विजयोपलब्धि को प्राप्त करता हुआ रावण वानर राज्य मं आकर उसके प्रतापी

---

[1] रामचरितमानस 2,88, 1-2

राजा बालि को अत्यन्त शक्तिशाली समझकर उससे मैत्री स्थापित करता है। इस मैत्री के बल पर ही वह दण्डकारण्य में प्रवेश करता है।

इसके अतिरिक्त मानस में कई सार्वभौम राजाओं का वर्णन मिलता है। सार्वभौम के लिए तुलसी ने चक्रवर्ती और चक्कवइ शब्दों का प्रयोग कियाहै। ऐसा प्रतीत होता है कि इस राज्य में अनेक छोटे छोटे राज्य समाहित थे। सार्वभौमिक राज्य के राजा के रूप में मानस में सर्वप्रथम केकयनरेश प्रतापभानु का उल्लेख मिलता है जिसने अपने अतुल बाहुबल एवं पराक्रम से विभिन्न राजाओं को पराजित किया तथा सातों द्वीपों को अपने अधीन करके उन राजाओं से दण्ड लेकर छोड़ दिया। उस समय समस्त भू मण्डल पर एक ही प्रतापभानु राजा था-

जहं तहं परीं अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं।।
सप्त दीप भुलबल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे।।
सकल अवनि मंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला।।[2]

कोसल सम्राट दशरथ की सभी राजालोक कृपा चाहते थे। उनकी कृपादृष्टि से लोकपाल नियुक्त हाते थे। उनका यश और प्रभाव चौदह भुवनों मं प्रकट है। इन्द्रउनका सम्मुख आकर सम्मान करते हैं और अपने आधे सिंहासन पर बैठाते हैं। सीताजी उनके सम्बन्ध में कहती हैं-

ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रकट प्रभाऊ।।
आगें होई जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई।।[1]

लंका के राजा रावण का चित्रण भी सार्वभौम सम्राट के रूप में हुआ है। उसने अपनी भुजाओं के बल पर सारे संसार को अपनी वशीभूत कर लिया, किसी को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा। चकवर्ती होकर भी वह अपनी ही सलाह से राज्य करने लगा। सभी देवता और दिक्पाल उससे भयभीत रहते थे-

---

[2] वही 1,154,6-8

[1] रामचरितमानस 2,98, 3-4

आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन विनीता।।

भुजबल विस्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र

मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।।2

श्रीराम सातों समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी के एकमात्र सम्राट थे। उन्होंने करोड़ों अवश्वमेघ यज्ञ किये ब्रह्मणों का अनेक दान दिये।रामवेदमार्ग के संरक्षक धर्म के धुरन्धर गुणातीत होते हुए भी ऐश्वर्य में इन्द्र के सदृश थे-

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहं दीन्हे।।

श्रुति पथ पालक धर्म धुरंधर। गुनातीत अरू भोग पुरंदर।।3

इस प्रकार मानस में तीन सार्वभौम सम्राटों का वर्णन है। ये तीनों मानव की तीन वृत्तियों के प्रतीय हैं। प्रतापभानु का साम्राज्य राजसी है। धर्म का प्राधान्य होते हुए भी शासन की इच्छा वासनारूप में विद्यमान है। रावण का राज्य तामसी है। अत: दोनों विनष्ट हो जाते हैं। दशरथ और राम का राज्य धर्मप्रधान है। रामराज्य सात्विक राज्य है। उसकी पताका सत्य शील और दृढ़ है। उनका रथ बल विवेक दम परहित घोरे से आगे बढ़ता है जो घोड़े क्षमा दया और समता के रज्जू से जोड़े गये हैं।

राजशास्त्रियों ने राज्य के सप्तांग का विवेचन किया है। राजा मन्त्री भूमि कोष दुर्ग सेना और मित्र राज्य के ये सात अंग हैं। राज्य के सभी तत्व तुलसी साहित्य में मिलते हैं। तीर्थराज प्रयाग का मन्त्री सत्य है श्रद्धा प्रियनारी है माधव जैसा हितैषी सुहृद है चारों पदार्थे से भंडार भरा पूरा है। वहां की पुण्स्थली ही सुन्दर राजधानी है। पवित्र भूमि ही दुर्गम किला है। सभी तीर्थ सैनिक हें जो पाप की सेना को दल डालने मं समर्थ हैं-

सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी।।

चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू।।

छेत्रु आगम गाढ़ सुहावा। सपनेहुं नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा।।

---

[2] वही 1,182,13

[3] वही 7.24. 1-2

सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा।।1

राज्य के स्वरूप और प्रकृति का मुख्य ततव प्रभुता ह। प्रभुता अथवा राजसत्ता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह सर्वोपरि शक्ति है जो विधि द्वारा सीमित नहीं होती। प्रभुता प्रभु का मौलिक अधिकार होता है जो उसके पद में अन्तर्निहित रहती है। हिन्दु राजनीतिक विचारकों की मान्यता है कि प्राचीन भारत में धर्म की प्रभुता थी। तुलसी के अनुसार राजा धर्म के अधीन है, अतः प्रभुता मर्यादित है। राम के राज्यभिषेक के अवसर पर मन्त्रिमंडल की स्वीकृति मिल जाने पर भी सामग्री एकत्रित करने की राजाज्ञा दशरथ द्वारा गुरू वसिष्ठ की स्वीकृति के बाद दी जाती है। राजा धर्म से सुशासित है। धर्म सर्वोपरि सत्ता है। राम ने कुलगुरू वसिष्ठ को स्वामी तथा स्वयं को सेवक कहा है धर्म वही है जो वेदसम्मत हो। सत्य रक्षा राजाकाप्रमुख धर्म है। राजा दशरथ कहते हैं कि रघुवंश में यह रीति सदा से चली आई है कि प्राण भले ही चले जायें किन्तु वचन नहीं टलता-

रघुकुल रीतिस सदा चलि आई। प्रान जाहुं बय वचनु न जाई।।2

प्राचीनकाल में राज्य वर्ण तथा धर्म का संरक्षक था। धर्म का संवर्द्धन न सदाचार का प्रोत्साहन और ज्ञान का संरक्षण राज्य का प्रधान उद्देश्य था। अर्थ संवर्द्धन के लिए कृषि व्यापार उद्योग धन्धे की प्रगति आवश्यक है। राष्ट्रीय साधनों का विकास खानों की खुदाई वन भूमि का संरक्षण कृषि हेतु कूप तड़ाग वापी द्वारा सिंचाई का प्रबन्ध अपेक्षित है। संगीत नृत्य चित्रकला द्वारा नागरिकों में सुसंस्कृति का पचार प्रसार आवश्यक है।

तुलसी के काव्य में उपर्युक्त वर्णित राज्य के सभी उद्देश्य स्वीकार किये गये हैं। वेदानुयायी धर्म धुरन्धर राजा प्रतापभानु के धर्म का बल पाकर समस्त पृथ्वी कामधेनु की तरह फलदायिनी हो गई। उनकी सारी प्रजा आधि व्याधि भय रोग शोक और दरिद्रता आदि से रहित होकर सुखी धर्मशील और सुन्दर थी-

---

[1] रामचरितमानस 2, 105,3-6

भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई।।
सब दुख बरजति प्रजा सुखारी। धरमसील सुदर नरनारी।।

रामराज्य में धर्मपथ पर चलने के कारण सभी स्त्री पुरूष सुखी थे। भय रोग और शोक नहीं था।4 दरिद्रता का पूर्णतः अभाव था।5 राज्य आर्थिक दृष्टि से भरपूर था।6 वृक्षफलों से लदे रहते थे।1
पशुओं की दशा उत्तम थी2व्यापार चरम उत्कर्ष पर था। व्यापारी नाना प्रकार की वस्तुएं सजाये कुबेर के समान थे3। राज्य की ओर से घोड़े आदि पशुओं के पानी पीने के लिए पृथक् प्रबन्ध था।4 खानों की खुदाई का प्रबन्ध भी था।5

राजनीति की इन प्रमुख बातों के अतिरिक्त तुलसी ने अन्य छोटी छोटी बातों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार राजा को राज्य के बाहर कभी अपना नाम नहीं बताना चाहिए। अपने शत्रु को कभी छोटा नहीं समझना चाहिए। शत्रुता उसी से करनी चाहिए, जिसे अपने बाहुबल से जीता जा सके।

तुलसी अपने युग की राजनीतिक स्थिति से अत्यन्त दुखी थे। अतः उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से राजाओं को उनके कर्तव्य का बोध कराया। उन्होंने प्रजा को भी पराधीनता से मुक्त होने का संदेश दिया। उनके इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राजनीति के महापण्डित थे।

****

---

[2] वही 2, 28,4
[4] वही 7,20
[5] वही 7,21,6
[6] वही 7,23,6
[1] रामचरितमानस 7,23,1
[2] वही 7,23,5
[3] वही 1,213,3
[4] वही 7,29,1
[5] वही 7,23,7

उपसंहार

भारतीय संस्कृति के अन्नायक गोस्वामी तुलसीदास की काव्य अपने रचनात्मक योग से समाज के प्रतिष्ठित मांग और मूल्यों को जिस रचना कौशल के साथ अपने व्यक्तितत्व का अनिवार्य अंग बना लिया है। उससे विश्व संस्कृतियाँ भारत की ओर मुखातिब होती जा रही है। यह संस्कृति का शुभ पक्ष तो है ही, व्यक्तितत्व के विकास का भी एक रचनात्मक पहलू है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध समाज के बदलते मूल्यों, आचारों-विचारों और मनुष्य के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की जो चेतना रचना के माध्यम से कलागत परिवेश में होनी चाहिए, जिसके चलते काव्य का विकास स्वच्छ जल में दर्पण की भांति किसी भी रचनाकार के व्यक्तितत्व का आकलन कैसे किया सकता है। और वह मनुष्य के लिये कितना सम्प्रेषणीय बन सकता है- प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस दृष्टि से एक विनम्र प्रयास है। इस रूप में गोस्वामी जी का रचनागत परिवेश उनके स्वात: सुखाय के घोषणा के बावजूद भी परान्त: सुखाय का निषेध करता है और वह संस्कृति के नियामक और निर्मायक दोनों साथ-साथ बनते चलते हैं।

गोस्वामी जी की रचना-प्रक्रिया इस दृष्टि से सेवेद्यता साक्ष्य उपस्थित करती है । जिसमें उनका सृजनात्मक निवेदन पाठक को भावविभोर कर देता है । ऐसे पदों की प्रभावशीलता देखते ही बनती है । अनुभूति की वैयक्तिकता का आवेग अपने भक्त के अखंड विश्वास को व्यक्त करते हुए अनेक स्थल पर कवि ने प्रभु की कृपालता का स्मरण दिलाते हुए अपनी वेदना को मार्मिकता प्रदान की है। भक्त भ्रान्ति एवं सांसारिक सम्बन्धों की कटु अनुभूति से उत्पन्न कष्ट को व्यक्त करते हुए इष्ट के चरणाबिन्द में आत्मसमर्पण करता है। अनेक स्थलों पर अपने आराध्य के प्रति अन्नय विश्वास व्यक्त करते हैं।

ऐसों को उदार जग माही।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोऊ नहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
जो गति देत गीध सवरी कँह प्रभु न बहुत जिय ज्ञानी।
जो संपति दसशीश अरप करि, रावन सिव पन्ह लीन्हें।
सो संपदा विभीषन कहं अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।
तुलसीदास सब भाति सकल सुख जो चाहसि मन मेरों।
तो भजुराम, काम सब पूरन करें कृपा निधि तेरो।

यह पूरी प्रक्रिया जिस रूप में कमशः आगे बढ़ती है उस रूप में गोस्वामी जी का समाज-दर्शन लोक-दर्शन का पर्याय बन जाता है और समाज के धर्म, अर्थ, राजनीति, काम और मोक्ष के साथ कलात्मक रूप में प्राण तत्व की वाहिका भी बन जाती है। उनका काव्य समाज दर्शन, का उपजीव्य बन जाता है और इस रूप में सत्यम शिवम सुन्दरम की प्रतीति उनके काव्य का विषय ही नहीं, विषयी भी हो जाता है। यह पूरी प्रक्रिया गोस्वामी जी की रामकथा का गायन ऐतिहासिक रूप में भले ही इतिहास की वस्तु की दृष्टि के रूप में देखा जाय, लेकिन यह कहना गलत न होगा कि उन्होंने समाज के सृजनात्मक पहलू को अपनी रचना-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग ही बना डाला था। तत्कालीन समाज के परिवार, विभिन्न सम्प्रदायों के बीच बढ़ते वैमनस्य, राजनीति के नोंक--झोंक, की कसौटी पर खण्डित होते हुए मनुष्य की स्मिता, सांस्कृति के आदर्श की प्रतिष्ठा जिनसे व्यक्तिगत अनुभव की रचना शीलता को ही गति लेती है । गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पूरी तरह से आत्मसात कर लिया है। जिसमें भक्ति तत्व ज्ञान का नहीं मोक्ष का पर्याय बन कर जीवन की विभीषिका को रेखांकित करने का अवसर देता है और जिसके चलते गोस्वामी जी को खुद अनेक अवरोहों और आरोहों से गुजरना पड़ा होगा। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उन पड़ावों की व्याख्या करने का विनम्र प्रयास है।

गोस्वामी तुलसीदास की कला दृष्टि के प्रथम अध्याय में स्वरूप की व्याख्या विस्तृत रूप से की गयी है तथा कला दृष्टि में कला और साहित्य का अन्तर सम्बन्ध दर्शाया गया है। अन्ता सम्बन्ध के साथ ही साथ रामचरित्र मानस के सौन्दर्य बोध का पूर्णत: परिलक्षित करने का पूरा प्रयास किया गया है। इसी अध्याय में सौदर्य बोध और कला तथा सौदर्य का अर्थरचना और रचना आयाम संकेत रूप और लक्षण-रूप कल्पना का स्वरूप, कलात्मक मूल्य आयाम मनोरंजकता और समाजिक प्रभाव रस और भाव का आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है साथ में सामाजिक दृष्टि के स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ सामाजिक दृष्टि के अन्तर्गत परिवार व्यक्ति स्त्री पुरूष, पति, पत्नी, नौकर चाकर राजा प्रजा आदि के अन्तर सम्बन्ध की शास्त्रीय व्याख्या करने का पूरा प्रयास किया गया है। धर्म का सामाजिक संदर्भ के साथ राजनैतिक, आर्थिक सांस्कृतिक दृष्टि को शास्त्रीय व्याख्या एवं मनुष्य के साम्य का यथा स्थान पर्याप्त स्थान देने का प्रयास किया गया है।

इसी संदर्भ में यह प्रक्रिया अपने मूल चारूत्व के नैतिक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक प्रतिमानों को वस्तु सत्य की यथार्थ रूप के विकृति के साथ अपने सन्शलेषित रूप में सम्पन्न होती है। जिसमें ज्ञान और भाव का आत्म संघर्ष भी होता है। और उसकी परिणति साधन और सिद्ध की स्वत: योग में होती है।

गोस्वामी जी का काल मूलत: दो संस्कृतियों का आत्म संघर्ष है। जिसमें नैतिक मूल्य अपने सांस्कृतिक मूल्य से टकराते है और सांस्कृतिक परिवार धर्म अर्थतंत्र एवं पुरूषार्थ रूप से मिलाकर अपने आध्यात्मिक स्वरूप को व्याख्यापित भी करते है। हां यह अवश्य है कि सांस्कृतियां आरोपित ही हुआ करती गोस्वामी जी के यहाँ विचार स्वत: कलात्मक रूप में सन्शलेषित होते है। गोस्वामी जी अपनी रचनाओं के द्वारा रामभक्ति को जहाँ प्रतिष्ठित किया वही उनसे प्रभावित होकर भक्ति मार्ग के तत्तों की व्याख्या

अध्यात्मिकता और राष्ट्रपिता के मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में किया। इस रूप में उन्होंने राम का आदर्श समाज के सामने रखा और रामोपासना की उचित दिशा तत्कालीन युगपुरूष प्रदर्शित भी किया। समाज की विश्रंखलता को लच्छित कर जहाँ भक्ति मार्ग को योग सग्राहक रूप दिया वहीं लोक मंगल की प्रतिष्ठा के निमिन्त समन्वयवाद का भी सहारा लिया।

यह पूरी प्रक्रिया इस रूप में गतिशील हुई कि उनकी सामाजिक दृष्टि उनकी कला दृष्टि की अनुर्वतनी सिद्ध हुई। निः संदेह तुलसी के साहित्य पर भक्ति की एक तीव्र छाप परिलक्षित होती है। क्योंकि भक्ति तुलसी का लक्ष्य है। और जिसके विशद प्रभाव के कारण ही देवराज जी मानने पर विवश हुए है कि ''तुलसीदास का चिन्तित या अभीष्ट उद्देश्य मानवता केजीवन अथवा अन्तविकारों को चिन्तित करना नहीं है। अपने प्रधान ग्रन्थ 'रामचरित मानस में 'सचेत भाव से वे जिस जगत का चित्र खीचना चाहते थे। वह मुख्यतः धार्मिक एवं पौराणिक कल्पना द्वारा निर्मित जगत था। मानव जगत नहीं। तुलसी का जगत प्रधान रूप में देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों, भक्तों और सन्तों तथा भगवान प्रधान और उनके कृपापात्रों के अलौकिक व्यापारों का जगत है। उनके अधम पात्र उतने ही अलौकिक है जैसे कि धार्मिक पात्र वह साधारण नर नारियों के साधारण लौकिक जीवन और मनोविकारों को बहुत सीमित स्थान है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की राम कथा प्रायः इस लोक की कथा है। अतः यह संभव है कि गोस्वामी जी उसे विशुद्ध लौकिक धरातल पर वर्णित करते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। पूरे मानस में केवल अयोध्याकाण्ड ही वह भाग है, जहाँ रामकथा मानवीय धरातल पर चलती है। शेष स्थलों पर वह प्रायः धार्मिक एवं अलौकिक संकेतों से भरी है। वहाँ मानवीय प्रसंगों को भी अलौकिक धार्मिक भावनाओं के आरोप द्वारा अतिसंभव बना दिया गया है। लेकिन ऐसा बिल्कुल गलत ही नहीं है कि मानवीय प्रसंग नहीं और सब कुछ

अति मानवीय ही हो। स्वयं देवराज जी मानवीय प्रसंगों का उल्लेख करते है। भक्ति के आवरण में और अलौकिकता के परि पार्श्व में तुलसी में ऐसे स्थलों की कोई विशेष कमी भी नही है। जहाँ लौकिकता कम हो और इन्हीं लौकिक तथ्यों का हवाला न हो-'रामचरित मानस के' बालकाण्ड 'निज पानि मानि मंहु, देखिअत मूरति सुरूपनिधान की।
चालति न भुजबल्ली, विलोकनि, विरह भयबस जानकी।

गोस्वामी तुलीसदास जी ने इस तरह की जिन संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है वे लौकिक ही है। और उनके ऊपर किसी अलौकिकता का दबाव नहीं किया जा सकता। इसी तरह तुलसी जिन सामाजिक स्थितियों का वर्णन करते है। वे भी लौकिक ही है। और उन पर किसी अतिमानवीयता को खोजना भ्रामक होगा। चाहे वह मध्यकला की कारूणिक आर्थिक स्थिति की प्रस्तुति हो

''खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि।
वनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोचावान।
कहें एक एकन सो कहां जाई का करी।
अथवा, अनाचार, अत्याचार से मुक्त विश्रंखल समाज का चित्र हो।
जो बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि हुई गृ सम्पति नासी। मूड़ मूड़ाए होंहि सन्यासी।
ते विप्रह सन आयु प्रजावहि। उभय लोक निज हाथ नसावहि।
विप्र निरच्छर लोलुप कार्मा। निराचार सढ़ बृषली स्वामी।
शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।
सब नर ककल्पित करहि अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा।
''निपट बसेरे अद्य औधुन धनेरे नर,
नारीअ अनेरे जगदम्ब चेरी-चेरे है।

दारिद दुखारी देवि भुसुर भिखारी भीरू

लोभ-मोह-काम क्रोध कलिमल घेरे है।

यहाँ पर कहना भी पूर्णता सही नहीं होगा कि तुलसी साहित्य में साधारण लौकिक जीवन और सामस्त मनोविकारों को बहुत सीमित स्थान ही है। क्योंकि तुलसी स्थान स्थान पर 'कथ्यानुरूप' और आवश्यकतानुसार लौकिक जीवन और मनोविकारों के अत्यन्त उत्कृष्ट, भाव प्रवण और सौदर्यशील दृश्यों का विधान किया है। उदाहरण के लिए वे राम बनवास पर समान्य जन के क्षोभ का उत्यन्त सुन्दर चित्र उभारते है।

'विकल वियोग लोग पुरातिप कहें, अति अन्याऊ अली आदि और इसी तरह वन मार्ग पर सहज ग्रामीण नारियों की उत्सुकता के प्रत्युत्तर में सीता की प्रतिक्रिया को नितान्त स्वाभाविक और लौकिक रूप में शब्दबद्ध करते है। मनोविकारों के चित्रण में चाहे वह हर्ष की स्थिति हो जैसे भरत मिलाप था। वह विषाद की स्थिति हो, जैसे राम बनवास प्रसंग, सीता हरण या फिर लक्ष्मण के आहत हो जाने पर राम का विलाप है।

''मेरो सब पुरूपारथ थाको।

विपत बटावन बंधु, बाहु बिनु करो भरोसों काको।

गिरि कानन जैहैं शाखामृग हो पुनि अनुज संधाती।

ह्वै विभीषण की गति रही सोच भरि छाती।।

यहाँ भी तुलसी ने लौकिकता का त्याग नही किया है। बल्कि लक्ष्मण शक्ति प्रसंग में तो उपर्युक्त पंक्तियों में वे राम को भाई से अधिक मित्र के लिये चित्र दिखते है। मानवीय कातरता क्षोभ ओर विषाद की इतनी सक्षम पुस्तृति लौकिक धरातल पर ही सम्भव थी। एक बात यह अवश्य है जिसमें देवराज जी से असहमति नहीं हो सकती कि उपर्युक्त समस्त चित्रण में मध्यकालीन जन के जीवन और दूसरो शब्दों में मानवतावादी चिन्तन की तुलना

में भक्ति के परिपार्श्व में मानववादी चिन्तन को प्रमुखता नही है क्योंकि तुलसी का वास्तविक ध्येय तो राम की कथा कहना है।

''तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा, कहिहऊ नाइ राम पद माथा।

और वह भी सबके सुख के लिये :-

''स्वत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाया-

भाषा निबन्धभाति मन्जुल मात नेति।

लेकिन वह उस राम की कथा कहते है। जिसने सामाजिक कल्याण के लिये अवतार लिया है।

''विप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।

चूकि तुलसी के श्रद्धेय राम ने मनुज औतार लिया है। इसीलिये तुलसी मानते है। कि मनुष्य के रूप में जन्म लेना अत्यन्त सौभाग्य की बात है।

''बड़े भाग मानुष तन पावा''

मानव यहाॅ तुलसी के चिन्तन में सर्वोपरि और केन्द्र में आ जाता है। और तुलसी उसके माध्यम से विभिन्नय लीलाओं की योजना करते है। इसलिये एक सीमा तक यह मानना भी तर्कसंगत न होगा कि तुलसी ने लौकिक जीवन की अलोकिक प्रस्तुति ही की है। वस्तुत: एक और लौकिक वा अलौकिक कारण भी है। इस क्रम में अविनाशी और पर ब्रम्हा राम की कथा के प्रमुख होते हुए भी तुलसी ने सामान्य मानव जीवन और साधारण सामान्य जन की नितान्त उपेक्षा ही नही की है बल्कि रामकथा के सम्पूर्ण परिदृश्य में मानव जीवन के विभिन्न पक्षों की प्रस्तुति भी की है। कलियुग के दारूण स्थिति के चित्र तो विशेष रूप से सामान्य जन की चिन्तन का प्रतिबिम्ब है। इसलिये माना जाता है। कि तुलसी ने रामकथा के अन्तर्गत साधारण जन के अपने सुख: दुख अपने हर्ष, उल्लास उसकी अपनी आशा आकांक्षाओं को इस तरह एकर्मके कर दिया है कि लोकमानस एक स्तर पर उसमें राम को देखता है दूसरे पर खुद को को प्रतिबिम्बित पाता है लेकिन दूसरी ओर यह भी

इतना ही सही है कि तुलसी अपने युग की जिसे ऐतिहासिक त्रासदी तथा कठोर यर्थाथता को बेहद भोगते रहे है उसे रामकथा के मिथिकीय काल में भव्य आनंद में डाल देते रहे है। यह उलटाव और भव्य आनंद उस भक्ति का अग था। जिससे सामन्तवादी समाज व्यवस्था में जीवन के लगभग तमाम पक्ष जुड़ हुए थे। जिसकी छाप आम जीवन के प्रत्येक पहलू पर थी ओर इस क्रम में मानववादी चिन्तन भी उससे अछूता न था क्योंकि तुलसी भले ही सामान्य जीवन और आम आदमी का चित्रण क्यों नकरे उनके राम भले ही अनुज क्यों न ही न हो लेकिन अवतार भक्ति की स्थापना और भक्तों के हित के लिए ही लेते है।

''सोई रामु व्यापक ब्रम्ह भुवन निकाय पति माया धनी।

अवतेरऊ अपने भगत हित निजतन्य नित रघुकुल मनी।

राम का अलौकिक स्वरूप समस्त लौकिकता के साथ साथ चलता रहता है। इसी भक्ति पारक ओर आध्यात्मिक तथा धार्मिक परिप्रेक्ष्य में तुलसी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें लौकिकता और मानवीय मूल्यों की योजना करते है। भक्ति काल के अन्य भक्त रचनाकारों की भांति ही उपर्युक्त परिदृश्य में तुलसी भी काव्य की मात्र आनंद का उत्सव नही समझते अपितु उनका प्रतिपाध भी रामकथा के बहाने से भक्ति का प्रचार और भक्ति के ही दायरे में मानव का कल्याण था भल ही वे अपने साहित्य को कितना ही 'स्वत: सुखाय क्यों न घोषित करे भक्ति और लोक कल्याण, इन्ही दो आधारों को मिलाकर उन्होंने एक आदर्श मानव और एक आदर्श व्यवस्था कि परिकल्पना की उन्होंने राम कथा के माध्यम से रामकालीन अधिक सामाजिक धार्मिक राजनीतिक स्थितियों आदि की समीक्षा करते हुए बेहतर समाज व्यवस्था की रचना का प्रयास किया। इसी बात को डॉ0 मेघ्र इस प्रकार कहते है। कि तुलसी ने सामन्ती समाज तत्वों और उनके अन्तर्विरोधों को समझते हुए समाज का एक कार्यकारी माडल गढ़ा सा है। जिसके माध्यम से उन्होंने सुख्र लोक

कल्याण और सामन्तवादी व्यवस्था का एक मापदण्ड और अर्दश स्थापित करने की कोशिश की ।

पहली बात तो उपर्युक्त प्रसगमें यही है कि उन्होंने राम को सामान्य मानव रूप में भी प्रस्तुत किया, एक ऐसे मानव के रूप में जो सम्पूर्ण मानव जाति और मानवता के रक्षक तथा प्रतिनिधि बनकर सामन आते हैं

''असुर मारि थापहि सुरन्ह, राखहि निज श्रुति मेतु।

जग विस्तारहि विषाद जस, रामजन्म कर हेतु।।

''सुर नरि मुनि करि अभ्य दनुज हति, हरिहि धरनि गुरूआई।

कीर्रति विमल विस्व अद्य मोचनि, रहिहि सकल जग छाई।

और उनका मानवीय स्वरूप ही मानवता का 'महान लक्ष्य' और उसका चरम बिन्दु प्रतीत होने लगता है

''देव सत्य सधान निर्वानप्रद, सर्वेहित सर्वगुन ज्ञान विज्ञान साली।

सघन तम घोर संसार भर सर्वरी, नाम दिवसेस खर किरनकाली।

''देव नित्य निर्मम नित्य मुक्त, निर्मान, ज्ञान धन सचिदानंद मूलं।

सर्वरक्षक सर्वमक्षकाध्यक्ष, कूटस्थ गूढ़ाचि भक्तानुकूल।

ऐसे ही चरित्र को ''टिपिकल कैरक्टर'' की संज्ञा से अभिहित करने का प्रयास करते है। जो चरम पात्र हो, विशिष्ट होकर भी सामान्य और सामान्य होकर भी विशिष्ट हो परन्तु दैवीय न हो। वस्तुत: तुलसी के राम अपनी अलौकिकता और मानवीयता के बीच एक सामन्ती धार्मिक टिपिकल कैरेक्टर ही अधिक है भक्ति युगीन सामन्ती समाज की नजर से उनका मिथिकीय दैवीय पा ईस्वरीय होना नितान्त स्वाभाविक है। लेकिन वे मात्र मिथिकीय पा दैवीय ही नही है। वहाँ मर्यादावादी मनोवृति में भी राम का परब्रम्ह माना गया है। किन्तु वे लोक मंगल के लिये कामना साधना करते है। अत: वे परब्रम्ह के दार्शनिक प्रतीक से अभिषेकित होकर भी मर्यादा पुरूषोत्तम के यथार्थ कर्मो के वास्तविकता से भी है। इस दृष्टि से नि. सन्देह राम के दो बिलकुल अलग से रूप देवता और मानव बनते है। जिनमें दुसरा

रूप सामन्ती मानस को मानवीय मूल्यों की स्थापना की और आकृष्ट करता हुआ आभासित होता है।

वास्तविकता यही है। कि तुलसी जो जन कल्याण और मानवता और मानव बाद के जिस स्वरूप को प्रस्तुत करना था उसके लिये एक ऐसे चरित्र की आवश्यकता थी जो आम जनता के साथ साधारणीकृत भी हो सके, जन सामान्य जिसमें स्वय को खोज और पहचान भी सके। यह तभी सभव था जब राम के कार्य व्यापारों की प्रस्तुति मानवीय धरातल पर की जाती तुलसी ने ऐसा ही किया:

''खीक्षहू में रीझवे की बानि राम रीझत है रीझें हवै हैं।

साथ में राम जी को मानवीय स्वरूप भी प्रदान किया है।

''भगत भृमि भुसर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।

करत चरित्र धरि मनुज तनु सुनत मिटहि जग जाल।।

लेकिन राम का मात्र सामान्य मानव होना ही लाभदायक नही था। क्योंकि आदर्श की स्थापना सामान्यता से नहीं विशिष्टता से होती है। इसीलिये अधिक दोष मुक्त और गुणयुक्त हो सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं में उनकी लोकयुक्ति के संदर्भ में स्व0 श्री मैथिली शरणजी गुप्त कि उक्त पंक्तियां उदघृत कर रहा हूँ।
''मानते है जो कला के अर्थ ही स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

साकेत प्रथम सर्ग इस प्रकार दो आतियां आती है। एक में निर्माण और दूसरे में परिणाम या एक में कला और दूसरे में उपादेयता ही चरम लक्ष्य हो जाती है। निर्माण या कला पक्ष की मान्यता आनंद प्रदान करने में है। उससे किसी प्रकार की उपयोगिता या शिक्षा प्राप्त करना नहीं है। श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है। कि विश्व कि अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का प्रकाश है । उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं, उसके अलौकिक माया चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनंद के झंकार से बज उठती है। वहीं हमारे लिये परम लाभ है। कला के भीतर किसी तत्व की खोज

करना सौदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है। निर्माण पक्ष का सर्मथन करते हुए प्लेटों ने भी कहा है। कि काव्य कला या कला का प्रयोजन है आदर्श सृष्टि की रचना का अनुसन्धान करना और काव्य को इतना मनमोहक तथा प्रभावशाली बना देना जिससे पाठक आत्म विस्मृत के आवरण में उनके अनुसार ही आचरण करने के लिये बाध्य हो सके आस्कर वाइल्ड प्रभृति विद्वान का कथन है कि कला का कार्य सौन्दर्य की श्रृष्टि करना है। तथा सौन्दर्य मिव्यक्ति ही कला है। कला की अभिव्यक्ति करना तथा कलाकार को छिपाये रखना ही कला का लक्ष्य है। ज्ञान ड्राइडेन तथा लोहन्द भी कला के आनद पक्ष के समर्थक रहे है। आनद का समर्थन करते हुए कार्लारिज का भी मत है कि काव्य या कला की रचना वह विद्या है। जिसका उद्देश्य विज्ञान के प्रतिकूल सत्य का उदघाटन करना नही अपितु आनद देना है। इटली के सिसिरो ने डैकोरम और अधता पर और लौजाइनस ने भावना के उदान्ती कारण पर बल दिया है। इस प्रकार कलावाद का समर्थन उतरोक्तर होता रहा। काव्य में कलावाद का अर्थ कला पक्ष की अवधारणा है। कलावासियों के अनुसार कला जीवन से पलायन के निमिन्त है। वह मनोरंजन तथा आनंद प्रदान करने के लिये होती है। मन में अन्तरनिहित यह वह आवश्यक तत्व है। जिसकी पूर्तिकला रचना के द्वारा पूर्ण होती है। घोर कलावादियों के अनुसार कला के उद्देश्य कला में अतिरिक्त और कुछ नहीं। कला कला के लिये होती है। इसमे स्पष्ट है। कि कला का सम्बन्ध नैतिकता अथवा किसी ऐसी बात से नहीं जिससे जीवन अपने लिये और दूसरों के लिये उपयोगी बन सके। कलावादी तो सौन्दर्य की अनुभूति के द्वारा आनंद के अभिलाषी होते है।

कला को उपादेय कहने वाले विचारकों ने कलावाद को शुष्क नीरस बताते हुए उसके उपयोगिता पर ही अधिक विचार विश्लेषण किया है। उनका मत है कि कोरी शुष्कता मानव समुदाय के लिये अहितकर है। इसलिये कला में उपयोगिता का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। इस विचारधारा के

पोषक कला को जीवन के लिये जीवन में प्रवेश के लिये सेवा के लिये तथा आत्मानुभूति के लिये मानते है। गोस्वामी तुलसीदास भी प्रस्तुत मत केही समर्थन में दृष्टिगोचर होते है। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि

''कीरत भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सब कहं हित होई।

इसलिये कला का महत्व उसकी उपादेयता में है क्योंकि यदि कला का उद्देश्य मात्र मनोरंजन का आनद है तो कला मादक पदार्थ है एकान्त सौन्दर्य की भावना है जो बौद्धिक जगत के लिये विष है।

कलावाद और जीवनवाद अपने अति व्यापी रूप में सत्य और तथ्य से दूर रहते है यदि कलाकार शिव की अवज्ञा करके माात्र सौन्दर्यात्मक ही रहेगा तो नैतिक पतन की आशंका विद्यमान रहेगी। दूसरी तरफ यदि कोई कलाकार सौन्दर्य को छोड़कर मात्र नैतिकता के प्रतिपादन में लीन हो जाए तो भी कला-कलानहीं रहेगी इसलिये कला में कलावाद और जीवनवाद का अनूठा सामाजस्य ही कला के वास्तविक स्वरूप को सुरक्षित रख सकता है। किसी एक पक्ष की प्रधानता उसकी एकागिकता का ही बोधक होगा। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार ''सौन्दर्य की मूर्ति ही पूर्ण मंगल की मूर्ति है। ओर मंगल की मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है। ''वस्तुतः कला के महत्व के लिये यही विचारधारा सर्वमान्य है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का कला सम्बन्धी मत .

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में भारतीय संस्कृति का जो व्यापक और गम्भीर रूप मिलता है। उससे पता चलता है कि वे स्वयं भी भारतीय संस्कृति के मूर्त रूप थे इसलिये उनका यह कथन है कि

''कविता विवेक एक नहि मोरे।

सत्य कहौ लिखि कागद कोरे।।

उनके विनय की ही सूचना देता है। वे पुनः कहते है कि

''कवि न होऊ नहि बचन प्रवीनू

सकत कला सब विद्या हीनू।।

यह भी उनकी शालीनता का ही द्योतक है। जो व्यक्ति निगमागम का सार संकलित करने के लिये कृत संकल्प है। उसे कला और विद्या से रहित कैसे माना जा सकता है। उलटे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कवित विवेक और कलात्मक औदात्य के प्रति सर्तक थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "जो प्रबन्ध बुध नाहि आदर हीं। सोश्रम वादि बाल कवि कर ही

इससे स्पष्ट हे कि रचना करते समय उनके सामने प्रबुद्ध पाठक अवश्य रहे होंगे अपरितोपत विदुषा कहकर कलिदास ने भी इसी ओर संकेत किया है। बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही गोस्वामी जी ने लिखा है।

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती शारदा कहहि सुजाना।।
जो बरषइ बार बारि विचारू । होहि कवित मुक्तामनि चारू।।
जुगुति बोध पुनि पोहिअंहि, राम चरित्र बरताग।
पहि रहि सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग।।

अर्थात बुधजनों का मत है कि हृदय सिन्धु है, मति पर बुद्धि सीप है। शारदा स्वाति नक्षात्र के समान है। इसमें यदि श्रेष्ठ विचार रूपी जल बरसता है तो मुक्तामणि के समान सुन्दर कविता उत्पन्न होती है। उन कविता रूपी मुक्तामणियों को युक्ति से बेंधकर फिर रामचरित्र रूपी तागे में पिरोकर सज्जन लोग अपने निर्मल हृदय में धारण करते है। जिससे अत्यन्त अनुराग रूपी शोभा प्राप्त होती है। इसमें हृदय और बृद्धि पक्ष दोनों पर समान रूप से बल दिया गया है। मुक्तामणि सम्पूर्ण काव्य की निर्मित है। मुक्तामणियों को युक्ति पूर्वक बंधना और उन्हें धागे में पिरोना, एक क्रम देना है। कलागत सतर्कता का प्रमाण है।

काव्यांग स्फटिक खण्ड के समान होते है। उन्हें युक्ति पूर्वक सजाये जाने पर ही कोई कविता कान्ठहार बन सकती है। युक्ति अर्थात कला ही किसी कविता को आर्कषक एवं मनोहारी रूप प्रदान करती है। इससे विहीन कविता मात्र स्फटिक खण्डों के ढेर के समान होती है। वास्तव में गोस्वामी

जी द्वारा प्रयुक्त यही जुगुति ही अपने व्यापक रूप में अभिव्यक्ति कौशल या कलात्मक विधान है। इसी युक्ति युक्तता के कारण ही किसी कविता में वह अनूठा रूप माधुर्य संयोजित हो उठता है जिसे पाठक काव्यहार के सद्रश श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से उपयोग कर उसका आनंद लेते है।

गोस्वामी जी के 'जुगुति मजुमनि सीप सुहाई' के कथन से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है। इसमें भी कविता की उक्तियों को सुन्दर मणि उत्पन्न करने वाली सुहावनी सीपियां कही गयी है। जिस प्रकार सीपियों के अभाव में मणि का निर्माण असंभव एवं दुरूह है। उसी प्रकार युक्तियों के अभााव में सुदर कविता का निर्माण असमकाव्य है। इससे विदित होता है कि युक्त्यिों अर्थात रचना कौशल को कव्य जगत में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रचना कौशल या कला से ही भाव रमणीयता एवं कमनीयता को प्राप्त करते हैं । इसलिये काव्य तत्वों का अलग से कोई महत्व नहीं। यदि उन्हें सजोने का ढंग नहीं है तो यह उक्ति उन्ति वैचिम्य का द्योतक नही है। बल्कि कलागत सचेतन व्यापार का सूचक है जिसे इस काव्य शास्त्रीय भाषा में ग्रन्थन कौशल या नई अलोचनात्मक भाषा में अन्तर्गठन का कौशल भी कह सकते है।

बालकाण्ड के प्रारम्भ में तो गोस्वामी जी ने विषय वस्तु को गौण स्थान प्रदान कर कला का ही सर्वोच्च स्थान प्रतिपादित करते हुए निर्देश किया है कि ''सिपनि सुहावनि टाट पिटोरें'' अर्थात रेशम कि सिलाई टाट पर भी सुहावनी होती है यहाँ पर कलात्मक रचना या रचनात्मक कला कौशल का श्रेष्ठ रूप दृष्टिगत होता है। क्योंकि रेशम की सिलाई अर्थात रचना कौशल विषय वस्तु तुच्छ होने पर भी सुहावना एवं आर्कषक होता है।

काव्य चारूत्व के लिए कलाकार को जिन्ह युक्ति प्रकारों अथवा कला तत्वों कीी आवश्यकता होती है उसका भी निर्देश गोस्वामी जी ने यथा स्थान समुचित रूप मे किया है ।

भावों को मनोहारी रूप देने के लिये कवि या कलाकार अनेक रमणीय युक्तियों का सहारा ग्रहण करता है। काव्य को शब्दार्थ कहने से अभीष्ट है कि कविता शब्द और अर्थ के सहभाव से युक्त रचना है। शब्द विन्यास और अर्थ व्यजना से सम्बन्धित सम्पूर्ण सौन्दर्य विधान काव्य का कला रूप है। तुलसी की निम्नकित उक्तियों में कला के विभिन्न तत्वों का निर्देश मिलता है

(1) आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना -रा. म. 119/21

(2) कवित दोष गुन विविध प्रकारा। रा. मा. 119-5

(3) भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। रा मा. 1 10 2

(4) जुगुति बधि पुनि पोहिअहि राम चरित्र बरताग। रा. मा. 1-11

(5) कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई। रा. मा. 1-33-1

(6) सुठि सुन्दर मम्वाद वर विरचे बुद्धि विचारि। रा. मा. 1-36

(7) उपमा बीचि विलास मनोरमा। रा. मा. 1-33-1

(8) जुगुति मजु मनि सीप सुहाई। रा. मा. 1-36-2

(9) छन्द सोरठा सुदर दोहा। रा. मा. 1 36-3

(10) अरथ अनूप सुभाव सुमासा। रा. मा. 1-36-3

(11) धुनि अबरेब कवित गुनजाती। रा. मा. 1-36-4

(12) सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे रा. मा. 2-294-1

(13) व्यास समास स्वमति अनुरूपा। रा. मा. 6-123-1

(14) उघटहि छन्द प्रबन्ध गीतपद रागतान बन्धान। गीतावली 2-15

उपयुक्त संकेतों के आधार पर निम्न तत्वों का निरूपणय और निर्धारण किया जा सकता है।

शब्दार्थ सन्तुलन :

गोस्वामी जी ने काव्य और कला के लिये शब्दार्थ सन्तुलन कि अनिवार्यता प्रतिपादित की है। ''वर्णनर्माथ संघ्रानाम'' आखर अरथ अलंकृति

नाना, कविहि अरथ आखर बलु सांचा, आदि पंक्तियां शब्दार्थ सन्तुलन की पुष्टि करती हुई परिलक्षित होती है। गोस्वमी जी शब्द और अर्थ को सीताराम की तरह अभिन्न मानते है।

'' गिरा अरथ जल बाँचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

बन्दो सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न। म. । 18 दोहा।

अत: यही शब्द और अर्थ का सहितत्व भाव काव्य और कला में समान रूप मे इष्ट है। जहाँ शब्दों और अर्थो में अपनी अपनी चारूता के लिये तीव्र स्पर्धा होती है। वहीं से कला का उदय माना जाता है। इस दृष्टि से तुलसी का काव्य 'महती कला' का सर्वोच्च निर्देशन है। क्योंकि सचेत कलाकार तुलसी के दो ही साधन पर्याप्त थे। शब्द और अर्थ। इन्ही दोनों के औचित्य एवं आर्कपक अवगुम्फन से कलात्मकता का अर्विभाव होता है। शब्द के अभाव में अर्थ के आश्रप, वैविध्य और वैशिष्टय का अभाव होता ह शब्द के गति के बिना अर्थ की गति नहीं होती उसका नियमन नहीं होता उसका आकार नहीं होता। इसलिये काव्य को शब्दार्थो से विभूषित किया गया है। और शब्द अर्थ के अनूठे एवं मनोहारी गठबन्धन को ही कला की संज्ञा दी गयी है। शब्दार्थ सन्तुलन में अभिप्रेत वाच्य, लक्ष्य और व्यंग अर्थो की सम्यक अभिव्यक्ति के लिये सटीक वाचक लाक्षक और व्यन्जक शब्द प्रयुक्त होते हैं।साथ ही उनकी आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का भी यथोचित निर्वाह रहता है अत: अभिधा लक्षण ओर व्यंजना शब्द शक्ततियों के द्वारा विभिन्न अर्थो का प्रतिपादन ही शब्दार्थ सन्तुलन है।

प्रबन्ध कल्पना :

गोस्वामी तुलसीदास का कथन 'छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना प्रबन्ध काव्य के व्यापक अर्थ की सूचना देता है। यहाँ गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त प्रबन्ध शब्द रचना या काव्य के रूप में अर्थो में ही प्रयुक्त है। क्योंकि गोस्वामी जी ने 'रामचरित मानस' को निबन्ध तथा उसके प्रत्येक सोपान को प्रबन्ध कहा है।

''स्वतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।

भाषा निबन्धमति मन्जुल भात नेति। 1-1-6

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। 1-36-1

अतः काव्य रूपों के अर्न्तगत विद्वानों द्वारा मान्य प्रबन्ध, निबन्ध और मुक्तक सभी का प्रयोग गोस्वामी जी ने कलात्मक विधान के लिये ही किया है। उक्त सभी काव्य रूप अपनी अपनी निजी विशेषताओं को सजोये हुए उचित सन्निवेश के साथ काव्यकला के सौन्दर्य की भी वृद्धि करते हुए प्रतीत होते है। जो प्रबन्ध बुध नहि आदर ही और कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई जैसे कथन से भी गोस्वामी जी द्वारा निरूपित प्रबन्ध सौन्दर्य और कलात्मक सर्तकता की पुष्टि होती है।

अलंकार विधान :

सस्कृति के प्राचीन मनीषियों ने जिस अलंकार के सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है। सौदर्यमलकार: उसी मत का समर्थन गोस्वामी जी ने उपमा बीचि विलास मनोरम के कथन द्वारा की है। अलंकार काव्य का सौन्दर्यवर्धक तत्व है। इसमें किसी भी विचारक का मत नही है। अतः गोस्वामी जी ने भी प्राचीन उपादेय सर्व मतों का तिरस्कार नहीं किया और उपमाओं को तरंगों का मनोहर विकास मानकर अलंकारों को काव्य सौन्दर्यवर्धक उपदेयता ही प्रतिपादित की है। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त यहाँ 'उपमा' शब्द का अभिप्राय मात्र उपमा अलंकार से ही नही है। अपितु अलंकारों का प्रयोग सुडौल दीवार पर पलास्टर का कार्य करता है। अलंकार प्रयोग से ही विचार तथा भावों का स्पटष्टीकरण तथा रस की तीव्रानुभूति भी होती है। अलंकार के इन्हीं सौन्दर्य व्यापारों को लक्ष्य में रखकर गोस्वामी जी ने उपमाओं को तरंगों का मनोहर विलास कहा है।

ध्वनि अवरेब कवित गुन जाती, के कथन में गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त 'अवरेब' शब्द वक्रता के भाव का ही बोधक है। यह बक्र उक्ति या चातुर्य गर्भित उक्ति काव्य में सौन्दयर्वधक होती है। साधारण रूप में कही गयी

उक्ति इतनी आर्कषक नहीं होती। जितनी कि वैचियपूर्ण उक्ति इसलिये वक्रोन्ति में एक विशेष चमत्कार होता है। वक्रोन्ति सिद्धान्त के प्रबल सर्मथक कुन्तक नेजिस वक्रोन्ति को अलौकिक चमत्कार विधायिनी वैदग्ध भगी भणिति कहा है। उसी का सर्मथन गोस्वामी जी ने भी निम्नलिखित उक्तियों से किया है।

गति क्रूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथकी' 1

अर्थात पवित्र भावों से लदी हुई कविता की गति पवित्र जल को धारण किए हुए नदी की चाल की तरह टेढ़ी होनी चाहिए।

'भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ' कथन से भी स्पष्ट परिलक्षित है कि श्रेष्ठ कवियों की कृति में कथन विचित्र होना चाहिए। विचित्र मणिति या कथन से काव्य की कमनीयता द्विगुणित हो उठती है।

'वक्र-उक्ति धनु वचन सर हृदय रिपु कीस'।

से भी काव्य में वक्र उक्ति के सौन्दर्य की ही पृष्टि होती है।

अन्य काव्य शोभा विधायक धर्मो की भांति गुण भी माना जाता है। इससे भी काव्य सौन्दर्य में एक अनूठा या आर्कषण और चमत्कार उत्पन्न होता है। गुण सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आचार्य वामन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। कि गुण ही काव्या शोभा विधायक धर्मो में वरिष्ठ है। 'काव्य शोभाया: कर्तारौ से धर्मागुणा: (2) प्रस्तुत मत से सहमत भरत ने भी लिखा है कि रासो पर आश्रित रहने वाले गुण काव्य शैली को समृद्ध करते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य शोभावर्धन में गुणों का एक महत्वपूर्ण एवं वरिष्ट स्थान है। आचार्य दण्डी ने गुणों की संरचना दस मानी है। (3) वामन ने भी काव्यालंकार सूत्रवृति में गुणों की संख्या दस ही मानी है। लेकिन अधिकांश विद्वानों ने मुख्य तीन ही गुणों को स्वीकार किया है। जो क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद है।

कवित्त दोष गुन विविध प्रकाश, कथन से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी भी गुण और उनके विविध प्रकारों से परिचित थे। इसलिये स्वयं भी गुण को

काव्य शोभा विधायक धर्म मानकर उनका यथोचित प्रयोग स्पष्ट रूपेण किया है।

उनकी विनम्र उक्ति 'भनिति मोर सब गुन रहित' में भी प्रकारान्तर से गुण एव उनके भेदां का ही समर्थन दृष्टिगत होता है। 'धुनि अवरेब कवित्त गुन जाती कथन स भी पूर्वोक्त मतों की ही पुष्टि होती है।

आचार्य दाण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यार्दश: में अभिव्यक्ति नैपुण्य की दृष्टि से वाड्.मय की दो विधाए स्वीकार की है। प्रथम स्वभोगवित, द्धितीय वकोक्ति। जहाँ किसी के स्वाभावोक्ति गुण-दशा, व्यापार और प्राकृतिक कृत्य अथवा क्रिया आदि का स्वाभोक्ति वर्णन हो वह स्वाभावित और साधारण कथन से इत्तर विलक्षण कथन द्वारा भूमि का विशिष्ठ वर्णन वक्रोक्ति है। प्रथम वाड्.मय स्वभावोक्ति को ही दण्डी प्रभूति विद्वानों ने जाति माना है।

'स्वभावोक्ति रच जाति रचेत्पाधा सांलंकृतिर्यथा। 2

गोस्वामी तुलसीदास ने भी धुनि अवरेब कवित गुन जाती में जाति शब्द द्वारा इसी स्वभावोक्ति का समर्थन किया है। जो डॉ0 उदयभान सिंह आदि विद्वानों को भी मान्य है। पर जाति शब्द को जिस संदर्भ में रखा गया है। उससे उसका अर्थ स्वभावोक्ति नहीं निकलता 'सरल कवित' को स्वाभावोक्ति के हाते में ढकेल देना भी गोस्वामी जी पर अपनी अलंकारवादी प्रवृत्ति को लादना है।

अधिकाश विद्वानों ने 'जाति' 'शब्द' को 'वृत्ति' अर्थ में ग्रहण किया है जो अधिक समीचीन प्रतीत होता हे। वृत्तियों का एकमात्र आधार वर्णनुप्रास है। विद्वानों ने वृत्ति के तीन कोरियों में विभाजित किया है। जो कमश: नागरिका उपनागरिका और ग्राम्या है। इन्हें कमश: परूषा ललिता और कोमला नामों से भी अभिहित किया जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी अक्षर की विशेषता में प्रस्तुत वृत्तियों का ही संकेत करते हुए परिलक्षित होते है। अत: कथन 'मृदु मंजु कठोर' में कठोरे मंजु और मृदु द्वारा क्रमश: इन्ही वृत्तियों का समर्थन द्रष्टिगत होता है।

जल की भांति तरंगमाला की सुषमा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि छंन्द गति, पति, माभा, वर्ग, गठन लय, चरण आदि की निश्चित व्यवस्था का नाम है। अथवा काव्य में प्रयुक्त होने वाले वर्ण माभा, पति आदि के संघटन को छन्द कहते है के अनेक भेद प्रभेदों का वर्णन विद्वानों द्वारा किया गया है। लेकिन सभी छंन्द दो कोटि में रखे जाते छंद है। प्रथम वर्णिक द्वितीय मार्मिक।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ''छंन्द प्रबन्ध अनेक विधाना'' के कथन के द्वारा छंन्द तथा अनेक विभिन्न प्रकारों की तरफ ही संकेत किया है। गोस्वामी जी ने छंन्दों का प्रयाग कविता मं विशेष लालित्य उत्पन्न करने के लिये ही किया है। क्यांकि उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि

''छन्द मोरठा सुन्दर दोहा। सोई बहुरंग कमल कुल सोहा''

अर्थात जिस प्रकार कमल सरोवर का सौन्दर्य कई सौ गुना बढ़ा देने में सार्मथ्यवान है। उसी प्रकार छंन्द भी काव्य सौन्दर्य को कई गुना अधिक बढ़ा देता है। इसलिये छंन्दों को गोस्वामी जी ने रंग-विरंगे कमलों की उपमा और प्रिय दंन्द चौपाई को पुरइन की उपमा दी है। इसी प्रकार छंन्दों के प्रति गोस्वामी जीच का सहज आकर्षण परिलक्षित होता है। ओर इसलिये उन्होंने अपनेयुग की प्रचलित प्राय: सभी छन्द शैलियों का प्रयोग निर्भीक रूप से किया है।

गोस्वामी जी के कतिपय कथनों द्वारा उनकी संगीतप्रियता का भी संकेत मिलता है। 'उघरहि छन्द प्रबन्ध गीत पद राग-तान बन्धान, कथन द्वारा गीतावली में संगीतमग्न नर-नारियों का वर्णन करते हुए संगीत तत्व की तरफ से अपने आकर्षण का भी संकेत किया है।

चारू गीत रघुबर तेरे तेहि मिलि गाई चरनचित लावों-गीता 1/18

के कथन से भी गोस्वामी जी के संगीत प्रेम का संकेत मिलता है। देव स्तुति में सगीत द्वारा आत्म विभोर होकर जिस अलौकिक आनंद का आस्वादन होता है। उसकी तरफ भी गणपति के गुण गाने का संकेत भी गोस्वामी जी ने किया है।

''गाइए गनपति जग वन्दन 1.

गीत सुनिया सखिन्ह के सुनि सुर मुनि अनुकूल। गीता बाल. 22/15 से भी संगीत के मनोहारी और आह्लदकारी गुणों के कारण गोस्वामी जी का सहज आकर्षण परिलक्षित होता है।

विनय पत्रिका तो गोस्वामी जी के संगीत सौन्दर्य की आगार ही है। विनय पत्रिका के सभी पर अनेक राग रागनियों में ढाले गए है। जिससे संगीत कला में गोस्वामी जी को निष्णात दक्षता की भी पुष्टि होती है। गोस्वामी जी के अनुसार विनयपत्रिका गान और हरिकीर्तन के लिये ही लिखा गया है।

'हरिपद प्रीति न होय, बिनु हरि गुन गाये सुने।

भव ते छुटत न कोय, बिना प्रीति हरिपद भये। 1

अत: समग्र भावेन गोस्वामी जी एक निप्रणात संगीतज्ञ थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में सगीत के आह्लदकारी गुणों के कारण उसे व्यापक लय रूप में काव्य सौन्दर्य के लिये उपयुक्त किया है।

प्रत्येक कवि और कलाकार अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये भाषा का माध्यम ग्रहण करता है। इसीलिये काव्य या कला का निखिल सौन्दर्य भाषा सौष्ठव पर निर्भर करता है। कभी कभी कलाकार की अनुभूतिया इतनी सशक्त हो जाती है कि अनायास ही वे वाणी के माध्यम से फूट पड़ती है। जिसमें कला क समस्त उपकरण स्वयं ही एकम्रित हो जाते है। भाषा भावाभिव्यक्ति का सबसे सीधा साधन है। भाषा ही अमूर्त भावों के लिए अनिवार्य एव परिहार्य हे। कवि या कलाकार के चिन्तन का माध्यम भाषा ही है अत: मुख्य रूपेण भाषा भावों का वहन है।

'अरथ अनूप, सुभाव सुभाषा, में सुभाषा से उनका अभिप्राय यह है जो कवि के अभिप्रेत को पाठकों तक़ सप्रेषित कर सके। यदि ऐसा न होता तो वे संस्कृत में भी लिख सकते है। सबका हित तो सबकी भाषा ही कर सकती है। सुभाषा के साथ दो शब्द भी संलग्न है। अरथ अनूप और सुभाय। भाषा वही अच्छी हो सकती है जिसमें सुन्दर श्रेष्ठ विवेकपूर्ण भाव हो। अच्छे

भावों के भरेने से ही भाषा सुभाया नही होगी उसे अनुपम अर्थवता से भी सपृंक्त होना चाहिए। अनुपम अर्थवान्ता के कारण ही उनकी रचनाओं में अर्थ की नाना भूमियां दिखाई पडती है।

मानस के बालकाण्ड के प्रारम्भ में गोस्वामी जी ने 'माया निबन्ध' को अति मंजुल कहकर भाषा विषयक सौन्दर्य की अवधारणा व्यक्त की है।

दोहावली में गोस्वामी जी ने देववाणी संस्कृत के समक्ष अपनी भाषा को प्राथमिकता देते हुए लिखा है। कला का अर्थ और स्वरूप।

''का भाषा का सस्कृत प्रेम चहिए सांच।
काम जो आवै कामरी, कालै करे कुमाच''1

गोस्वामी जी की कृतियों में सम्यक अध्ययन से पता चलता है। कि भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार व्यापक तथा असम्प्रदायिक रहा है। इसलिये उन्होंने भाषा का प्रयोग मात्र काव्य सौन्दर्य के उत्कर्ष विधायक उपकरण के रूप में ही किया है।

गोस्वामी तुलसीदास ने सौन्दर्य की अछम्य लालसा में अपनी कला को आत्मानन्द के लिये प्रतिपादित करते हुए लिखा है।

''स्वत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निबन्ध मति मन्जुल मातनेति''

जिससे प्रकरान्तर से कलावाद की सम्पुष्टि होती है। लेकिन कलावाद का शुष्क परिप्रेक्ष्य गोस्वामी जी को भी मान्य नही था। इसलिये वे कला के उपयोगिता वादी पक्ष का समर्थन करते हुए पुनः कहते है।

''कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कह हित होई''

अत: उन्होंने कला को लोक कल्याण विधायक आदर्श की ओर ही अत: करि कलिमल रिनि तुलसी कथा रघुनाथ की ओर ही प्रवाहित किया है।

''मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

कथन से भी गोस्वामी जी द्वारा उपयोगितावाद की ही पुष्टि होती है। 'सर्वजन हिताय' को दृष्टिकोण में रखकर ही गोस्वामी जी ने सरल कविता का समर्थन किया है।

"सरल कवित कीरति विमल, सोई अदरहि सुजान।
सहज बयर विसराइ रिपु जो सुनि करै बरवान"

अर्थात जिस कविता से शत्रु भी बैर भाव भूल जाय और उसकी प्रशंसा करने लगे वही सरल कवित सर्व श्रेष्ठ है। गोस्वामी जी वास्तव में समन्वयगदी पक्ष के ही पोपक प्रतीत होते है। उनका स्वन्त: सुख सर्वहित की उदार भावना में ही समहित हो जाता है। इस प्रकार हम गोस्वामी तुलसीदास जी के लोकदृष्टि के संदर्भ में अनेकोनेक उदाहरणों से देखते है कि उनके ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य लोक कल्याण का कारक रहा है तथा उसकी समसमाजिकता कही भी किसी भी समय भी किसी भी प्रकार से कमी आने की सम्भावना नही है। समाज के कल्याण की सोच सर्वप्रमुख तथा मुख्य थी।

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा सरल प्रवाहमय हृदयग्राही एव सारगर्भित तो है उसमें भाषा सम्बनधी तमाम प्रकार कि विशेषताएं शामिल है। जिसकी वजह से ही उनकी कृति श्री रामचरिमानस आज विश्व की श्रेष्ठतम पुस्तकों में अग्रणी मानी जाती है। इसी सदर्भ में गोस्वामी जी उनके इस व्यवहार पत्र तत्र तुलसी जी की रचनाओं मं दिखाई पड़ता है। इसकी अनुनासिक ध्वनि इसे विशुद्ध बुन्देली शब्दों के अर्न्तगत रखती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है।

"तो को मो से अति धने मो को एकैतूँ। 1
जननी कू तू जननी भई विधि सन कुछ न वसाइ। 2
तू गरीब को निवाज, हो गरीब तेरो।

सर्वनामों के ही अर्न्तगत माध्यम पुरूष वाचक सर्वनाम का आदरांथ एवं सम्बन्धकारक रूप रउरे तथा गेरे जिनका व्यवहार निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है स्पष्टत: बुन्देली से ही लिये गये जान पड़ते है।

''पढये भरत भूत नरिअउरे। राम मातु मत जानब रउरे। 4

जो सोचहि ससि कलहि सो सोचहि रौरेंहिं''5

क्रिया रूप में विश्ष्ठि भेदक लक्षणों के दृष्टिकोण से तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त केवल कतिपय क्रियाओं के वे ही रूप आते है। जो परोक्ष विधिकाल में प्रयुक्त हुए है। तथा जिन्हे किसी न किसी अंश में संभाव्य भविष्यकाल का रूप भी माना जा सकता है। इनके अर्न्तगत निम्नलिखित पंक्तियों में ब्यवहरत डारिबा, पालवी, घाइबी, गाइबी और कीबी आदि रूप में उल्लेखनीय है।

''लखन लाल कृपाल, निपरहि आरिबी न बिसारि।

ए दारि का परिचारिका करि पालिवी करूना नई।

मेरीओ सुधि घाइबों कछु करन कथा चलाइ।

तुलसी सो तिहुं भुवन गाइबी नन्द सुवन सनमानी।

तुलसी की वलि बार ही समांर कीवी, यद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है। उपर्युक्त इबी के योग से बने हुए रूपों की भांति इबी प्रत्यय के योग से निर्मित

रहिबों, साहिबों, देखियों, बहियों, लहिबों, ओर दीबो जैसे कुछ अन्य क्रिया-रूपों को भी बुन्देली बोली के प्रभाव का द्योतक समझना चाहिए जिनका प्रयोग निम्नलिखित पंक्तियें में हुआ है।

''तौ लौ मातु आपुनीके रहिबों।

जौ लौ हों ल्योबा रघुबीरहिः दिनदस और दुसह दुःख सहिबों''

बौरि वृचं विधवा बनितन को देखिबो बारि-विलोचन बहिबों।

सानुज सेन समंत स्वामि पाद, निरखि परम मुद मगंल लहिबों,

नीके जिय की जानि अपनयौ, समुझि तिखावन दीवों। 2

इन सामान्यय प्रयोगों के अतिरिक्त कतिपय स्थलों में बुन्देली की उस प्रवृति का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। जिसके अनुसार ध्वनि का रूपान्तर हो जाता है उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त पदों (पड़ों) (लराई)

लड़ाई लाखों (खड़या) इत्यादि शब्द जिन पर बुन्देली का प्रभाव मानना असंगत न होगा।

> ''बस धाम गयो आश्रम निवास तज्यों,
> भासन चकित सो परानो परो सो है ।
> सो कीजै जेहि भांति छांउ छल, द्वार परो गुन गावों।
> सपपने जेहि मन होई लड़ाई। .
> तुलसीदास रघुनाथ कृपा को जोवित पंथ खरयो।

बुन्देली के पश्चात् हम तुलसी की भाषा में उपलब्ध उन प्रयोगों के विवेचन एवं विश्लेषण की ओर बढ़ते है। जो उस पर भोजपुरी बोली के समावेश अथवा उसके प्रभाव को सूचित करते है। किंतु इसके पूर्व उन करणों एवं परिस्थितियों को भी सक्षेप में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जिसके फलस्वरूप तुलसी को अपनी रचनाओं के अन्तरगत इस बोली के प्रयोगों को भी स्थान देना स्वाभाविक हो गया होगा।

(1) पूर्वी उत्तर प्रदेश की यह बोली तुलसी की अत्यन्त परिचित बोली अवधी की सबसे निकटवर्ती बोली थी इसलिये भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से इसका कुछ न कुछ ममावेश उनकी भाषा में हो जाना अन्जान में भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

(2) उनके काशी निवास के आधिक्य के फलस्वरूप यह भी सम्भव है कि इस बोली के कुछ शब्द तुलसी की अपनी बोलचाल में इतने घुल मिल गए है कि वे अपनी रचनाओं में भी उनके प्रभाव से अछूते न रह सके हो। अथवा अपनी सहज समन्वय वृत्ति के कारण उन्होंने इस बोली के प्रयोगों को भी स्थान देना उचित समझा हो।

जहाँ तक व्याकरण तथा ब्रोलचाल की ठेठ प्रयोग परमपरा का सम्बन्ध है भोजपुरी अवधीसे बहुत अंशों से मिलती जुलती है अब उनके प्रमुख भेदक लक्षणों के आधार पर तुलसी की भाषा में उपलब्ध भोजपुरी प्रयोगों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करते है।लकार के बाहुल्य से युक्त क्रियारूप उदाहरण

सुमन वृटि आकाश ते होई। ब्रम्हानंद मगन सब लोई

इसी प्रकार सूतहि का सोते है के अर्थ में व्यवहार भी भोजपुरी के प्रभाव का सूचक है। 'सोन' के अर्थ में 'सूतना' धातु का प्रयोग आज भी इस बोली के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है, जैसे क्रियारूपों में 'सूतक' आदि। विनय पत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति इसका व्यवहार दृष्टृव्य है।

''जेहि निसि सकल जीव सूतहि तब कृपापात्र जन जागे।

खड़ी बोली का व्यापक प्रचलन बहुत आधुनिक होने पर भी उसका कुछ न कुछ समावेश बहुत प्राचीन काल से हिन्दी कवियों की रचनाओं में बराबर खोजा जा सकता है। और तुलसी भी परमपरा के अपवाद न थे। इनमें भी इसका थोड़ा बहुत खुला हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है। जैसा आगामी विश्लेषण से स्पष्ट होगा, किन्तु विश्लेषण के पूर्व जिन प्रमुख परिस्थितियों में इस बोली के प्रयोग का प्रवेश तुलसी की कृतियों में सम्भव हो सका, उसका भी संक्षिप्त विवेचन आवश्यक होगा।

साहित्यिक परमपरा के दृष्टिकोण से विचार करे तो हिन्दी साहित्य के खुसरों और कबीर आदि कवियों के काल से ही खड़ी बोली के रूपों का प्रयोग मिलने लगता है। खुसरो की-

''अलि वह अलबेला पर अकेला, तथा

एक नारि ने अचरज किया, सांप मार पिजरे में दिया आदि पंक्तियों तथा कबीर की-

''माला फेरत जुग गया, फिरा न मन का फेर।

कर का मनका छोड़ के, मनका मनका फेर''

जैसी पंक्तियां खड़ी बोली के प्राचीन उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से खड़ी बोली बृजभाषा की निकटवर्ती बोली है अतः तुलसी जैसे पर्यटनशील ओर समन्वयवादी कवि की

भाषा में इस बोली के प्रयोगों का समावेश हो पाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

खड़ी बोली आजकल भारत की राष्ट्रभाषा हो गयी है। इसलिये इसका रूप बहुत व्यापक हो गया है। ओर इसके लक्षणों से अधिकांश लोग परिचित ही है। फिर भी इस बोली के प्रादेशिक एवं मौलिक रूप में पाये जाने वाले भेदक लक्षणों के प्रकाश में तुलसी की शब्दावली की छानबीन करते समय इनता ध्यान अवश्य होना चाहिए ।रचनाएं जिस काल में हुई उस समय की खड़ी बोली का स्वरूप आज की अपेक्षा कही अधिक सीमित था और इसलिये तुलसी की भापा में इस बोली के रूपों का समावेश बहुत अल्प मात्रा में ही होना संभव था।

तुलसी की भाषा में खड़ी बोली के रूपों की खोज करने से पता चलता है कि वे इतने प्राचीन काल से प्रयुक्त होने पर भी अपनी प्रादेशिक रूप रचना से नही, बस उस व्यापक रूप रचना से मेल खाते है। जो आधुनिक खड़ी बोली में प्रचलित है, जैसा आगामी विश्लेषण तथा उदाहरणों से सिद्ध हो जायेगा। इनमे कतिपय सर्वनाम परसर्ग, क्रिया एवं कृदंन्त के रूप में विशेष महत्व रखते है। संक्षेप में क्रमशः इनका विश्लेषण किया जाता है।

सर्वनाम के अर्न्तगत अन्य प्रमुख एक वचन में खड़ी बोली का उत्यन्त व्यापक एवं प्रचलित रूप यह मिलता है। इसका व्यवहार तुलसी ने सम्भवतः एक आघ स्थलों पर हीं किया है। जैसे बरवै रामायण की निम्नलिखित पंक्तियों में

''सिय मुख सरद कमल, सम, किमि कहि जाप।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह विगसाइ'' !

अन्य प्रकार के सर्वनाम रूप्रों के अर्न्तगत अधिकांश तो ऐसे है जो बृज और अवधी में भी बराबर प्रयुक्त होते है। किन्तु केवल खड़ी बोली में विशेष रूप से व्यवहत होने वाले रूपों में तेरे, मेरी, मेरे, हमारे, तुम्हारा,

हमारा,, आदि रूप उल्लेखनीय है। उदाहरार्थ निम्नलिखित पंक्तियों के टेढ़े लक्षरों वाले शब्द-

''सुन मैया तेरी सौ करों पाकी देव लरन की सकुच वेचि सी खाई।2

होहिं विवेक विलोचन निर्मल सुफल सुशीतल तेरे 3

मन मेरे मानहि सिख मेरी, जो निजु भगति चहै हरि केरी। 4

प्रातकाल रघुवीर बदन छवि चित्त चतुर चित मेरे। 5

गुरू वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे।

चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नाहि होये तुम्हारा।

अजहुं मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहुं वरू नोक विचारा। 8

क्रिया रूपों में अर्न्तगत निम्नलिखित रूपों में प्रयुक्त देखों। किया, आपा, मचा और और करती है। आदि रूप विशुद्ध आधुनिक खड़ी बोली में व्यवहृत होने वाले रूप है। ऐसे कुछ रूपों का इतने प्राचीन काल से, अपने उसी रूप में बिना किसी विकास एवं परिवर्तन के बने रहना, भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्व का विषय है। उदाहरार्थ-

''देखो रघुपति छविअतुलित अति।

अब जनमि, तुम्हारे भवन निज पति लागि दारून तपु किया ।

नप्टकृति ,दृष्ट अति, कष्टरत खिदगत, दान तुलसी शभुं शरण आपर। 2।

अति कोप सो रोधो है पाव सभा सब लकं ससंकित सारे मचा।

ससांगत आरत प्रनतनि को, दे दै अभय पद और निवाहे।

कर आई, करिहै करती है, तुलसीदास दासन पर छाहै''

निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत कीजिए, लीजिए, आये भया, गई तथा देखे है सुने है ओर बूझे है, आदि पर भी खड़ी बोली का थोड़ा बहुत प्रभाव मात्र जा सकता है । यथा,

''यह तनय मम सम विनय बल, कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ। 14

गहि बाहं सुर, नर नाह आपन दास अंगद कीजिए''

तुलसी जो पानी भपा, बछुरि न पावक होइ।

बिछुरत भी बृजराज आजु इन नयनन की परतीति गई।

देखे है अनेक व्याह, सुनेहि पुरान वेद,

बूझे हे सुजान साधु नर नारी परानी।

(4) कृदन्त रूपों के अन्तर्गत निम्नलिखित पंक्तियों में व्यवहृत, लेना व देना का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार के अन्य विशुद्ध खड़ी बोली के कृदन्त रूप कदाचित ही तुलसी की रचनाओं में अन्यत्र उपलब्ध सकें।

''झूठ लेना झूठइ देना। झूढई भोजन झूठ चबेना।

इन वासियों के अतिरिक्त बघेली और छतीसगढ़ी बोलियों के प्रयोग भी तुलसी की शब्दावली में खोजे जा सकते है। किन्तु उनमें से अधिकांश का पर्याप्त प्रचलन साथ ही साथ बुन्देली में भी मिलने के कारण उन्हें बुन्देली प्रयोगों के अन्तर्गत ही रखना उचित समझा गया है उदाहरार्थ केपर (परात) और सुपेती जैसी बघेली और छतीसगढ़ी के शब्द बुदेली में भी बराबर प्रयुक्त होते है। वस्तुतः तुलसी का निवास और पर्यटन बुन्देली क्षेत्र में अधिक रहा है। अतः ऐसे प्रयोगों का परिचय उन्हें बुन्देली के सम्पर्क से होना अधिक संभव है।

ऐसे शब्द जिन्हें बुन्देली से भिन्न केवल बघेली या छतीसगढ़ी का ही कहा जाय बहुत कम मिलेगे। प्रसंगवास निम्नलिखित पंक्तियें में प्रयुक्त सुआर (रसोइयां) और बागत (घूमते) शब्द की चर्चा की जा सकती है। जो बघेली में बहुत प्रचलित है।

''छन महुँ सब के परूसि गे चतुर सुआर विनीति। 5

परूसन लगे सुआर, विवुधजन सेवहि। 6

जागत बागत सपने न सुख सोदू है।6

जागत सोवत बैठे बागत विनोद मोद।

ताकै जो अनर्थ सो सर्मथ एक आक को।

इसी प्रकार 'पुराने' के अर्थ में प्रचलित जन शब्द भी जिसे हमने गुजराती प्रयोगों में रखा है। विशुद्ध छतीसगढ़ी प्रयोगों के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

तुलसी की शब्दावली का विश्लेषण करते समय बीच बीच में उक्त विविधत्मकता में निहित कवि के उद्देश्य तथा आदर्श एवं परिस्थिति के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः उसके सम्बन्ध में भी यहां पर समग्र रूप से इतना ही संकेत कर देना उपयुक्त होगा कि कवि का समन्वयवादी दृष्टिकोण उसे विशाल पर्यटन उसके व्यापक अध्ययन से प्रसूत बहुमुखी ज्ञान पूर्वकालीन एवं ततकालीन काव्य भाषा परमपरा का निर्वाह तथा यथा सम्भव सभी प्रचलित एवं परिचित भाषाओं बोलियों एवं शैलियों को राम पशगान द्वारा पतित करने की भावना और उन सभी अपनी मौलिक प्रतिभा की जांच करने की स्वाभाविक प्रवृति तथा कही कही पर केवल कुतूहल और मनोविनोद की ऋट्रिका प्रयत्न, यही जाते संक्षेप में उक्त विविधरूपता के मूल में विद्यमान है।

जहाँ तक तुलसी द्वारा प्रयुक्त शब्दसाख्या का सम्बन्ध है उसके विषय में यहाँ पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न नहीं कर रहे है, किन्तु केवल इतना ही मंकेत करना चाहते है कि योरोपीय साहित्य के अन्तर्गत कवियों की शब्द संख्या की गणना द्वारा कवि के भाषाधिकार के मूल्यांाकन के बड़े सुन्दर प्रयास हुए है। शेक्सापियर के सभी ग्रन्थों में कुल पन्द्रह हजार मिल्टन की रचनाओं में सात आठ हजार होमर के काव्यों में लगभग नौ हजार इन्जील के पुराने भाग में पांच हजार छः सौ बयालिस और नये में चार हजार आठ सौ शब्दों का व्यवहार हुआ है। परन्तु भारतीय साहित्य में ऐसे प्रयत्नों का अभाव अवश्य ही खटकने वाली बात है। तुलसी दास जैसे अपूर्व भाषाधिकार सम्पन्न महाकवि की शब्द सांध्या के सम्बन्ध में हमारी कोई निश्चित जानकारी न होना हमारे अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी कमी का परिचायक है। जिसकी पूर्ति होना आवश्यक है।

इस आवश्यकता की पूर्ति का एक ही अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है तुलसी कोष का निर्माण क्योंकि इसके सम्पन्न हो जाने पर तुलसी की शब्द सांख्या का ठीक ठीक निश्चय हो सकेगा। और इस बात का पता लग सकेंगे कि तुलसी ने कितने शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी रचनाओं को अमर बनाया। साथ ही अन्य प्रमुख पाश्चात्य एव प्राच्य कवियों की शब्द सांख्या की तुलना में अत्यन्त रोचक होगी।

आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के क्षेत्र में तुलसी की भाषा में उपलब्ध नियमों की आंशिक उपयोगिता का जहां तक सम्बन्ध है। उसके विषय में भी पीछे तुलसी की शब्दावली का विश्लेषण करते समय कुछ नियमों की भाषा वैज्ञानिक विशेषताओं का निर्देश किया जा चुका है। उस पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर तुलसी की एक अत्यन्त मूल्यांकन देने की ओर हमारा ध्यान जाता है। वह है तुलसी की भाषा की प्रयोगशाला में प्रचलित वह शब्द निर्माण प्रणाली जो पत्र मूल शब्दों में समहित है।

गोस्वामी जी ने प्रसगानुसार परिवार के जिन सम्बन्धियों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार है।

तुलसी काव्य में माता और उसी अर्थ में मातु जननी, एवं अम्बा माँ, माई, माय, मैया, महतारी का उल्लेख हुआ है। इसी तरह पिता के लिये तात पिता पित्र बाप जनक आदि।

परिवार में माता पिता का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस देश में भूमे गरीपसी माता स्वर्गदुच्चतर: पिता का श्राप किया जाता हो, उस देश में माता पिता भगवत स्वरूप ही कहे जायेगे। पद्यम पुराण की निम्न पंक्तियों का उद्धरण य़हाँ आपसर्गिक न होगा।

''सर्व तीर्थरूपी माता, सर्व देव मप: पिता।
मातरं पितर तस्मात सर्व पत्नेन पूजयतें''
मातरं पितरं चैव पस्तु कूर्दा प्रदाक्षिणाम
पदक्षिणी कृतास्तेन साप्रदीघा वसुन्धरा।।4

गोस्वामी तुलसीदास जी ने माता पिता को महत्वपूर्ण पीढ़िका पर ही आसीन रखा है तुलसी के राम का यह विश्वास है।

''चारि पदारथ करतल तोक, प्रिय पितु-मातु प्रान सम जाके। 5

महाराज वशिप्ठ जैसे धर्मज्ञ भी तो यही उपदेश देते है।

''अनुचित उचित विचारू तजि जे पालहि पितु बैन।

ते भाजन सुख सुजस के बसहि अमरपति ऐन। '

'धरम घुरीन' भरत अनिच्छा होते हुए भी वशिष्ठ के उपदेश पे एक मत है और यह स्वीकार करते है।

''गुरू पितु मातु स्वामि हित बानी। मुनि मन मुदित करिअ भलि जानी।

उचित की अनुचित किये विचारू। धरमुजाई सिर पातक भारू।

गोस्वामी जी ने पिता की अपेक्षा माता के स्थान को श्रेष्ठत्तर घोषित किया है बन गमन के अवसर पर कौशल्या जी के वाक्य में यही ध्वनित हैं।

''जो केवल पित आपुस माता। तो जाहु जानि बड़ि माता'' '

तुलसी के समसामयिक परिवारों में जहाँ ''माता पिता'' बालकों को केवल उदर पोषण का ही पाठ पढ़ाते थे। वहाँ सभी पुत्रों को प्राणवत मानते हुए ओर उसमें भी राम को और कही अधिक स्नेह देने वाले दशरथ मुनि कर्य हेतु राम को भेजना स्वीकार करते है।

धर्नुभंग अनन्तर राम की असाधारण सफलता का समाचार सुनकर दशरथ को जो आनंदानुभूति हुई। वह प्रत्येक सत्यता के अनुभव का विषय है।

आत्मा वै जापते पुत्र: की उक्ति से आत्मज को पिता का अशंही कहा गया है। गोस्वामी जी ने अपने काव्य में पुत्र और उसी अर्थ में पुत्र और इसी अर्थ में बालक, तनय, लरिका, सुवन सुनु पूत,बेटा और ढोटा का प्रयोग किया है।

''शुद्ध वश्यां सन्तति के अभाव में इहलोक और परलोक दोनों के लिये कल्याण कारिणी होती है। अत: ऐसी सन्तति के अभाव में ग्लानि से भरे दशरथ का विहवलता के साथ गुरू वशिष्ठ के घर जाना, चरण लगना और

विनय-विशाला करना स्वाभाविक ही था। शास्त्रों में पुत्र को माता-पिता का तारक कहा गया है। इसी क्रम में गोस्वामी जी ने राम के आचरण निर्वाह की परम्परा देखिये राम अपने तथा परिवार के साथ उसी तरह का आचरण भी करते है।

''प्रातकाल उठि कै रघुनाथ। मातु पिता गुरू नावहि माथा।

आयुस मांगि करहिं पुर काजा। देखि चरित्र हरपद मन राजा।

भात्र भव की पुष्टि भाइयों के परसपर प्रेम त्याग और विश्वास से होती है। राम को भरत के प्रति जैसा स्नेह तथा उर्त्सग है। वैसी ही भक्ति और ममत्व भरत में राम के प्रति। यदि राम को भाई भरत की दिन रात चिन्ता है तो भरत की सबसे बड़ी चिन्ता और सोच यही है कि राम और सीता उन्ही के कारण वन में घोर विपतियां झेल रहे है।

''डर न मोहि जग कहहि कि पांचू। पर लोकटु करनाहिन सोचू।

एकहि डर बस दुसह दबारी। मोहि लागे भे सिया राम दुलारीं'

मोहिन मातु करतब कर सोचू। नाहि दुख जियजगु जानिहि पोंचू।

नाहिन डरू बिगरिहि पर लोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोचू।

राम लखन सिया बिनु पग पनही। करि मुनि वेष फिरहि बन बनही।

राम अपने बंधुओं से अपार स्नेह राखते है महाराज वशिष्ठ के मुख से अपने राज्याभिषेक का समाचार सुनकर उनको निरन्तर यही चिंता व्यग्रकर रही है।

''जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन ज्ञान केलि लरकाई'

करनुवेध उपबीत विवाह। संग संगन सब भए उछाहा।।

विमल बसं पहु अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।

राम और भरत में केवल एक दूसरे के लिये त्याग ही है अपितु अपार विश्वास भी। प्रकृति के नियमों में परिवर्तन सम्भव है सर्वमान्य नियम सत्य एवं शाश्वत सत्य अन्यथा हो मकते है। किन्तु राम को विश्वास है कि गम्भीर स्वभाव बाले भरत की प्रकृति को छोटे-मोटे राज्य क्या ब्रम्हा, शिव

और विष्णु के पद का मद भी परिर्वतित नहीं कर सकता है। उनकी पवित्रता, सचरित्रता और भायम भगति की प्रशंसा करते हुए राम लक्ष्मण से कहते है।

''तिमिरि तरूम तरनिहि मकु भिलाई। गगनु मगन मकु मेघति मिलाई।
गोपद जल बूडहिं घट जोनी। सहज क्षमा बरू छाड़े छोनी।
मसक फूंक मक मेरू उडाई। होईन नृप मृदु भरतहि भाई।
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नाहि भरत समाना''

गोस्वामी जी के काव्य में पुत्री के सुत कान्या, तन्या, तनूजा और बेटी आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। तथा उसके पति को जमाता कहा गया है। दामादो से मिलते हुए जनक के शब्दों में आदर भाव की अभिव्यजना गोस्वामी जी के ही शब्दों में देखिये।

''जोरि पकंरूह पानि सुहाए। बोले बचन प्रेम धनु जाए।
राम करौ केहि भाांति प्रशंसा । मुनि महेशा मन मानस हंसा।
विनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेमु मुनि आसिष दीन्ही।
मिले लखन रिपुसूदनहि दीन्ह असीस महीस।
गयेू परस्पर प्रेमवास फिर नागहि सीस''। 63

भाभी के प्रति देवर की भक्ति और सम्मान अभिव्यक्त है गोस्वामी जी भी इस नीति का समर्थन करते है। जिसका परिचय हमें लक्ष्मण को दी हुई माता सुमित्रा की शिक्षा में मिल जाता है। वन गमन के अवसर पर राम के साथ वन प्रस्थान हेतु माता से आज्ञा मांगते समय लक्ष्मण यही तो सुनते है।

''तात तुम्हारी मातु वैदेही। पिता रामु सब भांति सनेही। 116

मर्यादा पुरूषोत्तम राम के व्यवहार में गुरू की महत्व की स्वीकृति के साथ उनके अपने लघुतव दुख की अनुभूति स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। अपने सदन में गुरू वशिष्ठ की उपस्थित पर राम के कथन में अचार की शिष्टता प्रस्तुत पक्तियों में दृष्टृव्य है।

''सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू।

तथापि उचित जनु वोहि सप्रीती। षटरइ काज नाथ असि नीती
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भपउ पुनीत अज यह गेहू''
आपसु होई सो करौ गोसाई। सेवक लहइ स्वामि सेवकाई'

मानव के शरीर और मन के पूर्ण विकास और शुद्धि के लिए शास्त्रों में जिन मांगलिक कृत्यों का विधान है। उन्हें संस्कार कहते है। बृहृत हिन्दी शब्द कोष के अनुसार संस्कार का अर्थ इस प्रकार है। द्विजातियों के शास्त्र विहित कृत्य जो मनु के अनुसार बारह है। और कुछ लोगों के अनुसार सोलह है।

प्राचीन आचार्यो ने मनुष्य का सारा जीवन धर्म के बन्धनों में बाध रखा था। धर्म का आधार गर्भाधान से आरंभ हो जाता था। मनुष्य जीवन गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाता है। और शमसान में उसका अन्त होता है। इसलिये मनुष्य शरीर को स्वस्थ एवं मन को शुद्ध तथा अच्छे संस्कारों वाला बनाने के लिये गर्भाधान से लगाकर अन्तेंप्टि तक सोलह संस्कार माने गये है। मनु ने मानव धर्म शास्त्र के अधिकारी मनुष्य के संस्कारों में आदि संस्कार गर्भाधान और अंतिम संस्कार अत्येष्ठि माना है।

''निवेकादिश्म शानान्तो मंमैर्य रचो पितो विधि।
तस्य शास्त्रअधिकारे उस्मि
स्मि अज्ञायो मान्यस्य कस्यचित''

संस्कारों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के वर्णन है परन्तु भारतीय हिन्दू परिवारों में उन्ही सोलह संस्कारों की परमपरा चली आ रही है। (1) गर्भाधान (2) पुसंवन (3) सीमेन्तोन्नयन (4) जातकर्म (5) नामकरण (6) निष्क्रमण (7) अन्नप्राशन (8) चूड़ाकर्म (9) कर्णवेध (10) उपनयन (11) वेदारंम्भ (12) समार्वहन (13)विवाह (14) वानप्रस्थ (15) सन्यास (16) अन्तेष्टि।

गोस्वामी तुलसीदास जी के गणित विज्ञान, ज्योतिष, वनस्पति विज्ञान समबन्धी एवं जीव विज्ञान सम्बन्धी विचार भी दर्शनीय है। उन्होंने अपने रामचरित्र मानस तथा अन्य पुस्तकों में इस प्रकार के तमाम उदाहरण दिये है

जो उस समय भी प्रचलित तथा प्रभावित थे। तथा आज भी उन मान्यताओं का महत्व तनिक भी कम नही हुआ है। रामजी के नाम को तथा सभी साधनों को शून्य रूप में निर्देशित किया है।

राम नाम को अक है। सब साधन है सून।
अक भये कछु हाथं नहि अकं रहे दसगून।

गणित के इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित अन्यत्र तुलसी की अभिव्यक्ति देखिए।

''माया जीव सुझाउ गुन काल करम महदाछि।
ईस अकं ते बढत सब ईस उकं बिनु बादि।

तुलसी काव्य में कतिपय जयोतिष सम्ब्न्धी सिद्धान्तों का निर्देश हुआ। रवि को द्वादशी सोम को एकादशी, भौम को दशमी, बुध को तृतीया बृहस्पति को षष्ट्टी शुक्र को द्वितीया और शनि को सप्तमी पड़े तो समझना चाहिए कि योग अच्छा नही है।

'' रविहर दिसि गुन रस नयन, मुनि प्रथमादिक बार।
तिथ सब काज नसावनी होइ कुजोग विचार।

इसी प्रकार यदि चन्द्रमा का पहला, पाचवां , नवां दूसरा, छठा, दसवां, तीसरा सातवां चौथा, आठवां, ग्यारहवां और बारहवां स्थान क्रमशः मेघ्र वृष मिथुन, कर्क सिंह कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, और मीन में पड़े तो उसे घातक जानना चाहिए।

''सपि कर नव दुइछ दस गुन मुनि फल बसु हर भानु।
मेषादिक कम तो गनहि घात चन्द्र जिंप जानु।

इसी संदर्भ में गोस्वामी जी ने दोहावली में कहा है। श्रुति गुन अर्थात श्रवंण से तीन नक्षत्र श्रवण घनिष्ठा, शतमिषा, कर गुन अर्थात हस्त से तीन नक्षत्र हस्त, चित्रा, स्वाती पुजुग अर्थात पुनर्बसु और पुष्प, मृगसिरा, हय अर्थात, अशवनी, खाऊ अर्थात अनुराधा, इन नक्षत्रों में व्यक्ति को धन का धरती का

लेना देना करना चाहिए। क्योंकि ऐसी स्थिति में वह कभी जा नही सकती हानि नही हो सकती।

''श्रुति गुन कर गुन पुजुग मृग हप रेवती सारवाउ।

देहि लेहि धन, धरु धरण गएहुं न जाहि काइहि।

इसी के संदर्श में एक और दोहा देखा लेना आवश्यक है। अगुन अर्थात उ से तीन उपरा फाल्गुनी, उपराषाढ़ और उपर भाद्रपाद्र पुमुन, अर्थात पू से तीन पूर्वा फाल्गुनी पूर्वाषाढ़ ओर पूर्वा भाद्रपाद विशाख्य अर्थात् अज अर्थात रोहिणी कृ अर्थात कृतिका भ अर्थात मघा, आ अर्थात आर्द्रा म अर्थात भारणीअ अर्थात असलेषा मु अर्थात मूल- इन नक्षत्रों में चारी गया हुआ धरोहर दिया गड़ा हुआ और उधार दिया हुआ फिर हाथ नही आता।

''अगुन पू गुन वि अजकृम आ भ अ मू गुन साथ।

हरो धरो गाड़ो दियों धन फिर चढ़ै न होय''।

तुलसी दास को ज्योतिष सम्बन्धी भी ज्ञान है। जन्म कुण्डली में छठा स्थान शुभ का सातवां स्थान स्त्री का और आठवां स्थान मृत्यु का होता है। गोस्वामी जी ने यह विनोद किया है। कि शत्रु और मृत्यु के बीच में स्त्री का स्थान होता हैं।

''जन्म पत्रिका बरति के देखहु मनहि विचारी।

क्षाल्य बैरी मीचु के बीच विशजत नारि।

तुलसी काव्य के अर्न्तगत अनेक स्थल ऐसे है। जो गोस्वामी जी के वनस्पति विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत करते है। भारत की भौगोलिक स्थिति और तदनुकुल प्रकृति और वनस्पति के गुणों का निरूपण गोस्वामी जी ने किया है।

''अर्क जवास पात बनु भपउ। जस सुराज खल उधम गपउ।

केले के वृक्ष का यह गुण होता है। कि एक बार फल जाने पर उस वृक्ष में दोबारा फल नही लगते है। और उसको काट देने पर अनेक नये वृक्ष उनका स्थान ले लेते है।

''कटहि पर कदरी फारइ कोटि जतन कोउ सीच।

विनय न मान खगेश सुन डोरहि पर नव नीच।

घमोई बास का एक राग होता है। जिससे ग्रस्त बास की जड़ में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते है। इससे बांस की बाढ़ तो रूक ही जाती है। नये कल्ले निकलना बन्द हो जाते है। गोस्वामी जी ने धनोई रोग का उल्लेख मानस में किया है।

''अबही तो डर संसय होई। बेनु मूल सुत भयउ धनोई।

भोज पत्र एक वृक्ष की छाल होती है। इस वृक्षका तना छालों की तह से बना होता है। इन छालों के परत निकाल कर प्राचीन काल में उस पर लिखने का कार्य किया जाता था। छाल देकर भी जन सामान्य का हित करने वाले इन वृक्षों को गोस्वामी जी ने संत के समान कहा है।

''मूर्ज तरु सम संत कृपाल। परहित निति सह विपत्ति विसाला।

जल में उत्पन्न होकर भी कमल के पत्र पर जल के र्स्पस का प्रभाव नहीं होता है। संसार में रहकर संसार से निर्लिप्त महापुरूषों लिये ये कमल के पत्र उपमान- स्वरूप प्रस्तुत किये गये है।

''जो विरचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जल जब जाए।

जब किसी को सांप काट लेता है। तो उसे नीम की पत्ती चबवायी जाती है। सर्प के विष से प्रभावित व्यक्ति को विष की तीव्रता के कारण वह कड़वी नही लगती। गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका, में इसकी चर्चा की है।

''काम भुजंग उसत जब जाही। विषय नीबं कटु लगत न लही।

मोर शिखा नाम की लता होती है। जो बिन जड़ की होती है। बरसात में बादलों की गर्जना सुनकर पल्लवित हो उठना उसकी प्रकृति है। गोस्वामी जी इस प्रकृति से परिचित है तभी तो यह कहते है।

''तुलसी मिटैन नारि मिटेहु सांचों सहज स्नेह।

मोर सिखा बिनु मूरिहूँ पलुहत गरजत मेहं।

जीव जन्तुओं के स्वभावों से सम्बन्धित बहुत सी बातों का उल्लेख गोस्वामी जी के काव्य में स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है। वर्षा ऋतु के प्रारंभ में पहले पानी पड़ने पर उसमें जो फेना निकलता है। वह भाजा कहा जाता है। उसे खा लेने पर मछलियां अचेत होकर पानी के उपर उतराने लगती है। ऐसी स्थिति में बहुत सी मछलिया मर भी जाती है। एक उपमान के रूप में गोस्वामी जी मछलियों की ऐसी स्थिति का चित्रण किया है।

''नयन सजल तन थर थर कांपी। माजहिं खाइ मीन जनु मापी।

कछुआ अपने अन्डे को पानी के बाहर बालू में रखकर उन्हे सेता है।पानी के प्रवाह में 'भोजन की खोज में चाहे जितनी दूर बहता चला जाये परन्तु अनेक प्राण तटवर्ती सिकता में स्थिति अपने अन्डों में बसे रहते है। तुलसी काव्य के एकाधिक प्रसंगों में कछुए की अंन्डों के प्रति इस विशेषता की चर्चा है।

''रामहिं बन्धु सोच दिन राती। अन्डहि कमठ हृदय जेहि भांति।

कुटिल करम लै जाहि मोहि जहं जहं अपनी बरि आई।

तहं तहं जनि छिन छोह छाड़ियों, कमठ अंड की नाई'

भवरां फूलों का रसपान करता है। किन्तु वह चम्पें का रसपान नहीं करता जनश्रति हे कि भवरे को चम्पा की तीक्ष्ण गन्ध रूचिकर नहीं प्रतीत होती भवरे के ऐसे स्वभाव का चित्रण मानस की प्रस्तुत पंक्तियें में दृष्ट्व्य है।

''तेहिपुर बसत भरत बिनु रागा। चचंरोक जिमि चपंक बागा।

तुलसी भक्ति कवि है अत: वे श्रृष्टि के कण कण में अपने आराध्य के ही द़र्शन करते है। वे प्रकृति में भी अपने आराध्य की अनुभूति करते है। उन्होंने प्रकृति का स्वतंत्र अथवा, आलम्बन रूप में चित्रण नही किया है। उनका प्रकृतिक चित्रण राम के प्रभाव से प्रभावित है। तुलसी ने अराध्य राम प्रमुख है। वन पथ पर यात्रा करते समय राम केउपर बादल छाया करते है। देवगण पुष्पवर्षा करके सिहाते है। रामजब चित्रकुट में पहुंचकर निवास करते

है। तब वहां की प्रकृति उल्लासित होकर नवीन रूप धारण कर लेती है । मानसकार की भाव व्यंजना की खोज बड़ी विशेषता यह है कि उसने मानयोय भावों के साथ प्रभु हृदय क भावों को भी अनुभाव योजना के द्वारा प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। राम को छोड़कर जब सुमन्त जी अयोध्या वापस होने लगते है। तब मानसकार ने रथ के घोड़ों को शोक की व्यजंना उनके तड़फड़ाने आगे न बढ़ने ठोकर खाकर गिर जाने तथा बार बार पीछे मुड़कर देखने के रूप में की है।

चरफणाहि मग चलांहि न घोरे। पन मृग मनहुं अनि रथ जोरे।

अदुकि परहिं फिर हेरहि पीछे। राम वियोग विकल दुख तीछे।

जो कह रामु लरवनु वैदेही। हिकरि हिकरि ह्वित हेरहि तेही।

बाजि बिरह गति कहि किमि जाती। बिन मनि फनिक विकल जेहि भाती।

इसके अतिरिक्त पता नही कितने सूक्ष्म भाव है जिनका वर्णन तुलसी ने अपने काव्यों में किया है। वे जिस प्रकार उच्चकोटि के भक्त है । उसी पकार उच्चकोटि के कवि भी हैं। उनका हृदय इतना कोमल है कि रंचमात्र के स्पन्दन से अलंकृत हो उठा हैं। यही कारण है। कि भाव व्यंजना पद्धतियों का तो सफल प्रयोग किया ही है। इसके अतिरिक्त अन्य विधियों से भावाभिव्यक्ति में उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। वे एक रस सिद्ध कवि थे।

रामचरित्र मानस सर्वाधिक महतवपूर्ण ग्रन्थ है। मानस का सम्पूर्ण कलेवर संवाद योजना के आधार पर निर्मित हुआ है। मानस में चार मनोहर घाटों की परिकल्पन कवि ने किया है। इस धारों के वक्ता और श्रोता के माध्यम से तुलसी ने राम कथा का व्यापक प्रचार एवं प्रसार किया है। याज्ञवल्क्य परशुराम, मन्थरा, कैकेई, अंगद .रावण कैकेई दशरथ भरत राम, नारद, राम, हनुमान रावण, सीता एवं राम के संवादों से कवि ने अपनी राम कथा को महिमा मण्डित करने का प्रयत्न किया है। संवादों के माध्यम से कवि ने तत्व चिन्तन के रहस्यों का बोध गम्य शैली में प्रस्तुत किया है।

शिव धनुष भंग होने पर परशुराम जनकपुरी में पहुंचे और वहां भीड़ एकत्रित हाने का कारण पूछा। जनक जी ने स्वाभाविक ढंग से सारा वृतान्त सुना दिया। शिव धनुष भंग होने का समचार सुनकर परशुराम अत्यन्त कुद्ध हो उठे। उन्होंने कोधावेश में जनक जी से सीधा प्रश्न किया।

''जब ते आइ रहे रघुनाथक। तब ते भयनुं बन मंगल दायक।
फूलहि फलहि विटप विधि नाना। मजु बलित वर बेलि बिताना।
सुस्तरू सरिस सुमायं सुहाएं।य मनहु विबुध बन परि हरि आए।
गुंज मन्जुतर सुधकर श्रेनी। त्रिविधि बयारि बहई सुख देनी।
नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर
भाति भांति बोलहि विहग श्रवन सुखद चित चोर।

चित्रकूट में राम की कुटी जिस स्थल पर स्थित है उसके दृश्य का वर्णन करते हुए केवट भरत जी से कहता है।

''नाथ देखिअहि विटय विशाला। पाकरि जबु रसाल तमाला।
जिन्ह तरू बरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु विशाल देखि मन मोहा।
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल विधि संकेलि सुषमा सी।

गोस्वामी तुलसी दास जी ने अलंकार योजना के लिये कवि ने अप्रस्तुतों के माध्यम से प्रस्तुत कथन किया है। सौन्दर्य चित्रण में अंग प्रत्यंग के उपमान प्रकृति से ही प्रयुक्त हुए है। तुलसी ने परम्परा गत उपमानों को ग्रहीत किया है। घुटनों के बल खेलते हुए राम के रूप की प्रकृति के माध्यम ससे भव्यता प्रदान की गयी है

''अगन फिरत घुटुरवनि धाये।
नील जलद तन स्याम रामसिसु जननि निरख मुख निकट बोलाए।
बंधुक सुमन अरूण ,पद पंकज अंकुश प्रमुख चिन्ह बनि आए।
नुपुर जनु मुनिवर कलाहरनि सो नीड़ दे बाहँ रचाएं।
उपमा एक अभूर्त भई तब जब जननी चपर पीत ओढाएं।
नील जलद पर उडुगुन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए।

धनुष यज्ञ के अवसर पर राम धनुष उठाने के लिये जा रहे है। उस समय सीता के मन की क्या दशा होती है। उनका मन अन्तर्द्वन्द से भरा हुआ है। कवि उत्प्रेक्षा के माध्यम से प्रकृति को बिम्बत कर देता है। अप्रस्तुतों के माध्यम से सीता की दशा देखिये।

''प्रभुहि चितइ मुनि चितव महि रावत लोचन लील।

खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधमंडल डोल''।

इसी प्रकार अनेक अलंकार प्रस्तुत किये जा सकते है जहाँ कवि ने प्राकृतिक उपादानां कह सहायता से काव्य में अर्थ सौन्दर्य की सृष्टि की है।

जिस प्रकार आवश्यकता आविष्कार की जननी है उसी प्रकार आवश्यकता से ही व्यवसाय उद्भूत होते है।सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब मानव-असंभ्य या अल्प सभ्यता तो उसकी आवश्यकताएं भी अत्यल्प थी। नंगे रहकर जीवन यापन करने या वस्त्र के रूप में पेड़ों की छाल अथवा पशुओं की खाल का प्रयोग करने तथा खाने के लिये वन्य पशुओं का शिकार करने में वह स्वयं को समर्थ पाता था। इस प्रकार अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में पूर्णतया सक्षम था। किसी अनय के सहयोग की आवश्यकता का अनुभव न होता था। सभ्यता के विकास के साथ मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अकेले अपने को अक्षम अनुभव करने लगा सीमित ज्ञान और क्षमता के कारण मानव कुछ निश्चित कार्यो का सम्पादन ही कर सकता था। ऐसी स्थित में दूसरों के परिश्रम से उत्पादित वस्तुओं की प्राप्ति भी जीवन यापन का एक आवश्यक अंग बन गयी। परिश्रमम के अधिकार से स्वः निर्मित वस्तुओं द्वारा दूसरों की आवश्यकताओं को भी अपरिमित वृद्धि की। परिणामतः किसी निश्चित मूल्यों के अदान प्रदान से जीवन निर्वाह होने लगा। सभ्यता की उतरोक्तर वृद्धि ने आवश्यकताओं को भी अपरिमित वृद्धि की। परिणामतः किसी निश्चित मूल्य के अदान प्रदान से वस्तुओं का क्रय- विक्रय अनिवार्य बन गया। स्व व्यवसाय में तत्पर मानव अपनी वसतुओं का क्रय-विक्रय से प्राप्त मूल्य से जीवनोपयोगी

वस्तुओं का क्रय करके जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार सामान्य जन जीवन की आवश्यकताओं ने व्यापार को जन्म दिया।

व्यापार से अभिप्राय जनजीवन के उपयोग की वस्तुओं के क्रय-विक्रय से है जिससे मानव दुसरों के लिये उपयोगी बनाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार किसी भी युग अथवा समय के व्यापार अथवा व्यवसाय से तत्कालीन जनजीवन का घन्ष्ठि सम्बन्ध होता है। व्यवसाय के रूप में समाज के विभिन्न वर्गो क व्यक्तियों के रहन सहन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं का सम्यक ज्ञान प्राप्त हो जाता था। गोस्वामी जी के काव्य में व्यवसाय अथवा जीविका साधन के अध्ययन से तत्कालीन व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त अनेक वस्तुओं तथा उनके रहन सहन की जानकारी प्रस्तुत अध्याय में अध्यापन कर विषय है। गोस्वामी जी के काव्य की मुख्य प्रतिपाद राम चरित्र है। अतः प्रबन्ध काव्य में भी तुलसी ने व्यवसायिक चर्चा से वर्णन का विषय नही बनाया। स्फुट प्रसंगों में यत्र-तत्र कुछ व्यवसायिक संकेत अवश्य है। जिनके आधार पर व्यवसाय का अध्ययन किया जायेगा। तुलसी काव्य में प्राप्त व्यवसाय तथा जीविका साधन को अध्यापन की सुविधा के लिये तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है।(1) व्यापारिक स्थान तथा रूप साधन। (2) विविध स्थान तथा रूप प्रथा साधन। (3) जीविका के विभिन्न साधन।

गोस्वामी जी ने व्यापार के लिये 'बनिज' व्यापारी के लिये वनिक तथा क्रेता अथवा ग्रहक के लिये ग्रहक का प्रयोग किया है। वस्तुओं का क्रय विक्रय आज भी बाजारों में होता है। तुलसी ने बाजार और उसी अर्थ में बाजार बजारू हाट, हट्ट, का उल्लेख किया है। जन सामान्य के उपयोग की वस्तुओं को प्राप्ति का स्थान होने के कारण बाजार का महत्वपूर्ण स्थान है। गोस्वामी जी बाजार के इस महत्व से परिचित है। तभी तो उन्होंने नगरों के साथ बाजार की प्रतिष्ठा अनिवार्य रूप से करी है। जनकपुरी दशरथ की अयोध्यापुरी, लंकापुरी और पुनः रामराज्य की अयोध्यापुरी का वर्णन करते समय तुलसी ने बाजारों का उल्लेख किया है। गोस्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित बाजार

वस्तु प्राप्ति का स्थान तो है ही साथ ही साथ इतने सुन्दर है कि वे नगरों की वृद्धि में भी सहायक है बाजारों तक व्यक्तियों और वस्तुओं के पहुंचने पहुंचाने की दृष्टि से उत्तम मार्ग सुख सुविधा प्रदान करते है। चौराहों पर प्रतिष्ठित बाजारों का सौन्दर्य ही कुछ अनोखा होता है। गोस्वामी जी ने बाजारों के साथ मार्गो एवं चौराहों का निर्देश अवश्य किया है। 'कही बीथी चौखट रूचिर बाजारू' की चर्चा और कही चवुहट्ट, हट्ट, सुबट्ट, बीवी चारू पुर वहु विधि बना की निर्दशना।

तुलसी के इन रूचिर बाजारों में अगणित वस्तुओं का व्यापार होता है। तुलसी ने यद्यपि सूर की भांति लौंग, नारियल, दाल, सुपारी, हींग, मिर्च, पिपरी, अजवाइन, कूट, जाइफल, सोठ निहरता, कटवीरा, आलम, जीठ, लाख, सेन्दूर, बाइबिडंग, बहेड़ा हर्र आदि वस्तुओं की सूची तो नहीं प्रस्तुत की किन्तु कुबेर तत्य धनिक बर बनिकों का नाना प्रकार की वस्तुओं को विक्रय हेतु लेकर बाजार में बैठने का संकेत किया है। 'यहाँ' बैठे सकल वस्तु ले आना। उक्त सूर की सूची की सभी वस्तुओं के साथ-साथ अनेक वस्तुओं की समृद्धि की अभिव्यक्ति है।

थोक और फुटकर आज भी देखे जाते है। व्यापारियों में कुछ तो अपनी दुकानों पर ही बैठकर वस्तुओं का थोक अथवा फुटकर विक्रय करते है। जिनका सम्बन्ध गोस्वामी जी के 'सकल' वस्तु बेचने वाले धनिकों से है। और कुछ सर पर गठरी या टोकरी तथा पीठ पर बचुका बांधकर गली गली वस्तुओं का विक्रय करते है। कभी कभी तो दो अच्छे खासे चतुर व्यापारियों को भी अपने वाग्जाल के प्रभाव से ढक लेते है। श्री कृष्ण गीतावली की गोपियों का भी यही दृष्टिकोण है। अपनी पीठ पर निर्गुण की साड़ियों का बचुका बांधकर घूमने वाली कुब्जा ने सयाने कृष्ण की भी ढग लिया है। अपनी स्मृति मात्र से जगत की युवतियों को मुग्ध कर लेने वाले कृष्ण को चतुर कुब्जा ने 'ज्ञान गठरी' जैसी तुच्छ वस्तु प्रदान करके रूप जैसी अमूल्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है।

''राखी सचि कूबरी पीठ पर ये बाते बकु चौही।

स्याम सो गाहक पाइ सपानी। खलि दुखाई है गोही।

नागर मनि शोभा सागर जेहि जग जुवती हंसि मोही।

लियो रूप दै ज्ञान गाठरी भलो ठग्यों ठगु ओहि।

चतुर और ठग कृष्ण भले ही ठग गये हो किन्तु तुलसी की गोपिया इतनी मूर्ख नही है कि उन्हे सरलता से ठगा से ज सके। गोपियों के शब्दों में गोस्वामी जी ग्राहक की निपुणता की ओर सभी संकेत कर देते है। उपभोग्य क्रय की जाने वाली वस्तु यदि ग्राहक की प्रकृति समाज क्षमता आदि के अनुकूल है। तभी वह क्रय की जाने योग्य है अन्यथा नही। गाँव में रहने वाली अनुराग वियोगनी अहीर बालओं के लिये निर्गुण की बारीक सारी कहां तक उपयोगी है गोपियों के ही शब्दों में देखिये।

''हे निर्गुन सारी बारीक बलि धरी करौ हम जोही।

तुलसी पे नाग रिन्ह जोग पट जिन्हहि आजु सव सोही।

गोस्वामी जी ने 'किसान' और इसी अर्थ में कृषक का प्रयोग किया है कृषक के व्यवसाय के लिये तुलसी ने कृषि तथा खेती का प्रयोग किया है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि तथा कृषक का अपना निजी महत्व है। भूमि का चयन कर उसे जोतना, बीज बोना, सींचना निकाई करना, काटना, राशि शीला और लवनी आदि कृषि सम्बन्धी क्रियाओं का तुलसी ने यथास्थान वर्णन किया है। कृषक बीज बोने से पहले खेत जोतकर नम बना लेते है। किन्तु उससे पहले उसे यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि जिस जमीन में वह कृषि सम्बन्धी कार्य करने जा रहा है। वह कैसी है। उसर भूमि कृषि के लिये नितान्त अनुपयोगी है। जिसमें परिश्रम करना और बीज डालने का कोई लाभ नहीं है इसका संकेत कई स्थलों पर तुलसी ने किया है। भूमि के कृषि उपयोगी उत्तम माध्यम और निकृष्ट गुणों का अनुमान जन लगाते है।

''बुध किसान सर वेद निज, मंतें खेत सब सींच।

तुलसी कृषि लखि जानिबों, उत्तम मध्यम नीच''।

गोस्वामी जी के अनुार यदि सुखते खेत में बीज-वपन के अनन्तर समयानुसार उसे सींचा जाय तो शस्य सम्पन्नता का लाभ अवश्य होता है।

''बीज राम गुन-गन नयन जलअंकुर पुलकालि।

सुकृती सुतन सुखेल बर विलसत तुसली सालि''

और ऐसी शस्य सम्पन्ता से युक्त पृथ्वी उपकरी की सम्पत्ति के समान अत्यन्त सुशोभित होती है। बीज बपन के अनन्तर चतुर किसान खेत की निराई करते है। अनावश्यक वृक्षों को उखाड़ कर फेंक देते है। गोस्वामी जी ने चतुर किसानों द्वारा खेती की निराई किये जाने का उल्लेख किया है। निराई के बाद सिंचाई का कार्य आता है। यह सिंचाई वर्षा और और किसान के प्रयास दोनों प्रकार से होती है। यदि समय पर वर्षा नहीं हुई अथवा खेत ना सींचा गया। तो बाद में खेती सूखने पर वर्षा या सिंचाई होने से कोई लाभ नहीं होता। कृषक और कृषि सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को सामान्यत: यह ज्ञान होता है कि ऋजु में जल के अभाव में सूखते हुए धान के खत में यदि पानी मिल जाता है। तो धानों के प्राणों में एक नयी उर्जा का संचार हो जाता है। और निरासा में आशा के अंकुरण का इससे अच्छा उपमान और क्या हो सकता है।

''सखिन्ह सहित हरसी अति रानी, सूखत धान परा जनु पानी।

धान की खेती को पानी की अधिक आवश्यकता पड़ती है। अत: सावन और भदों का महीना यदि अपने प्राकृतिक सार्मथ्य का परिचय देते रहे तो शालि की सम्पन्नता बढ़ जाती है। तुलसी कृषि के रूपक द्वारा भक्ति की सम्पन्ता की अभिव्यक्ति करते है।

''बरषा रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि, सुदास।

राम-राम बर बान जुग, सावन भादों मास''

खेती यदि क़िसान के घर से दूर है जिनकी देखभाल सरलता से नही हो सकती तथा वे खेत जो रास्ते में पड़ने के कारण चर लिये जाते है।

किसान के लिये सुखदायी होने की बात कौन कहे दु:ख दायी होते है। तुलसी ने पाही खेती और मग खेत को दु:ख के पांच भागों में किया है।

''पाही खेती लगनर बट रिन व्याज मग खेत।

बैर बड़े सो अपने किये पांच दु:ख हेत।

ये उस वर्ग के व्यापारियों में आते हैं जो बाजारों में वस्तुओं को बेचते है अथवा व्याज पर रूपयों का लेन देने करते है। 'मानस' के जनकपुरी-वर्णन और राम-राज्य वर्णन प्रसंग में अनेक वसतुओं को लेकर बेचने के लिये बैठने वाले कुबेर के समान धनी व्यापारियों तथा बिना मूल्य के भी वस्तु देने वाले सर्राफ बाजाज और व्यापारियों का उल्लेख हुआ है। परशुराम-लक्ष्मण संवाद में रूपयों के लेन देन सम्बन्धी व्यापार का भी किंचित उल्लेख देखा जा सकता है

''माता पिता असि भये जाके पनी के। गुरू रिन रहा सोच बड जी के।

सीजनु हमरेहिं माथे काढ़ा। दिन चलि गये व्याज बड़ बाढ़ा।

अब आनिअ व्यवहारिआ बोली। तुरत देऊ मैं थैली खोलीं।

गोस्वामी जी ने व्यापार के लिये बारह अनुकूल और चौदह प्रतिकूल नक्षत्रों का निर्देशन दोहावली में किया है जो इस प्रकार है।

''श्रुति गुनि करि गुन पु जुग मृग हय खेती सखाइ।

देहि लेहि धन धरनि धरू मएहुँ न जाइहि काऊ

अगुन पु गुन बि अज कृम आ म भू गुनू साथ

हरो घरों गाड़ों दियों, धन फिरि चढइ न हाथ''

गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में हर प्रकार के प्रसूनों का विछावन दिया है। समय-समय पर कार्य में आने वाले नाऊ, बारी, कहार, जुलाहा, माली, दर्जी, कुम्हार चमार, लोहार एवं, तमोली तथा अहीर का वर्णन उन्होंने तरह तरह के अनेक स्थानों पर आवश्यकता पड़ने पर किया है।

इसी प्रसंग में राम विवाह के अवसर पर ज्योनार पाने वाले में नाऊ, भाट, नट के साथ बारी का भी उल्लेख है जाति विशेष का कर्ा समय समय पर करने वालों का व्यापारित व्यवहार भी उनके द्वारा उल्लेख किया गया है।

राम विवाह के समय बारी की पत्नी का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है क्योंकि इस पावन पर्व पर उसका भी कार्य है तथा नेग का सुनहरा अवसर भी है।

''कटि कै छीनो बरिनिया छाता पानिहि हो।

चन्द्रबदनि मृगलोचनि सव रसे खानिह हो।

बाग वाटिका तैयार करना तथा फूलों का व्यवसाय में माली को महारत हासिल है। हां सुन्दर खुशी के पावन पर्व पर तथा नित्य भगवान की आराधना हेतु फूलों की आवश्यकता होती है गोस्वामी जी द्वारा माली के कार्य का सोभनीय वर्णन है।

''पुलक वाटिका बाग बन सुख सुविहंग बिहारू।

माली सुमन स्नेह जल सीचत लोचन चारू''

विवाहदि में माली का एक और प्रमुख कार्य है मोर सर में लगाने वाली वस्तु का देना इसका कितना सजीव चित्रण उनके द्वारा किया गया है।

''व्रतिया सुघरि मलिनिया, सुन्दर गातहिं हो।

कनक रतन मनि मौर लिहे मुसुकातहि हों''

इसी तरह बिना वस्त्रों क साज सज्जा तो होती नही तथा इसके बिना कार्य भी किसी प्रकार असम्भव है। यह मनुष्य की प्रथम आवश्यकता है। जिसे दर्जी जाति का व्यक्ति करता है।

''दरजिनि गोरे गात लिये कर जोरा हो।

केसरि परम लगाइ ,सुगन्धन बोरा हों''

गोपालन तथा दूध दुहकर उसका यही, मक्खन और घी आदि बनाकर बेचना आहीरों का व्यवसाय है। मानस के ज्ञान दीपक प्रसंग में गोस्वामी जी ने आत्मनियमित निर्मल मन को अहीर मानकर श्रद्धा धेनु का पालना चराना

दूहना और दूध का दही बनाना तथा उसे मथकर मक्खन निकालकर घी बनाना आदि अहीर के कार्यो का चित्रण बड़े ही स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है।

''सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई।
जप तप वृत जम निपम अपारा। जे श्रुति कह सुभ्र धर्म अचारा।
तेइ तल हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई।
नोइ निवृत्ति पात्र विस्वासा, निर्मल मन अहीर निज दासा ।
परम धर्ममय प्रभु दुहि भाई। अवेटे अनल अकाम बनाई
तोग मारूत तब क्षगा सुडोव घृति सम जावुन देह जमावे।
मुदितां मथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी
जव मथि काढ़ि लेइ नवनीता। विमल विराग सुभग सुपुनीता''
जोग अगिनि करि प्रगट। तब कर्म सुभा सुभलाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ।

लकड़ी काटकर गृहस्थी के समान जो खेत तथा ग्रहकार्य में प्रतिदिन आवश्यक है बनाना बढ़ई का कार्य है। क्योंकि बिना उसके रोज के आवश्यक कार्य किसी भी प्रकार सम्भव नही है।

''मातु कुमत बढ़ई अद्य मूला। तेहि हमार हित कीन्ह बंसूला।
कील कुकाटु कर कीनह कुजय। गाड़ी अलधि पढि कठिन कुमम''

इस प्रकार जातिसूचक व्यवस्था जो गोस्वामी जी के समय में प्रचलित थी। अब प्राय: समाप्ति की ओर है। परन्तु उस समय उस जाति विशेष का कार्य जाति विशेप वर्ग का ही व्यक्ति करता था। तथा उसके और सब कार्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज उसकी सेवा के फलीभूत होने पर दूसरी वस्तुओं पर द्रव्य देकर करते थे। हमारे समाज में नाऊ का स्थान बहुत प्रासंगिक है। तथा हर दुख और सुकार्यो में इसकी आवश्यकता पड़ती है। मांगलिक कृत्यों में तो उसे इतना न्यौछावर मिलता है कि उसके परिवार को

किसी भी प्रकार की कोइ दिक्कत नही होती थी। नाऊ का एक उदाहरण प्रस्तुत पंक्तियों में इसका प्रमाण है।

"भरि गाड़ी निवछावरि नाऊ लाइव हो।
परिजन करहि निहाल असीसत आइव हो।
तापर करहिं सुमौज बहुत दु:ख सोवहि हो।
होई सुखी सब लोग अधिक सुख सेवाहि हो।

इसी प्रकार मांगलिक अवसरों में वेदिक और लौकिक कृत्यों में सम्पन्न करोने वाले विप्र को पुरोहित कहते है। तुलसी काव्य के वसिष्ठ और शतानन्द विवाहदि अवसरों पर उक्त कृत्यों को सम्पन्न कराते है। यद्यपि वशिष्ठ जी ने उपरोहित्य, कर्म को वेद पुराणों और स्मृतियों द्वारा निन्दित कृत्य कहा गया है। किन्तु ब्रम्हा के आदेशानुसार नर रूप में अवतरित होने वाले ब्रम्हा के पद पंकज प्रीति निरन्तर को "सव साधन कर यह फल सुन्दर" मानकर उन्होंने इस धर्मशास्त्र निन्दित कृत्य को भी स्वीकार किया है। वशिष्ठ जी स्वत: कहते है।

अपरोहित्य कर्म अति मंदा। वेद पुरान सुमृति कर निन्दा।
जवन लेऊं मै तब विधि मोहि। कहा लाभ आगे सुत तोही।
परमात्मा ब्रम्ह नर कथा। होइहि रघुकुल भूषन भूषा।
तब मै हृदय विचाए जोग जग्य बृत दान।
जा कहुं करिऊ सौ पैहऊ धर्म ए एहि सम आन"

दूत से अभिप्राय उस सेवक विशेष से है जो कही कोई सन्देश लेकर जाये अथवा कहीं से कोई सन्देश लेकर आये। इस प्रकार दूतों की जीविका का साधन दैत्य कर्म पर सन्देश वहन करना होता है। मानस में गोस्वामी जी ने दूत और दूती दोनों का उल्लेख किया है। अधिंकाश प्रसंगों में गोस्वामी जी ने दूतों के साथ 'जाना' 'आना' भेजना, बात कहना, पूछना आदि शब्द जोड़ दिया है। जो दैत्य कर्म को इस प्रकार स्पष्ट करते है। कि दूत कही जाते है। कहीं से आते है। कही भेजे जाते है कुछ कहते है। और उनसे कुछ

पूंछा जाता है। मानस के उदाहरणों में दूतों के उक्त कृत्य का संकेत मिलता है।

''दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनह राम बोले मुस्काई।
दूतन्ह जाई तुरत सब कहेऊ। सुनि खर दूषन उर अतिदहेऊ।
दूतन्ह आई भरत कर करनी। जनक समाज जथा मति बसी।
जनक दूत तेहि अवसर आये। मुनि वशिष्ठ मुनि बेगि बोलाए।
दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहि नृप दशरथहिं बोलाई।
मूदि राऊ कहि भलेहि कृपाला। पढ़ऐ दूत बोलि तेहिं काला।
दूत बचन रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप वीर रस पागी।
दूतन्हि सन सुनि पुरजन बानी। मन्दोदरी अधिक अकुलानी।
दूतन्ह मुनिवर बूझी बाता। कहहु विदेह भूष कुसलाता।

गोस्वामी जी ने दूत शब्द को चार। (गुप्तचर) के रूप में प्रयोग किया है। उदाहरण देखें।

''गये अवध चर भरत गति बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहिं भरतु चार चले तेर हूति।

औषधि सम्बन्धी अपने ज्ञान से अपनी जीविका का निर्वाह करने वाले व्यक्ति वैद्य है। इसकी गणना व्यापारियों के अन्तर्गत नही की जा सकती क्योंकि औषधि के निर्माण और विक्रय से अधिक महत्व है इसके ज्ञान का ''मानस'' के सुसेन वैद्य अपने ज्ञान से लक्ष्मण को जीवित करते है। गोस्वामी जी ने वैद्य और चिकित्सकों के स्वतंन्त्र चिन्तन को वरीयता दी है। और इनके गुणों के आधार पर ही इन्हें मंत्री और गुरू की श्रेणी में रखा है।

''सचिव वेद गुरू तीनि जो प्रिय बोलाहि भय आस।
राज धर्मातन तीनि क्रर होहू बेगहि नास''

इस प्रकार गोस्वामी जी की लेखनी से निस्यूत राम चरित्र मानस में जो रस प्रवाहित हुआ है उसका रसपान प्रत्येक भारतवासी तो करते ही है। इस अमृत रस के प्रवाह का देश-विदेश की तमाम भाषाओं में अनुवाद हुआ है

इसके अध्ययन करने वाले तमाम रसज्ञ तो इस अमृतपान का अध्ययन अध्यापन के लिये अपने देश को छोड़कर भारत आकर प्राप्त करना चाहते है। तथा अपना घर बार त्याग कर इस अमृत का पान करते है। जैसे जैसे इस रसमयी प्रवाह में वह गोते लगाते है। कभी भी समाप्त नही होती है इसकी लालसा ही वह बिन्दु है जब रसिक व्यक्ति तमाम प्रकार की मानवीय भावनाओं को सार्गो पाग वर्णन प्राप्त करता है तथा उस रस प्रवाह में वह इतना भाव विहवल होता है कि बस प्रवाह चलता रहे तथा मन उसका रसपान करता रहे।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी साहित्य के उज्जवल नक्षत्र थे। जिनकी कृपा से इस संसार में एक अद्भुत रसमयी तथा समाज के परिस्थितियों के अनुकूल उचित अनुचित का विश्लेषण करती हुई एक मनोवैज्ञानिक कथानक जो किसी भी भाव प्रवीण स्रोता को वस्तु स्थिति से ऊवगाहन कराता है। समाज की अच्छाइयों बुराइयों से परिचित कराता है। ऐसा अद्भुत गन्थ है राम चरित्र मानस तथा उसके भावप्रवीण लेखक गोस्वामी तुलसीदास जी को उनके अकथनीय प्रयास पर पूरा संसार नतमस्तक हो रहा है। तथा उनके इस प्रवाह को उनके सुविचारों का लाभ ले रहा है। फिर भी गोस्वामी तुलसी दासजी की महानता जो श्रीराम के प्रति समर्पित है। इस दोहे से स्पष्ट हो रहा है। जो उनकी विनम्रता का सूचक है।

"राम सो बड़ों है कौन मो सो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो।

लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी-काव्य-गगन के सबसे अधिक दीप्तिमान नक्षत्र हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा और पाण्डित्य का प्रभाव देश-काल की सीमा का अतिक्रमण कर आज सार्वकालिक और सार्वभौम होकर सर्वत्र व्याप्त हो गया है। उनकी काव्य-कृतिया अपनी प्रभूत भाव-सामग्री, अनुपम अभिव्यक्ति-पद्धति, समृद्ध भाषा शैली, प्रचुर कल्पना सृष्टि, अद्भुत वस्तु

विन्यास और उत्कृष्ट कला-कौशल के कारण हिन्दी काव्य में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

तुलसीदास मूलतः भक्त और सन्त कोटि के साधक है। काव्य-रचना के मूल में भी भक्ति आत्मोद्धार की ही प्रेरणा थी - अन्यथा अपने काव्य प्रणयन को वे स्वांत-सुखाय क्यों कहते? 'रामचरितमानस' जैसे विशाल महाकाव्य की रचना करते समय भी तुलसी की अपेक्षा भक्त तुलसी की भावना ही प्रबल रही। 'रामाचरितमानस' को 'राम' भगति सुरसरि कह कर ही वह राम-भक्ति के अगाध सिन्धु में प्रवेश कराते हैं। कविता उनका साधन है-साध्य है राम भक्ति। किन्तु अपने साध्य तक पहुंचने के लिए गोस्वामी जी ने जिस साधना को स्वीकार किया, उसे इतना पूर्ण और समर्थ बना दिया कि भक्ति और साहित्य, दोनों ही क्षेत्रों में उतनी अधिक सफलता किसी अन्य कवि को नहीं मिली है।

तुलसीदास मुख्य रूप से प्रबन्धकाव्य-प्रणेता महाकवि हैं किन्तु उनकी प्रतिभा का क्षेत्र प्रबन्धात्मकता या कथा-कौशल तक ही सीमित नहीं रहा। काव्य के प्रसाधन और समस्त आवश्यक उपकरणों को जुटाने और संवारने में उन्हें अद्भुत और अपूर्व सफलता मिली है। काव्य के प्रमुख भेद, प्रबन्ध और मुक्तक माने जाते हैं। इनमें प्रबन्ध कोटि के कवि अपनी भावुकता तथा मार्मिकता का परिचय जीवन के अनेक हृदस्पर्शी, मार्मिक वर्णनों द्वारा प्रस्तुत करते हैं और यथार्थ तथा वास्तविक भाव-भूमि को नहीं छोड़ते। उनका काव्य, जीवन की यथार्थ अनुभूतियों से रहित कल्पना की ऊंची उड़ान और अतिरंजना की चमत्कारपूर्ण पद्धति पर प्रतिष्ठित नहीं होता है। जैसा कि मैंने अभी कहा, की गोस्वामी जी का काव्य मुख्य रूप से प्रबन्ध कोटि का है, अतः प्रबन्ध काव्य के तत्वों के आधार पर उसका विवेचन आवश्यक है। प्रबन्ध काव्य की मूल भित्ति कथावस्तु है- उस कथावस्तु का यथोचित विन्यास ही कवि को सफल या असफल बनाता है। यदि कवि महाकाव्य-प्रणयन में लीन हुआ है, तो उसे प्रबन्ध की व्यापक परिभाषा को सामने रखना होगा। चरित्र चित्रण,

रस-निरूपण, प्रकृति-वर्णन, मर्यादा स्थापना, लोक-संरक्षण, और आद्योपान्त कथा का आकर्षण महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में हम इन सभी तत्वों की जैसी परिपूर्णता देखते हैं, वैसी हिन्दी के किसी दूसरे महाकाव्य में नहीं। 'रामचरितमानस' कथा-कौशल की दृष्टि से इतना पुष्ट है कि उसका प्रकार और प्रसार अपने मूलाधार ग्रन्थों में भी कई गुना अधिक है। 'रामचरितमानस' की कथा को तुलसी ने जिस रूप में पल्लवित किया है, उसका रूप ही कुछ निराला है। वाल्मीकि-रामायण अध्यात्म-रामायण तथा अन्य संस्कृति-ग्रन्थों से कथा का स्रोत ग्रहण करके भी तुलसी ने उसे अपनी उद्भावना-शाक्ति से एकदम नया कलेवर दे दिया है। 'श्रुतिसम्मत' और 'नानापुराणनिगमागसम्मत' होने पर भी 'रामचरितमानस' की कथा तुलसी-सम्मत अधिक है और इसी कारण वह वाल्मीकि रामायण से भी अधिक रोचक तथा आकर्षक है। तुलसी की प्रबन्धात्मक रचनाओं में तीन का मुख्य स्थान है- 'रामचरितमानस' 'पार्वतीमगल' 'जानकीमंगल'। प्रबन्ध अथवा वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'पार्वतिमंगल' प्रधान है। 'मानस' तुलसी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। कथा की संघटना के साथ लोक मर्यादा और लोककल्याण की भावना को प्रबद्ध रख़ते हुए रचना में लीन तुलसी को जैसी सफल्ता इस महाकाव्य से मिली है, वैसी किसी अन्य कवि को नहीं मिली। 'रामचरितमानस' में कवि का ध्यान मुख्यरूप से नेता या नायक श्री राम पर है- नेता के आश्रय से दूसरी वस्तु पुष्ट हुई है, रस। नेता और रस की विवृति हो जैसे 'मानस' का अभीष्ट है। तुलसी की कथावस्तु इतनी सुश्रृंखल और सन्तुलित रही है कि वह राम महिमा के विस्तार के साथ जन-साधारण का अतुलनीय मनारंजन, अपार आकर्पण और अमित कल्याण-साधन करने में समर्थ होती है।

चरित्र-चित्रण को प्रबन्ध-काव्य का दूसरा गुण कहा जाता है। तुलसी ने चरित्रां का विकास अपने विशिष्ट सास्कृतिक धरातल पर किया है। चरित्र चित्रण का उत्कर्ष यही है कि उससे पात्रों के वास्तविक स्वाभाव ओर कर्म

का यथार्थ परिच्चय प्राप्त हो सके। रामायण में तुलसी ने सात्विक, राजसी और तामसी, तीनों कोटियों के पात्रों का समावेश करके दो प्रकार के चरित्रों का पृथक-पृथक विभाग कर दिया है- एक तो वे चरित्र हैं, जो सर्वथा आदर्श कहे जा सकते हैं और दूसरे सामान्य। राम, सीता, भरत हनुमान, आदि आदर्श कोटि के उदात्त चरित्र हैं और दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी, आदि सामान्य स्वाभाव के। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त 'कवितावली' गौर 'गीतावली' में भी इन चरित्रों के विकास का इसी रूप में ध्यान रखा गया है। इन चरित्रों के विकास और उत्कर्ष के लिए तुलसी ने बड़ी कुशलता से अपने काव्य में सुन्दर सम्वादों की अवतारणा की है और उनके द्वारा काव्य की शैली को ही रोचक नहीं बनाया, अपितु उसमें नाटकीयता का सुन्दर पुट भी दे दिया है। तुलसी के सम्वाद, विदग्धता, स्वाभाविकता, स्पष्टता ओर नाटकीयता की दृष्टि से इतने सरस और सुन्दर बन पड़े हैं कि पाठक उनके काव्य-कौशल पर मुग्ध हुए विना नहीं रहता। उदाहरण के लिए, परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद, मन्थरा-कैकेयी-सम्वाद, रावण-अंगद-सम्वाद, आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है।

तुलसी ने अपनी प्रतिभा से रामकथा के मार्मिक स्थलों को विशेष रूप से चुना हैं, जो सहृदय की संवेदनाओं को प्रबुद्ध कर उनमें लीन करने की क्षमता रखते हैं। तुलसी की भावुकता का परिचय इन मार्मिक प्रसंगों के पढ़ने से स्वतः हो जाता है। मानव-प्रकृति के विविध रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य देख कर उनकी सूझबूझ तथा अन्तः प्रवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि पर विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है उनके काव्य कौशल प्रमाण है कि उनके द्वारा वर्णित हास्य-रूदन, राग-विराग, आनन्द-उत्साह, हर्ष, शोक को हम अपना समझ कर उसके साथ पूरा-पूरा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके आत्मविभोर हो उठते हैं। 'कवितावली' तथा 'रामचरितमानस' में वर्णित तुलसी का राम वन गमन-प्रसंग किसे आनन्दाश्रु की धारा में निमज्जित न कर देगा

घर ते निकसीं रघुवीर वधू धीर धीर दए मग में पग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सुखि गये मधुराधर वै।
फिर पूछति है चलनौ अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियां अतिचारू चलीं जल च्वै।

जिस राम को राजगद्दी छोड़ते समय रंचमात्र भी क्लेश नहीं हुआ, उसे ही तिय की आतुरता देख कर आसू घेर लेंगे- यह कवि की सुन्दर उद्भावनाच नहीं तो क्या है? तुलसी ने अपने काव्य-कौशल से एक ही भाव को अनेक रूप देकर सचमुच अपनी विलक्षण काव्य-क्षमता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए, 'रामचरितमानस' में वर्णित सीता-वियोग और 'गीतावली' का सीता-वियोग भिन्न प्रकार का है और वह दोनों ही स्थितियों में बड़ा मोहक और स्वाभाविक है। अरण्यकाण्ड में राम कहते हैं :

हे खग मृग है मधुकर स्त्रैनी, तुम देखी सीता मृग नैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रवीना।

यह कहकर राम अपने साधारण मनुष्य-रूप का परिचय देते हैं, सीता का वियोग हनुमान द्वारा 'गीतावली' में वर्णित है हनुमान कहते हैं :

चित दे सुनहु राम करूनानिधि मानौ कछु पै सकी कहि हौ न,
लोचन नीर कूपन के भा ज्यों रहत निरन्तर लोचन कोन।

'रामचरितमानस' में तुलसी ने प्राय: सभी भावों का वर्णन प्रस्तुत किया है। श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, अदृभुत, शान्त, सभी रस अपने भाव विभाव और सचारी भावों के साथ तुलसी के काव्य में बिखरे पड़े हैं। अपने भावों को विशद व्यजना के लिए कवि तुलसी ने भी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सहज अलंकारों का समावेश किया हैं, किन्तु तुलसी के काव्य में अलंकार आरोपित याकृत्रिम नही, व्रन नैसर्गिक और अनिवार्य उपकरण बन कर ही आए हैं। रूप वर्णन के लिए तो तुलसी ने उपमा और उत्प्रेक्षा का ऐसा समीचीन प्रयोग किया है कि उससे प्रस्तुत रूप-विधान एकदम नेत्रों के सामने

सजीव हो उठता है। लंका में राम-रावण युद्ध में रक्त के छींटों से लिप्त राम का सौन्दर्य 'कवितावली' में तुलसी ने उत्प्रेक्षा-द्वारा कहा है :

> सोभित छींट छटा निज तें तुलसी प्रभु सौहे महा छवि छूटी।
> मानौं मरक्कत सैल विसाल में फैलि चली वर वीर बहूटी।

उन्हीं राम का रूप 'गीतावली' में कामदेव के समान वर्णित हुआ है- राजत राम काम सत सुन्दर। 'विनयपत्रिका' में तो तुलसी ने प्रायः सभी देवी-देवताओं के रूप, शील तथा शक्ति का वर्णन किया है और उसमें अलंकारों का जैसा प्रचुर प्रयोग हुआ है, वह कवि की विद्वता के साथ काव्य-कौशल का भी परिचायक है। भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक अलंकर वस्तुओं के रूप का परिचायक है भावों की उत्कर्ष योजना में गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार तथा क्रिया का अनुभव करने में सहायक अलंकार-इन चारों ही शैलियों में तुलसी का अलंकार विधान हुआ है, और वह इतनी पूर्णता के साथ हुआ है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

तुलसी ने अपने काव्य में बाह्य दृश्य-चित्रण भी अनूठे किए हैं पात्रों की आन्तरिक भावनाओं की विवृति के साथ उन्होंने बाह्य रूप सौन्दर्य तथा अंग सौष्ठव का बड़ा ही सर्वांगपूर्ण चित्र अंकित किया है। प्रकृति-चित्रण में भी कवि की वृत्तियां पूर्ण रूप से रमी हैं। शुद्ध आलम्बन बना कर तुलसी ने प्रकृति वर्णन नहीं किया, किन्तु जिस रूप में भी उसे रखा है, वह काव्य-कौशल की कसौटी पर खरा है। तुलसी कथांश को छोड़कर प्रकृति के रूप में मुग्ध होने वाले कवि नहीं हैं, किन्तु कथा-प्रसंग के साथ प्रकृति छटा में उनकी चित्त वृत्ति पूर्ण रूप से रमती हैं। तुलसी का वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन इस कथन के प्रमाण हैं कि उन्होंने कथा और नीति, दोनों का सम्बन्ध प्रकृति-वर्णन से रखकर अपनी शैली का निर्वाह किया है। संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण की शैली से भी तुलसी पूर्णतः परिचित थे औरवह इसमें अच्छा कौशल दिखा सके। उनका अधिकांश प्रकृति-वर्णन वस्तुनिष्ठ है।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी तुलसी की अद्‌भुत क्षमता का परिचय हमें उनकी काव्य कृतियों में मिलता है। अवधी और ब्रज भाषा, दोनों का अगाध ज्ञान और प्रकाण्ड पाडिण्त्य 'रामचरितमानस' 'कवितावली' 'विनयपत्रिका' और 'गीतावली' में देखा जा सकता है यों कहने को तूलसी ने अपनी भाषा को गंवारू कहा है, किन्तु अवधी भाषा के पूर्ण ज्ञान के लिए तुलसी-साहित्य पर्याप्त है और उनका शब्द-भण्डार भी इतना व्यापक है कि कुछ और पढ़ने की आवश्यकता शेष नहीं रहती। चलती और सरस बृजभाषा का नमूना उनकी 'कवितावली' और 'गीतावली' में देखा जा सकता है। बृजभाषा के शब्दों का नैसर्गिक प्रयोग तुलसी को सिद्ध था। वह इतने हसज रूप में बृजभाषा लिख गए हैं कि उसे पढ़ कर उनका अवधवासी या काशीवासी होना हमें आश्चर्य में डाल देता है। बृजभाषा के सीधे-सादे शब्दों का एक उदाहरण सुनिए :

राम सोबड़ी है कौन, मो सों कौन छोटी।

राम सों खरी है कौन, मो सों कौन खोटी।

इसमें बड़ी, छोटी, खरी, खोटी, कितने सरल और सरस शब्द हैं। 'गीतावली' में भरत कहते हैं- जो पै हौं मात मते ह्वै हौं। तो जननी जग में या मुख की कहां कालिमा ध्वैहों। ''कवितावली' तो उनके बृजभाषा-सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। तुलसी संस्कृति भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे- अवधी उन्हें सिद्ध थी, बृजभाषा को उन्होंने रमा लिया था। उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग वे इतनी सजीव शैली से कर गए है, जैसे इन भाषाओं को भी उन्होंने खूब सुन कर सीखा था। बहुश्रुत होने का हीयह फल है कि उन्हें भाषा का पूर्णाधिकार प्राप्त हो सका।

शैली की दृष्टि से उन्होंने. प्रबन्ध तथा मुक्त, दोनों प्रकार की पद्धतियों की काव्य-रचना की। अत: दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति उनके काव्य में है। तुलसी की प्रारम्भिक कृतियों की शैली में प्रौढ़ता नही है। 'रामललानहछू' वैराग्य सन्दीपनी, 'रामाज्ञाप्रश्न आदि रचनाएं भाषा तथा भाव, दोनों दृष्टियों से

हल्की है अतः उनकी शैलियों भी अप्रौढ़ हैं, किन्तु बाद की रचनाओं में शैली की विविधता तथा प्रांजलता देखकर कहना पड़ता है कि तुलसी के समान शैली निर्माता और शैली ज्ञाता दूसरा कवि नहीं हुआ। किसी भी कवि ने इतनी विविध शैलियों में कविता नहीं की, जितनी शैलियों में तुलसी ने की। तुलसीदास की अनुपम शैली का सौन्दर्य, उसकी ऋजुता, सुबोधता, सरलता, चारूता रमणीयता, लालित्य और प्रवाह है। 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' में उनकी शैली की चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है। तुलसी की विशेषता यह है कि प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर आवश्यक प्रतीत होता है। मंगलाचार के लिए स्त्रियों की गीत शैली पर उन्होंने 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' लिखी। दोहे की शैली पर 'दोहावली' लिखी, कविता-सवैये की शैली पर 'कवितावली' लिखीः पदों की शैली पर 'गीतावली' लिखी। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने काव्य की शैली, भाषा तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से परिपूर्ण और सर्वागीण बना कर प्रस्तुत किया है। शैली में शिल्प और कला को जिस सुन्दर-रूप में कवि ने संजोया है, वह उसकी शैली का अद्‌भुत कौशल है।

संक्षेप में तुलसी निसर्गसिद्ध प्रतिभावाले क्रन्तिदर्शी कवि थे। स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना में लीन होने पर वहय कला के समस्त ब्राह्य उपकरण उनकी कृतियों में इतने प्रचुर परिमाण में समविष्ट हो गए हैं कि उनकी समता हिन्दी का दूसरा कोई कवि नहीं कर सकता। भाव, भाषा, शैली, अलंकार, रस, पदलालित्य, कथा, वस्तुविन्यास सभी कुछ शिल्पकारी के उस उच्च स्तर पर एकत्र हुआ है कि वहां तक पहुंचना दूसरों के लिए कठिन है। तुलसी हिन्दी-कविता कानन का सबसे बड़ा वृक्ष है- उस वृक्ष की शाखा को प्रशाखाओं ` काव्य कौशल की चारूता और रमणीयता चारों ओर बिखरी है।

चरित्र चित्रण :

अगम सनेह भरत रघुवर को।

जहं न जाइ मनु विधि हरि हर को।

मिलन-प्रीति किमि जाई बखानी।
कवि कुल अगम करम मन वानी।
राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी।
तन परिहरेउ प्रेम पनु लागी।।
रामहिं कहेउ राउ वर जाना।
कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रयाना।।
चारू चरन नख लेखति धरनी।
नुपपुर मुखर मधुर कवि वरनी।।
मनहुं प्रेमबस विनती करहीं।
हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं।।
बन्दउं सन्त असज्जन चरना।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।।
बिछरत एक प्रान हरि लेहीं।
मिलत एक दुख दारून देहीं।।
निज प्रतिबिम्कु वरकु गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई।।
काह न पावकु जरि सक का न समुद्र समाइ।
का न करे अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ।
कंकन किंकिनि नुपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विस्व विजय कहं कीन्हीं।।

मधुमक्खी असंख्य पुष्पों .से मकरंद ग्रहण करती और सर्वथा नवीन अमृतोपम मधु निर्मित रती है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी काव्य-रचना के हेतु अपने से पूर्व समस्त धर्म और नीति काव्य ग्रंन्थों से भाव ग्रहण किए। उन्होंने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही इस तथ्य को स्पष्ट रूप से

स्वीकार किया है। वेद, शास्त्र, पुराणों और रामायणों का उल्लेख तो किया ही है, क्वचिदन्यतोअपि के द्वारा रघुवंश और 'पउमचरिउ' आदि ग्रन्थों की ओर भी संकेत किया है। तुलसी द्वारा प्रस्तुत राम कथा में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, प्रतिमानाटक, रघुवंश महावीरचरित, योगवाशिष्ट, हितोपदेश, स्तोत्रों तथा स्मृतियों आदि से भाव प्राप्त किए गए हैं। वेद, शास्त्र, पुराणा और रामायण का उल्लेख किया ही है, क्वचिदन्यतोअपि के द्वारा रघुवंश और 'पउमचरिउ' आदि ग्रन्थों की ओर भी संकेत किया है। तुलसी द्वारा प्रस्तुत राम कथा में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, प्रतिमानाटक, रघुवंश महावीरचरित, योगवाशिष्ट, हितोपदेश, स्तोत्रों तथा स्मृतियों आदि से भाव प्राप्त किए गए हैं। इस प्रकारजो सामग्री उन्होंने अपने काव्य में दी है उसमें अधिकांश बाहर की है। तात्पर्य यह है कि यादि स्थूल रूप से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत विषयवस्तु में उनकी मौलिकता उद्‌भावना के अंश बहुत कम है फिर भी सर्वत्र से प्राप्त सामग्री का संयोजन उन्होंने इस प्रकार किया है कि उसकी रूपरचना ऐसी हुई है कि यदि उसे 'न भूतों न भविष्यति कहा जाय तो कोई भी अत्युक्ति न होगी।

काव्य में मौलिकता से अभिप्राय ।केवल यही नहीं है कि रचना अपने आप में सर्वथा नवीन हो। कवि अपने से पूर्व के बाङमय को। आत्मसात् करके उसे सर्वथा नये रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की रचनाओं से पाठक को नया। रसानंद मिलता है। पुराने स्वपादि धातुओं को लगाने के बाद निर्मित नए आभूषण सबको नए ही लगते हैं। गोस्वामी तुलसीकृत रचनाओं में आधार भले ही वेद से लेकर तत्कालीन धर्म, लोक-विश्वास एवं काव्यों का हो, पर है वह एकदम नवीन, इ्सलिए उसकी मौकिलता में किसी को शंका भी नहीं है। इस संबंध में तुलसीदास कृत काव्यों की विषयवस्तु चरित्र-चित्रण और भाषा पर विचार करना यथेष्ट होगा

गोस्वामी जी ने रामकथा का आधार मुख्तया वालमिकि रामायण और अध्यात्म रामायण को बनाया किन्तु जो विषयवस्तु उसमें है वह आदि से अन्त तक नवीन है। ग्रन्थ के नामकरण में ही उनकी नवोन्मेषशलिनी प्रतिभा का प्रभाव प्रतिभासित है। उनकी रामकथा के प्रथम वक्ता-श्रोता शिव पार्वती हैं अत: उन्होंने रामचरिमानस नाम की सटीक व्युयत्पत्ति बताते हुए लिखा है-

रचि महेस निज मानस राखा। सुसमय पाइ सिवा सन भाखा।

तार्ते रामचरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरिषि हर।।

फिर इस मानस रूपी मानसरोवर को लम्बे और सार्थक सांग रूपक द्वारा चरितार्थ किया। इस मानसरोवर के चार संवादों ही चार घाट हैं। ये संवाद शिव पार्वती, काकभुशुंड-गरूड़ याज्ञवल्क्य-भारद्धाज और तुलसी संत समाज हैं। इसमें सात सोपान है। भगवान की अमित महिमा का गान ही इसका अगाध जल है। 35 से 43 दोहे तक बड़ा सांग और सटीक रूपक ही जिसे हृदयंगम कर सहृदय पाठक मौलिकता पर निछावर हो जाता है।

ग्रंथ का मंगलाचरण अपने ढंग काएक ही है। इसमें गणेश से लेकर विष्णु, शिव और गुरू की वन्दना तो है ही संतों ओर खल जनों की भी वन्दना है। संत और असंत जनों की समानता बड़ी विलक्षणता के साथ प्रस्तुत की है-

बंदउं संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।।

बिछुरत एक प्रान हरि लेहि। मिलत एक दुख दारून देहीं।

व्याजस्तुति और व्याजनिंदा का ऐसा तो चमत्कारी रूप कहां मिलेगा? मंगलाचरण कितना विशाल है, 29 दोहों और बीच की चौपाइयों में अनुकूल चलता रहा है।

रामावतार के लिये जय-विजय, कश्यप अदिति, जालंधर-वृन्दा, नारदमोह मनु-शतरूपा और राजा प्रतापभानु के उपाख्यान प्रस्तुत किये गये है। ये कथाएं तुलसी-मानस की उपज नहीं हैं, विभिन्न पुराणों से प्राप्त की गई है। फिर भी लौकिक कथा पर आध्यात्मिक आवरण डालने के लिए जो संयोजना की गयी

दोनों भूमिकाओं का समाहार हो जाता है। देवताओं की प्रार्थना पर सरस्वती जी अयोध्या जाती हैं और मंथरा की बुद्धि उलटी कर देती हैं।

दशरथ कैकेयी विवाह की कथा का कहीं उल्लेख नहीं होता है। इसके उपरान्त मंथरा कैकेयी-दशरथ, कैकेयी-राम, राम कौशिल्या, सीता राम, राम-लक्ष्मण और लक्ष्मण सुमित्रा के जो सम्वाद गोसवामी जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर लिखे हैं, वे सर्वथा बेजोड़ हैं। तर्क सद्भाव और लौकिक आदर्श के इस त्रिवेणी में जो अवगहन करता है यउसे रसानन्द और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में जयन्त चंचु-प्रहार वक्ष पर करता है, गोस्वामी जी ने चरण पर प्रहरा कर कर यथार्थ को नैतिक आदर्श में बदल दिया। सीताहरण से पूर्व छाया प्रकरण वाल्मीकि रामायण में है। अन्त में युद्धकाण्ड (लंकाकाण्ड) में राम अग्नि से अपनी धरोहर वापस लेते हैं। आध्यात्म रामायण से राम सीता से रावण द्वारा सीता हरणा की कथा पहले ही सुनाकर कर कहते हैं कि वे अपनी छाया को कुटी के बाहर छोड़ दें और स्वयं एक वर्ष तक अग्नि में छिपी रहें। तुलसीदास जी ने छाया-सीता की बात तो रखी है किन्तु लक्ष्मण भी उसे न जा सके। बाद में लंका काण्ड में राम ने सीता की अग्नि परीक्षा कराई और कटुवचन तक कहे। सीताजी ने उनके बचन शिरोधर्य करके कहा :

लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रकट करहु तुम बेगी।।
जों मन-वच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुवीर आन गति नाहीं।।
तो कृसानु सब के गति जाना। मो कहुं होऊ श्रीखंड समाना।।

बात हुई भी वही। अग्निदेव प्रकट हुए और उन्होंने सीता जी को राम को समर्पित किया-

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी अग्नि सो।

तात्पर्य यह है कि छाया-सीता के भाव को ग्रहण करते हुए है और राम राजनीति के द्वारा उसके विरोध को विनय मतें परिवविर्तत करते है। रामचरित मानस में राजनीति की गंध नहीं है। बालि वध के औचितय को समाज नीति के धरातल पर चरितार्थ किया है। साथ ही बालि के प्राण-दान का आश्वासन देकर और अंगद को युवराज स्वीकार कर बालि को भी भक्त रूप में ही परिणत किया है। इस प्रकार इस प्रतिकूल प्रकरण को भी गोस्वामी जी ने भक्तिमंदाकिनी में निमज्जित कराकर समरसता में समाहित कर दिया। वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड में विभीषण राजनीतिज्ञ के रूप में ही दूत की अवध्यता के आधार पर हनुमान का पक्ष लेता है। इसमें तथा अध्यात्म रामायण में विभीषण-हनुमान-मिलन पहले नहीं होता। गोसाई जी भक्ति पक्ष को उभारने के लिए हनुमान-मिलन दिखाते हैं और विभीषण प्रकरण को सर्वथा नवीन बना देते हैं। विभीषण का कुल द्रोह और राज-द्रोह भक्ति के गंगाजल से घुल कर पुनीत हो जाता है।

वाल्मीकि के युद्धकांड का नाम रामचरितमानस में लंकाकांड है, कारण यह है कि यहां पर युद्ध न होकर वह प्रभु की क्रीड़ा है। अरण्यकांड में ही रावण ने कह दिया थास कि ववह प्रभु से शात्रु रूप में ही भक्ति करेगा-

> सुर रंजन भंजन महि मारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा।
> तो मैं जाइ बैरू हठि करऊं। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊं।।
> होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा।।

वाल्मीकि ने राम-रावण युद्ध के लिए कहा था कि 'राम-रावण युद्ध राम राबण युद्ध के ही समान है' किन्तु रामचरितमानस में सभी राक्षसों का निपात लीला के रूप मे हुआ। क्रीड़ा का एक उदाहरण और भी मानस में है। रावण त्रिकुट पर एक संगीत गोष्ठी रचाये था। राम ने एक बाण छोड़कर रावण के मुकुट और मंदोदरी के ताटंक को गिरा दिया। रावण की सभा में अंगद ने भुजाएं पटक कर रावण के किरीट गिराए और उन्हें उठा कर राम

की सेना में फेंक दिया। वाल्मीकि रामायण के अनुसार सुषेण सुग्रीव की सेना में एक बानर था। कौतुक बढ़ाने को लिए रामचरितमानस में वह लंका का वैद्य हो गया और उसे हनुमान जी उसको भवन समेत उठा लाए। अंगद-रावण-संवाद, मेघनाथ, कुम्भकरण और रावण के युद्ध, प्रभु की क्रीड़ा के स्वरूप में सम्पन्न हुए। हनुमान और रावण का युद्ध आकाश में होता है और हनुमान रावण को गेंद की तरह अपनी दुम में बांध कर फेंकते रहे। वास्तव में भक्ति के कारण तुलसीदास जी ने रावण के शौर्य को अधिक महत्व दिया ही नहीं।

रामचरितामानस में उत्तरकांड का आरंभ भरत की भावोवेशमयी प्रतीक्षा से होता हैं जो अत्यन्त ही हृदयद्रावक और मौलिक है। राम-राज्याभिषेक के उपरान्त लव-कुश तथा अन्य भाइयों के दो-दो पुत्रों का उल्लेख मात्र है-

दुई सुत सुन्दर सीता जाए। लव कुस वेद पुरानन गाए।।
दुइ दुइ सुत भ्रातन केरे। भए रूप गुन सील घनेरे।।

सीता-वनवास, शंबूक-वध रामाश्वमेघ यज्ञ, लव-कुश के साथ युद्ध, कुश-लव का राम सभा में रामायण-गान सीता का धरती में समा जाना आदि राम के आदर्शशील की रक्षा करनी थी और जिस मानसरोवर के घाटों पर ज्ञान और भक्ति की कथाएं होती थीं इन प्रकरणों से व्याघत पड़ता है। उत्तर-कांड में उत्तरराम चरित न होकर चार फलों यमें से उत्तर पक्ष (मोक्ष) की साधन का पर्यालोचन है। इसमें राम-राज्य, सनकादिक-राम-संवाद, संत-असंत लक्षण, काकभुशुंड-गरूड़-संवाद आदि के माध्यम से ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी विश्लेषण-विवेचन है। वेद-शास्त्र-उपनिषद, गीतापुराण आदि सभी धर्म ग्रन्थों में ज्ञान और भक्ति की चर्चा मिलती है किन्तु गोस्वामी जी ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह अनन्य ही है। सर्वज्ञ ज्ञान और भक्ति मोक्ष प्राप्ति के ही साधन है किन्तु गोस्वामी जी कहते है। :

अर्थ न धरम न काम रूचि गति न चहउं निरवान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन।।

मानस और विनयपत्रिका दोनों में ही भक्ति साध्य है साधन नहीं। शरभंग जैसे पहुंचे हुए साधु ने अपने सारे जप-तप और ज्ञान को देकर भक्ति प्राप्त की। अगस्त्य जैसे तपस्वी ने भी भक्ति का वरदान मांगा। जन्म से विरक्त परमहंस सनकादिकों ने भी भक्ति का ही वरदान मांगा। ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी तर्क तुलसीदास जी ने दिये है वे भी नितान्त मौलिक हैं। ज्ञान और भक्ति का सैद्धन्तिक अभेद बताते हुए वे व्यावहारिक पक्ष पर आते है और बताते है कि ज्ञान मार्ग अत्यन्त कठिन है। ''ग्यान पंथ कृपान कै धारा'' कैवल्य पद बड़ा ही दुर्लभ है किन्तु वही पद भक्ति के द्वारा ही सहज प्राप्त होता है-

राम भजत सोई मुकुति गोसाइं। अनइच्छित आवइ बरिआई।।

इस सहजता के लिए उन्होंने अपने निजी तर्क दिये हैं। एक तर्क तो यह है कि ''ज्ञान-विराग जोग विज्ञाना। ए सब पुरूष सुनहु हरि जाना'' पुरूष (पुल्लिंग) होने के कारण इनका पतन माया रूपी नारी के समक्ष सम्भव है। किन्तु भक्ति के नारी (स्त्रीलिंग) होने के कारण उसे माया (नारी) से भय नहीं है। दूसरा तर्क है कि मां प्रौढ़ पुत्र की रक्षा उतनी नहीं करती जितना वह अनजान शिशु तनय की करती है। ज्ञानी प्रभु का प्रौढ़ पुत्र और भक्त शिशु सुत है।

ऐसी अवस्था में भी भक्त की रक्षा का भार प्रभु पर है, माया निकट नहीं आ सकती। इस प्रकार तुलसीदास जी अपने प्रतिपाद्य भक्ति के निरूपण में जो तर्क एवं काव्यात्मक विवेचन कर देते है वे धर्म संबंधी पूर्व ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलते।

वाल्मिकी रामायाण के राम महाकाव्योचित विशेषताओं से युक्त है। उनमें मानव-स्वरूप देखा जा सकता है। आध्यात्म रामायण के राम परब्रम्ह, सच्चिदानंद, जगत नियंता और सर्वाधार हैं। गोस्वामी तुलसीदास, जी ने मध्यम मार्ग ग्रहण किया है। वे राम को ईश्वर का अवतार मानते है किन्तु उनकी नर लीला इतनी प्रमुख होती है कि वे मार्यादा-पुरूषोत्तम से आगे नहीं बढ़ने

पाते। इसी प्रकार सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान आदि सब में दैवत्व होते हुए भी मानवीय भावना प्रमुख रहती है। जन्मकाल में माता कौशल्या ने राम का चतुर्भुज ईश्वरीय रूप देखा पर वे उससे चमत्कृत नहीं हुई। उन्होंने प्रभु की मानव शिशु रूप में देखने की इच्छा प्रकट की-

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।

कीजिय सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।।

ऐसा सुनते ही प्रभु में आमूल परिवर्तन हुआ-

सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।

मां कौशल्या और दशरथ सदा ही वात्सल्य भाव से राम को देखते रहे और राम ने भी पिता-माता के भाव से उन्हें देखा। इतना होते हुए भी तुलसी के पात्रों में एक विशेषता देखी जाती है। जैसा कि वे विनयपत्रिका में लिखते हैं।

''नाते सबै राम सो मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौ''

उनका राम के प्रिति भक्ति भाव सर्वत्र प्रधान रहा। सभी पात्रों में भक्ति की रंगत रही। लक्ष्मण और भरत के भ्रातृभावमें आदर्श भक्त का भाव रहा। पत्नी सीता तक में अनन्य भाव की दास्य भक्ति आभासित होती है। निषाद भरत और हनुमान सदाएक ही भावा भूमि पर रहे। जिन पात्रों में राम भक्ति अधिक रही वे तुलसी के परम प्रिय बने रहे किन्तु जिनमें राम के प्रति वैसा भाव नहीं रहा, तुलसीदास जी ने उनकी छीछालेदर कर डाली। उदाहरण के लिए परशुराम, रावण, मेघनाद, और कैकेयी के चरित्र उपहासास्पद हैं। अंगद और हनुमान दोनों रावण के सम्मुख जाते हैं। हनुमान अपराधी के रूप में बांध कर लाये गए थे और अंगद राम के भेजे हुए राजदूत थे। किन्तु दोनों के वचनों को सुनक़र लगता है कि हनुमान प्रकाण्ड पंडित थे और सर्वज्ञ थे तो अंगद कुतर्की, अशिष्ट और अबुध थे। सेनापति सुग्रीव का चरित्र उभरा ही नहीं जबकि समान गुण वाला विभीषण सर्वप्रिय बन गया। केवट, निषाद, शबरी, तिर्यटा जैसे पात्र विशेष व्यक्तितत्व वाले बने किन्तु

विश्वामित्र, वशिष्ठ, जामवंत, मंदोदरी जैसे पात्र सहज गरिमा को भी प्राप्त न कर सके। उर्मिला और माण्डवी जैसी त्यागमूर्तियों देवियों की चर्चा ही नहीं हुई। यद्यपि लक्ष्मण और भरत के गुण होते हुए भी तुलसी तृप्त नहीं हुए। वास्तव में तुलसी ने स्वान्त सुखाए रचना की थी, पात्रों को राम के नाते ही देखा जाता था। जो उनकी भक्ति की कसौटी पर पूरा हुआ उसको तो उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की तथा शेष को उन्होंने अपेक्षा भाव से देखा। इस प्रकार तुलसी का चरित्र विधान नितान्त मौलिक था।

भाषा- जब कवि पूर्व रचित वाङ्मय से भाव ग्रहण करता है तब यदि वह सफल रचनाकार हुआ तो उसकी प्रतिभा उसमें नया रंग भर देती है। रचना में कलात्मकता का ऐसा पुट होता है कि पाठक की रसानंद भरपूर मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास सहज कवि थे उन्होंने शब्द, वाक्यांश और शैली तक को ग्रहण किया किन्तु उनके ऐसे सांचे में ढला की पंक्तियां सज उठीं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

रामचरितमानस का पहला ही सर उठा है

मूक होई वाचाल पंगु चढै गिरिवर गहन।

जासू कृपा सु दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन।।

इसका मूल श्लोक है-

मुंककरोति वचालां, पंगु लांघयते गिरिम।

यत् कृपा तमहं वन्दे, परमानंद माधवम।।

इसमें प्रथम पंक्ति ज्योंकि त्यों दिखाई पड़ती है किन्तु श्लोक में प्रथम पंक्ति में सारी की 'कृपा' का विशेषण होता है, वही करता है। किन्तु तुलसीदास जी के दोहे में प्रभु की महत्ता का विवेचन है, यहां चमत्कार कृपा का नहीं है, प्रभु का है कृपा तो उपकरण है, चमत्कार स्वतः हो जाता है। दूसरी पंक्ति की शब्दावली-

'सु दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन' तुलसी जी की अपनी है।

कृपा के संदर्भ में 6 परमानन्दमाधवत् की अपेक्षा ' सुदयाल' कहीं अधिक उपयुक्त है। 'द्रवहु शब्द में कवि की विनय और प्रभु की भक्तवत्सलता दोनों का समाहार है। प्रार्थना केवल इसलिए की गयी है कि भक्त कलि-दोषों से पीड़ित है। अतः 'कलिमलदहन' का विशेषण 'परमानंद माधवम' की अपेक्षा अधिक सटीक है।

हनुमन्नाटक में राम-वन-गमन पर ग्राम वधूटियां सीता से प्रश्न करती हैं और सीता उत्तर देती हैं-

पथि पथिक वधूमिः सादरं पृच्छमाना कुवलयदलनीलः कोत्यमार्य तवेति।

स्मित विकसित गंडं व्रीड़विभ्रान्त नेत्रं मुखमनवन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता।।

गोस्वामी जी ने इसे इस प्रकार लिखा है-

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं।

स्वामिनि अविनय छमबि हमारी। विलगु न मानब जानि गंवारि।।

स्यामल गौर किशोर वर, सुन्दर सुषमा ऐन।

सरद सर्बरीनाथ मुखु, सरद सरोरूह नैन।।

कोटि मनोजलजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हार।।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महं मुसुकानीि।

तिन्हहिं विलोकि विलोकत धरनी। दुहु संकोच सकुचति वर बरनी।।

सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर वचन पिक बयनी।।

सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी। पिय तन चितैं भौंह करि बांकी।।

खंजन मंजू तिरीछै नैननि। निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि।।

प्रसंग एक है किन्तु रामचरित मानस में 'सादरं प्रच्छमाना' के स्थान पर ग्रामवधूटियां कितनी शिष्टता और नम्रता से विनती करती है। 'कुवलयदल नीलः' शब्द का कितना सुन्दर विस्तार किया गया है। श्लोक की दूसरी पक्ति में 'स्थित विकसित गंडं व्रीड़ विभ्रान्त नेत्र मर्यादावादी तुलसी को बिलकुल ही रूचिकर नहीं लगा। काम भाव प्रधान मुसुकान और लज्जा के

स्थान में जनकनंदिनी जी सकुजा जाती है और मुस्कुराती है तो केवल मन में। वे तो सकुचा कर मां धरती की ओर देखती है।उन्हें दो प्रकार के धर्म संकट हैं- बतलायें तो कैसे? और न बतलायें तो ठीक नहीं। फिर बोली बड़ी मिठास (पिकबयानी) के साथ। मर्यादा की रक्षा के लिए पहले लक्ष्मण का नाम लेकर उन्हें अपना देवर कहा और फिर मुख से न कहकर हाव-भाव के द्वारा अंचल से मख ढक कर राम की ओर देखा और खंजन नेत्रों की बंक भृकुटी से प्रति का इशारा कर दिया। इसके स्थान पर संस्कृत का 'स्ष्टमाचष्ट सीता' कितना भौडा लगता है। रामचरित मानस के इस अंश को पढ़कर कौन इसे मौलिक करकर आनन्दविभोर न होगा?

हनुमन्नाटक का ही दूसरा श्लोक है, विन्ध्याचल पर रामचन्द्र जी के चरण स्पर्श को लेकर सीता जी ने राम से उपहास किया-

पदमकलरजोभिर्मुक्त पाषाणदेहामलभत यदहत्यां गौतमो धर्म पत्नीम।
त्वयिचरित विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे कति कति भवितारस्तापसादाखन्तः।।

कवितावली में गोस्वामी जी का प्रसिद्ध पद है-

विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखार।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि मे मुनिवृन्द सुखारे।
ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनाथ जू करूना करि कानन को पगु धारे।।

हनुमन्नाटक में सीता उपहास कर सकती थीं, मर्यादावादी तुलसी ने संदर्भ बदल दिया। उपहास है पर कवि की ओर से उन युवा तवस्वियों पर जो तपस्या करते हुए भी अन्तर से काम से पीड़ित हैं। हनुमन्नाटक में हास्य मात्र विनोद के लिए है, कवितावली में उसमें कटु व्यंग्य है- कहांय तपस्वी और कहां 'महा बिनु नारि दुखारे' ? ये परम दुखी तपस्वी अहल्या-वार्ता सुन चुके थे अतः उनके समक्ष शिलाओं पर भगवान राम के चरणस्पर्श से प्रादुर्भूत चन्द्रमुखियों की कल्पना साकार हो गयी। उनके हृदय का उल्लास इसमें ध्वनित है। 'छाह' के स्थान पर इसलिए 'चन्द्रमुखी' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने

किया है। अंतिम पंक्ति में 'कीन्हीं कपा रघुनाथ जू' भी दृष्टव्य है। काम भावापन्न युवकों ने रामजी को य'नायक' रूप में देखा जिनके पीछे चन्द्रमुखियों की अबली चली आ रही थी। 'करूना करि' और 'पंगु धारे' शब्द भी अर्थसौरस्य को भरने वाले हैं। इस प्रकार हनुमन्नाटक का मूल भाव तुलसीदास जी के हार्थों से पल्लवित हो कर नया हो गया है। उसमें विनोद के साथ व्यंग्य ध्वनि का समावेश हो गया है।

श्रीमद्भागवत में रास-प्रसंग में आई हुई गोपियों को जब कृष्ण ने लौटने को कहा तब श्लोक है-

कृत्वा मुखन्यव शुचः श्वसनेन शुष्पद्
विम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्य :

इसी का पल्लवन रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड में इस प्रकार है-

बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति प्रेम पुनीता।
चारू चरन नख लेखति धरनी। नुपुरस मुखर मधुर कवि वरनी।।
मनुहु प्रेम बस विनती करहीं। हमहिं सीयपद जानि परिहरहीं।।

भागवत की गोपियां मुखलटका कर अपने चरणों से पृथ्वी पर लिखने लगीं थीं। रामचरितमानस में पृथ्वी पर उंगलियों से लिखते ही नुपुर में ध्वनि होने लगी-इससे वे घुंघरू कहने लगे कि यदि सीता जी राम के साथ वन जायें तो उनको भी साथ ले जायें।

निष्कर्ष यह है कि गोस्वामी जी ने अपने पूर्व वाडमय का उपयोग अपनी रचनाओं में किया किन्तु विचारधारा, चरित्र-चित्रण और भाषा शैली तीनों में उन्होंने नेअपनीप्रतिभा का ऐसा योग दिया है कि पूर्व साामग्री पल्लवित और परिवद्धित-संशोधित होकर इतनी नवीन हुई कि सर्वथा मौलिक प्रतीत होती है। रामचरितमानस को पाकर जनता व्रेद पुराण तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों को भूल गई। रामचरितमानस सामान्य हिन्दू जनों को ऐसा लगा जैसे कि कुरान मुसलमानों को या बाइबिल ईसाइयों को। काव्य क्षेत्र में तुलसी साहित्य जन-जन

का हृदयहार बन गया। तुलसी की पंक्तियां वेद वाक्य की भांति उद्धृत हाती रहती हैं।

लोकमंगल की साधना एक ऐसी साधना है जिसमें व्यक्ति को अपने समस्त स्वार्थो को त्यागना आवश्यक हो जाता है। यदि उनमें अपने निहित स्वार्थो को विसर्जन करने का आत्मबल नहीं है तो लोक-मंगल की साधना तो दूर रही वह उसके मार्ग पर भी अग्रसर नहीं हो सकता। लोक-मंगल की साधना व्यक्तिगत साधना से भिन्न है क्योंकि लोक-मंगल की साधना में लोक मंगल, कल्याण का भाव प्रधान होता है। वहां, व्यक्तिगत साधना में आत्मबल आत्मकल्याण्ण का भाव प्रधान होता है। यदि एक में साधक लोक को सामने रखकर चलता है तो दूसरे में अपने को। इतना होते हुए भी कोई ऐसी रेखा नहीं है जो दोनोंय का पूर्णरूपेण विभाजित कर सके। एक व्यक्तिगत साधक लोग साधन भी हो सकता है

तुलसीदास एक सच्चे लोक-साधक थे। उनके सभी ग्रन्थ लोक-मंगल की भावना से ओतप्रोत है। इनमें भी 'मानस' का अपना विशिष्ट स्थायन हैं। जिसनमें सम्पूर्ण मानस का सहृदयतापूर्वक अध्ययन किया है वह कभी भी इस बात से असहमति प्रकट नहीं करेगाकि उसमें सम्पूर्ण सामाजिक समस्याओं का समाधान उपलब्ध होता है। यद्यपि मान स की रचना के पीछे स्वान्तः सुखाय भाव रहा है लेकिन तुलसी के ''स्वान्त सुखाय' में भी लोक-कल्याण का भाव प्रभावी रहा है।

> ''नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यद
> रामायणे निगदितं क्वचिदन्तोयअपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
> भाषानिबन्धमति मंजुलमातनोति।।''

अब प्रश्न उठ सकता है कि यदि तुलसी ने इस काव्य की रचना आत्म-संतुष्टि के लिए की थी तो फिर उन्होंने इसमें समाज का इतना विशद चित्रण क्यों किया? इसका सीधा सा उत्तर यही है कि मनुष्य समाज से

विलग होकर न कुछ सोच सकता है न कर सकता है। इतना ही नहीं वह जिन भावों को अपने काव्य में व्यक्त करता है उनको भी समाज से ही ग्रहण करता है जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि मानस तुलसीदास ने केवल आत्म संतुष्टि के लिए लिखा था वे यह भूल जाते हैं कि मानस मात्र आत्म संतुष्टि के लिए ही नहीं लिखा गया था अपितु इसके माध्यम से सामाजिक वैषम्यता, अनैतिकता एवं विश्रृंखलता को दूर करना था। यदि इसका एक मात्र उद्देश्य की पूर्ति कर सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? क्योंकि वे जातने थे कि यदि उन्होंने ने संस्कृति का ही आश्रय लिया तो उनके विचार जनसाधारण तक न पहुंच सकेंगे और उस अवस्था में लोकमंगल का उनका परम लक्ष्य पूरा नहीं हो पाएगा।

यह बात शाशवत सत्य है कि धर्म और मंगल की ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फोड़ती हुई फूटती हैं शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता ही कालान्तर में आनन्द की अरूण आभा और बसन्त प्रफुल्लता और प्रचुरता को जन्म देती है। इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्यचार के बीच दबी हुई आनन्द ज्योति लोक-मंगल की स्थापना होती है। तुलसी का प्रादुर्भाव इसी प्रकार की विषम परिस्थितियों में हुआ। समाज में उस समय कुछ धर्म-विनाश का तांडव नृत्य हो रहा था, रक्षक ही भक्षक का कार्य निस्संकोच रूप से कर रहे थे। निशाचरी वृत्तियों का चारों और बोलबाला था। राजा जो कि समाज का पोषक कहलाता है वही यदि शोषक हो जाए तो समाज की आंतरिक वृत्तियां कैसी होंगी, इसका आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। समाज आदर्शो से पूरी तरह विहीन होने के मार्ग पर अग्रसर था। गुरू शिष्य, माता-पिता के स्नेह-सम्बंधों का मनुष्य जाति भूलती जा रही थी और इस सबसे ऊपर समाज में दिशा एवं लक्ष्यहीन संन्यासियों की बाढ़ सी आ गई थी। पत्नी एवं लक्ष्मी से शून्य होकर कर्म करने के स्थान पर मनुष्य सन्यासी हो जाना अधिक उपयुक्त समझ रहा था-

"नारि मुई गृह सम्पति नासी। मुंड मुड़ाय भये संन्यासी।।"

ऐसी विषम एवं शोचनीय स्थिति में आई संस्कृति अपने पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही थी। समाज की इस शोचनीय अवस्था ने तुलसीदास को यह सोचने को बाध्य कर दिया कि समाज का उद्धार किस प्रकार हो। अत: लोक-मंगल के उस सच्चे साधक प्रजा को इस भवसागर से उतारने के लिए पूर्ण ब्रम्हा स्वरूप, मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के जीवनादर्श को सामने रखा जिसमें नाम मात्र के लिए भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ। लोक मंगल के उस सच्चे साधक ने लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत राम के स्वरूप को हमारे सामने रखा। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'शुद्ध' आत्मपक्ष के विचार मं दु:खवाद स्वीकार करते हुए भी साधकों के लिए ज्ञान के द्वार उस दु:ख की निवृत्ति मानते हुए भी तुलसीदास लोक कल्याण के पूरे प्रशासी थे। लोक मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार भी थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप मे जगत की प्रतिभासक सत्ता के भीतर आनन्द का आभास देती हैं और उसकी रक्षा द्वारा 'सत्' का अपने नित्यव्त का बोध कराती है।

लोक मंगल के प्रकाश स्तम्भ रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने इस बात को दिखाया है कि लोक मंगल कैसे हो सकता है। लोक-मंगल की भावना को ध्यान में रखकर उन्होंने विभिन्न पात्रों एक विशेष रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। 'मानस' का प्रत्येक पात्र एक विशेष व्यक्तित्व से मंडित है। राम को आदर्श पात्र एवं राजा के रूप में, दशरथ को आदर्श पिता के रूप में, लक्ष्मण और भरत को आदर्श भाई के रूप में, सुग्रीव को आदर्श मित्र के रूप में, सीता को आदर्श पत्नी के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने इस बात को सिद्ध कर दिया क्रि समाज का कल्याण तभी हो सकता है जबकि वे आदर्श पात्रों के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करें।

पुत्र का कर्तव्य है कि वह पिता की हर आज्ञा का पालन सकरे चाहे वह कैसी भी क्यों न हो। उसका कार्य तो उसका पालन करना है, विवेचन

करना नहीं यह कार्य तो पिता का है कि वह औचित्यपूर्ण आज्ञा ही दे। पुत्र की कर्तव्य परायणता का ज्वलंत उदाहरण राम का आदर्श रूप हमारे सामने है, जिसनें पिता की आज्ञा के आगे राज्य के लोभ को तिनके के समान त्याज्य समझा और पिता से वन जाने की आज्ञा मांगते समय भी हर्ष का ही अनुभव किया-

''मंगल समय सनेह बस, सोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हरषि हिय, कहि पुलके प्रभुगात।।''

यह औचित्यपूर्ण आज्ञा का प्रश्न उठाया जा सकता है। कोई भी कह सकता है कि पिता दशरथ ने पुत्र राम को वन जाने की आज्ञा देकर औचित्य का निर्वाह किया। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यहां भी औचित्य का निर्वाह हुआ है। एक तो यहां पर राजा दशरथ परिस्थितियों-वश कैकेयी के जाल में फंस गए थे दूसरे उनके कंठ से यह ध्वनि नहीं निकली कि राम तुम चौदह वर्ष के लिए वन चले जाओं। यदि यह भी मान लिया जाय कि उन्होंने यह आज्ञा दी तो भी औचित्य का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है क्योंकि वे पुत्र वियोग में जीवित नहीं रह पाये।

लक्ष्मण और भरत को आदर्श भाई के रूप में प्रस्तुत करके तुलसीदास जी ने अपनी लोक-मंगल भावना का जो परिचय दिया है उसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। यदि सभी भारतीय भाई लक्ष्मण और भरत का अनुसरण करें तो समाज में अमंगल-भावना का जन्म भी नहीं हो सकता। लक्ष्मण की सेवा और भरत की तपस्या दोनों ही अनुकरणीय है। धन्य हैं ऐसे भाई जिन्होंने अपने कर्तव्य के आगे प्रत्येक वस्तु को तुच्छ और त्याज्य समझा।

भारत वर्ष विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का केन्द्र रहा है और समन्यवाद भारतीय संस्कृति का मेरूदण्ड। समय-समय पर इस देश में न मालूम कितनी संस्कृतियों, दार्शनिक एवं धार्मिक विचार धाराओं का आगमन और आविर्भाव हुआ लेकिन वे समय के साथ ही घुलमिल कर एक हो गई। तुलसीदास जी ने लोक-मंगल की भावना से प्रेरित होकर इस बात को अच्छी

तरह सोचा और समझा कि जब तक समाज में शैवों और वैष्णवों मेंच चल रहे मत भेदों को दूर नहीं किया जाता जब तक लोकमंगल के स्थान पर अमंगल प्रस्फुटित होते रहेंगे। इसके फलस्वरूप समाज दिन प्रतिदिन आन्तकिर और बाह्य दोनों ही दृष्टियों से खोखला होता चला जाएगा। अतः मंगल के परिहार के लिए व मंगल की स्थापना के लिये शैवों और वैष्णवों के मतभेदों के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर लक्षित होती है। तुलसी ने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही साथ राम को शिव के भक्त के रूप में चित्रित करके दोनों के महत्व को प्रतिपादित किया। यदि वे एक के ही महत्व को प्रतिपादित करके छोड़ देते तो समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझ जाती। शिवलिंग स्थापना के समय तुलसी दास जी ने राम के मुखारबिंद से निम्नलिखित वाक्य कहलवाकर समाज का जो हित किया है वह लोक-मंगल की साधना के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है-

''संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलपभरि घोर नरक महुं बास।।

गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। मर्यादा का भंग वे लोक के लिए मंगलकारी नहीं समझते थे। वे इस बात में विश्वास करते थे कि ब्राह्मणों का समाज में आदर हो। शिष्य गुरू की सेवा, प्रमाण, दण्डवत आदि करें: इसलिए नहीं कि वे स्वयं ब्राह्मण थे, अथवा संकुचित विचारधारा के थे। वे इन बातों को समाज के कल्याण का साधन समझते थे। उनका दृष्टिकोण संकुचितय नहीं था। समाज के विभिन्न वर्गो के बीच वे कैसा व्यवहार उचित समझते थे यह चित्रकूट में वशिष्ट और निषाद के मिलन मं दृष्टिगत होता है-

''प्रेम पुलकि केवट,कहि नामू।
कीन्ह दूरन तें दण्ड प्रनामू।।
राम सखा ऋषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा।।''

किसी भी समाज और राष्ट्र के मंगल के लिए राजा और प्रजा में समन्वय होना नितान्त आवश्यक है। यदि दोनों की समरसता की स्थिति का परित्याग कर टकराहट की स्थिति में आ जाए तो एक प्रकार से राष्ट्र का विनाश निश्चित है। तुलसी के युग में शासक सत्ता से मदान्ध हो कर्तव्यच्युत और प्रजा पाखण्डरत और पतित हो गई थी। यथा राजा तथा प्रजा की कहावत उस समय पूरी तरह चरितार्थ हो गई थी। समाज की यह दुर्दशा शोचनीय थी। तुलसी ने आदर्श राम राज्य द्वारा प्रजा के अभीष्ट समन्वय का विधान किया। राजभक्त प्रजा धर्म निरत थी अैर प्रजापालन पराण राम ने नागरिकों को रामोचित गौरव प्रदान किया-

सुनहु सकल पुरजन मन बानी। कहौ न कछु ममता उर आनी।।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहुं करहुं जौ तुम्हहि सुहाई।।
जौ अनीति कुछ भाषौ भाई। तौन मोहि बरजहु भय विसराई।।

यदि राजा और प्रजा में इस प्रकार की समरसता स्थापित हो जाए तो शायद कहीं भी अमंगल का सूत्रपात न होने पाए।

तुलसी ने आसुरी शक्तियों के पराभाव के द्वारा समाज के सामने एक चित्र स्पष्ट किया अहंकार न केवल व्यक्तिगत दूषण है वरन् एक सामाजिक दूषण भी है। अहंकार से व्यक्ति और समाज दोनों ही विश्रृंखलित होते हैं। इसलिए उन्होंने मदान्ध लोगों को समझाने के लिये रावण आदि अहंकारी निशाचरी का विनाश दिखाया। दूसरे शब्दों में अहंकार का ही पतन दिखाया। इस प्रकार तुलसी ने अहंवृत्तियों को विचूर्ण करने और समता लाने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक शस्त्र का प्रयोग किया है वह लोाक मंगल की साधना के मार्ग में सुन्दर स्फटिक सोपान का काम करता है।

इस प्रकार तुलसी ने उन सभी बातों को हमारे सामने प्रस्तुत किया जिनसे लोक मंगल अधिक से अधिक हो सके। राजा को प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इस बात को प्रदर्शित करने के लिए राम राजय का चित्रण खीचा-

''बयरू न करू सन काहु कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म-निरत त्रुति रीती।।''

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि तुलसी ने हर क्षेत्र में लोक मंगल को प्रथम स्थान दिया। उनके सभी कार्यो में लोक मंगल की साधना जिस रूप में व्यंजित हुई वह अपने आप में अनूठी है यद्यपि उन्होंने 'मानस' की रचना आत्म संतोष के लिए की, राम की भक्ति के लिए की। लेकिन मूलत: इसके पीछे लोक कल्याण का ही भाव था। उपका मूल उद्देश्य लोक का कल्याण करना था, चाहे वह किसी भी प्रकार हो। ''उन्होंने भग्न हृदय जन समाज को बल दिया और निराशापूर्ण जीवन के लिए आशावाद से उपयुक्त उदान्त रूप सामने रखा जिससे वह लौकिक एव पारलौकिक दोनों ही प्रकार के कष्टों का सामना करने में समर्थ हुआ।''

हिन्दी साहित्याकाश की सुधानिध्यन्दिनी मनदाकिनी की अमन्द धारा को प्रवाहित कर भारतीय जनता के अशान्त स्वान्त: को शान्ति प्रदान करने वाले तथा युगीन परिस्थितियों ' सच्चे पारखी युगदुष्टा महाकवि तुलसीदास का नाम सदैव हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा। विरोधी एवं विषम दशाओं की अनुभूति के फलस्वरूप एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रदान करने वाले कवि की दूरदर्शिता एवं मर्मज्ञता स्पृहणीय है। इन्होंने अपनी कृतियों में मानवजीवन की सर्वागीण विवरणिका तो दी है साथ ही एक सच्चे मार्ग का प्रदर्शन भी किया है। उन्होंने मर्यादा पुरूषोत्तम राम के जीवन की नयनाभिराम झांकी प्रस्तुत की है जिसमें धार्मिक, सामाजिक, नैतिक आचारिक सभी प्रकार के आदर्श की समुचित व्याख्या की गई है। मानव व्यक्तिगत अभ्युत्थान के साथ-साथ जनकल्याण करने में किस प्रकार सफल हो सकता है, इसका सजीव चित्रण यहां सुलभ है। इनकी मान्यता थ्री कि लोक मेंससत् और असत वृत्ति वाले मनुष्यों का वास होता है उनमें सदाचारी, शान्त, सरल स्वाभाव वाले अधिक और दम्भी तथा कपटी कम, किन्तु वे कपटी व्यक्ति ही सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। सामान्यता: सन्त स्वाभाव वाले आक्रामक नहीं होते, वे

शान्त रहते हैं, किन्तु दम्भी आक्रमक होते है जिनके सम्मुख सज्जन व्यक्ति न चाहते हुए भी झुक जाते हैं। इस प्रकार के धर्म या राज्य के नाम पर होने वाले अत्याचारों का विरोध होना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की अनैतिक असत्प्रवृत्तियों को खुली छूट मिल जाएगी और समाज में विश्रृंखलता का साम्राज्य हो जाएगा। तुलसी का सत् प्रवृत्तियों केप्रतीक राम का मर्यादापुरूषोत्तम के रूप में चरित्र-चित्रण तथा उनकी असत् प्रवृत्तियों के प्रतीत रावण पर विजय का निर्देशन करना लक्ष्य रहा है। उन्होंने राम को निरस्त्र निस्सहाय मानव के रूप में निर्मित करके भौतक साधन सम्पन्न रावण पर विजय ही सत् की असत् पर विजय दिखाई। तुलसी विषमताओं, विरोधी वृत्तियों से घबराकर पलायन करने में जघन्य पाप समझते थे अतः उन्होंने विषम संघर्षो से संकुल जीवन से जूझने वाले लोक नायक लोकप्रिय लोक मर्यादा निवाहने वाले राम को अपने साहित्य का नायक चुनकर अपने उत्तरदायित्व को निबाहा तथा युग की परिस्थितियों में समझा तथा एक समुचित मार्ग दर्शन प्रस्तुत किया।

प्रस्तुत लेख युगबोध में हम इनके साहित्य में विविध रूपों के माध्यम से इनकी युगानुकूल सूख्मदृष्टि का परिचय प्रस्तुत करते है। महाकवि तुलसी के साहित्य में युग बोध को प्रमुखतया निम्नरूपेण अंकित कर सकते है। यथा-धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आचारिक नैतिक तथा समन्वयकारी।

तुलसी से पूर्व की धार्मिक स्थिति में बौद्ध धर्म जातिपाति के बन्धनों को तोड़ कर ब्राह्मण धर्म में सुधारवादी प्रवृत्ति को आन्दोलित कर जाति मत पूछ, आचरण पूछ से आचार प्रधान होने के कारण अनुकरणीय होता जा रहा था। किन्तु सभी निवृत्ति परक नहीं हो सकते,

तथा सभी मुण्डक नहीं ब्रन सकते अतः आकण्ठमग्न भौतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के द्वारा यह भी उपेक्ष्य रहा। इस समय उपासकों के दो वर्ग प्रमुख हैं। एक निगुण धारावाही जिनमें पुरानी शब्दावली ब्रह्म, माया हठयोग आदि की अस्पष्ट शब्दावली के अतिरिक्त आकर्षण न था । कबीर का

एकेश्वरबाद कुछ लोक प्रिय हुआ किन्तु जीवन की सुख समृद्धि की उपेक्षा के कारण कुछ प्रचारित न हो सका। गुरू रामानन्दद से कबीर ने निराधार प्रेम की भक्ति की अजस्वधारा की उपलब्धि पाई थी किन्तु इनसे पूर्व नाम देव, संत ज्ञानेश्वर, जयदेव आदि ने भी प्रेममयी भक्ति को प्रावहित किया था। हठयोग की सिद्धियों में चमत्कार था किन्तु आकर्षण नहीं। कबीर धार्मिक सुधार के लिए प्रचलित कुरीतियों पर कठोर प्रहार करने के लिए तीक्ष्ण वाणी में विद्रोह करते थे, सन्मार्ग दर्शाते थे, धर्म के तत्व का निदर्शन भी करते थे। उन्होंने समाज में व्याप्त सभी धर्मो के समान स्थिति को सरल रूप से समझाया था। मन वाणी कर्म की स्वतन्त्रता के कारण वे अनुकरणीय हुए उनकी व्यंगोक्तियों में स्पष्टवादिता होने से उन्होंने जन मन को आश्चर्यचकित किया और उनके उपदेश आचरण की पावनता, चिन्तन की दिव्यता तथा सारल्य से समाज के गले का हार बन गए।

राम भक्त कृष्ण भक्ति समाज में फैल चुकी थी। प्रेम मार्गी सूफी कवि जायसी ने लोक जीवन की झांकी प्रस्तुत की थी किन्तु रामानन्द से प्रभावित सगुण भक्ति के उपासक सूर तथा तुलसी ने ''निरालम्ब मन चकृत धवैं'' की युक्तियों से जन-जन के व्यग्र, भ्रान्त, अशान्त स्वान्तः में ब्रम्हा के स्थान की पूर्ति करने वाले लोक परिचित, लोकनायक, निखिल गुणवान मण्डित मर्यादा पुरूषोत्तम राम के पावन चरित्र से की-जिस राम की भाषा, वेष, और जीवन की सभी परिस्थितियों में उत्थान पतन, सुख-दुख को सुगमतया समझा जा सकता है। यह जनता के लिए निर्गुण के स्थान पर सगुण रूप में विशिष्ट महत्वशाली बन गया। अब जनता के लिए लोकनायक के निकटतम पहुंचने का प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। यह निर्गुण की मध्य स्थिति, आकर्षक और हृदयाकर्षक सिद्ध हुई। राम अब, मात्र ऐतिहासिक पुरूष न रहकर अहित्योद्धार आदि कृत्यों के द्वाराा दिव्य चमत्कृति वाले दिव्य पुरूष हो गए। राम ने ब्रम्हा का प्रतिरूप ले लिया किन्तु वह पुरूष रूप में होने के कारण अनुकरणीय था।

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मर्म न जाना।।

किन्तु उनके कृत्य पूर्णतया चमत्कारी हो गए।

युग दृष्टा कवि तुलसी का आगमन इन सभी धर्मो की विचारधाराओं को एक समन्वित रूप देना था। कबीर जैसी वाग्मिता, उग्रता, स्पष्टवादिता, सूर जैसा दैन्य, आत्मसमर्पण, भक्ति और माधुर्य की मधुरिमामयी दिव्य झांकी एवं मीरा की अभेदता, जायसी कीय लोकानुभूति में सरलता, लोकमर्यादिता, लोकोपकारिता एवं लोकमंगलाकारिता का मंजुल समन्वय एकत्र यदि सुलभ है तो तुलसी की गरिमामयी वाणी की चमत्कृति में ही।

सियाराममय सब जगजानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।।

स्याम गौर किमु कहौ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु वानी।।

तुलसी का ज्ञान शास्त्रसम्मत था:-

''नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्''

उन्हें दिग्भ्रान्त, हठी, अज्ञानी, मूढ अहम्मन्य धर्म प्रचारकों, सन्यासियों ` विरोध था। वे साम्प्रदायिक बन्धनों, रूढ़ियों के बन्धनों को छोड़ कर सीधी सादी धार्मिक भाक्ति, आचार की पवित्रता के पूर्णतया पोषक थे। तुलसी भगवान के निर्गुण रूप के भी उपासक थे, आस्थावान थे। उन्होंने सगुण भक्ति की भी कठिन माना है। किन्तु वे निराकार की अपेक्षा सामान्य उपासक जन के लिए प्रथम आधार के रूप में सगुण रूप का आश्रय अपरिहार्य मानते थे। जनता में भक्ति और विश्वास के उद्बोधन के लिए प्रत्यक्ष संबंध प्रधान आधार था। तुलसी को यह युगीन उद्बोध था कि यहां प्रत्यक्ष संबंध के लिए सगुण आधार आवश्यक है। राम के चित्रण में मर्यादा का निर्वहण आवश्यक था। शास्त्र निन्दा उन्हें असहय थी। वे शास्त्र विरोध को ही मर्यादा विरोध मानते थे, मर्यादाहीन न होना ह्री स्वच्छन्दता, उदंडता का कारण है किन्तु मर्यादा को बांधना, स्थापित करना मर्यादा के अनुशीलन में ही लोकमंगल एवं लोकरक्षण निहित है। इस पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि सेवक सैव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि। इससे तुलसी के युग मर्यादा बोध का ज्ञान

का परिचय मिलता है। उन्होंने राम के रूप में मर्यादा की पूर्ति का सर्वांगीण एवं सजीव चित्र राम चरित मानस सके रूप में अंकित किया है। युगानुकूल आदर्श लक्ष्य के लिए तुलसी को राम का ऐतिहासिक और लोक विश्रुत रूप ही पसन्द था। धनुर्धरों राम लोकहित, लोकरक्षक, लोकमंगल, लोकमर्यादा के पावन प्रतीक थे। उनका चरित्र अगाध, अतलस्पर्शी जननिधि के समान है। वह रागमय, सौंदर्यमयय श्रृंगार एवं शौर्यमय है। श्यामवर्ण के होने पर भी सुन्दर सलोने हैं। उस समय विश्रृंखलित मर्यादा को स्थापित करने की मांग थी जिससे मानव मात्र को सुख एवं शांति मिले। वे सामन्ती कवि तो थे नहीं, वे भक्त पहले थे कवि बाद में। उनकी व्यथा युगीन थी। वे सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक सचेष्ट थें उन्होंने युग की व्यथागाथा को अनुभूति और निजी रूपता से अपनाया, उनके राम केवल निराकार ब्रम्हा के प्रति रूप ही न थे अपितु ब्रहमत्व की गुण-गरिमा से मण्डित होते हुए भी कर्म प्रधान जीवन वाले थे। उनके सभी कर्म लौकिक होते हुए भी लोकोत्तर थे। इनके मानवीय चरित्र से ही वे उनके उपासकों के मानसिक चारित्रिक नैतिक, अन्धकार अघः पतन का निराकरण कर सके इसलिए उनके राम आदर्श मानवीय परम्पराओं से विभूषित होने पर भी ब्रम्हा हैं, ब्रम्हा होकर भी आदर्श मानव हैं उन्होंने भक्त के दैन्य में अपने आदर्श की महत्ता को उठाया और आत्मसमर्पण ही इनका सन्देश रहा है।

उनका जीवन लोक लाज छोड़ने के लिए न होकर आत्मसम्मान कीगरिमा से ओतप्रोत था। उनकी पीड़ा वैयक्तिक न होकर समष्टिगत थी और उस लोकपीड़ा के सच्चे प्रतिनिधि का उस पीड़ा के निराकरण के लिए मर्यादा पुरूषोत्तम राम की चरणराति का अमोध मंत्र प्रदान करना था बस वही एक सच्चा उपासक था।

राम नाम मनि दीप धरू-जीह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर वाहरेहुं जो चाहसि उजियार।।

इसके कारण लोक की सभी वस्तुओं में उन्होंने सत्संग साधु, त्यागी व्यक्तियों के विचारों को सुनने पर बड़ा बल दिया है।

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से पुनि आधि,
तुलसी संगति साधु की हरै कोटि अपराध।

धर्म के सार को निर्दिष्ट करने वाले तुलसी को युग की चेतना थी। युग बोध था। तुलसी अन्य सन्तों की अपेक्षा विपदाओं से त्रस्त और ग्रस्त जीवन में भी वे पण्डितों के संसर्ग में रहे। उन्हें पण्डितों और धर्म गुरूओं को समझाना भी पड़ा। उनके समय की मीरा.....ने गोविन्द मोल ले लिया था, वे लोक लाज खो चुकीं थीं किन्तु उन्हें तो गोविन्द नाम की महिमा को जन-जन तक पहुंचाना था वह भी लोक लाज खोकर नहीं अपितु पूर्णतया सामाजिक मर्यादाओं के बन्धनों का पालन करते हुए मीरा को पत्र राम भक्ति की कसौटी का निर्देश करते है......

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरीसम, यद्यपि परम स्नेही।।

यही है मर्यादा बोधता युग बोधता।

संत तुलसी भी संसार से मुक्ति चाहते थे। सांसारिक मोहपाश को तोड़कर किंतु सांसारिक मर्यादा को बनाए रखकर उनके नेत्र सजग थे, शास्त्रों में उनकी अगाध निष्ठा, आस्था थी, प्राणीमात्र के हित की कामना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय संस्कृति के पोषक तत्वों को उन्होंने अपनी स्मृति पटल से कभी विस्तृत नहीं होने दिया.... वे निष्काम राम भक्ति के द्वारा लोक का सच्चा मार्ग किन्तु अभ्युदय का पथ प्रशस्त करना चाहते थे उसी लिए उन्होंने लोक भाषा में पण्डितों की भाषा संस्कृति के ग्रन्थों के सार को गागर में सागर की भांति भर दिया है। मात्र लोक मानस की समीक्षा ही उनका लक्ष्य नहीं था, वह तो सरल काम है-

पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।।

के कथन से वे शान्त रहकर उपदेश देते हुए मार्गदर्शन कर देते थे। उनका जीवन मात्र विरक्त संन्यासी, तपस्वी, साधक का नहीं था एक सच्चे साधक लोक नायक का था। युगीन परिस्थिति में निर्गुण सन्त मत जैसी कोई व्यवस्थित धार्मिक व्यवस्था उस समय नहीं थी। तत्कालीन सन्त भी वैदिक वाडंमय के अध्ययन के अभाव में ब्रम्ह तत्व ज्ञानसे शून्य थे और उनका मात्र लक्ष्य ब्राह्मण विरोधी था। ''मूंड मूंडाए हरि मिले'' की स्थिति थी, संन्यासी निम्न तथा उपेक्ष्य वर्ग को बहकाने में व्यस्त थे। सन्तों का धर्म शास्त्रविहित मर्यादाओं को मिथ्या बतलाकर ब्राह्मण का विरोध करना ही था। वे गृहस्थी होकर भी संन्यासियों का ढोंग रचते थे। उच्च वर्ग भी अपनी 'बहुकामा' प्रवृत्ति के कारण शास्त्र ज्ञान के अभाव में इनके जाल में फंसता जाता था। साथ ही समाज का पंडित वर्ग के धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन को अपनी आजीविका का साधन बना कर उन धार्मिक तत्वों को जन सुलभ नहीं होने देना चाहता था और उसे रहस्यमय रखना चाहता था और वे धार्मिक संत तथाकथित मायाजालसे स्वयं भी ग्रसति थे। अतः इनके द्वारा आयोजित सामूहिक प्रार्थना की रीति वाद्य संगीतियों की देन थी किन्तु अब इस प्रकार के संकीर्तनों का एक प्रखर प्रभावशाली आन्दोलनके रूप में विकास हो रहा था। इन संतों के द्वारा शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में शास्त्रीय मर्यादा का प्राचीन आचार-विचार, व्यवहार कर्तव्यों नैतिक मूलाधार नियमों की उपेक्षा अवहेलना होने लगी थी जिसे तुलसी दुखी थे। वे समाज को कुछ देना चाहते थे। उनका सच्च मार्ग दर्शन करके धर्म के आडम्बर को हटा देना चाहते थे। कृष्ण की रासलीला, योगेशवर की स्मृति और भक्ति की द्यातिका थी किन्तु इनमें भी दैथ्नक जीवन की मर्यादाओं में कुछ शैथिल्य आ रहा था। अतः तुलसी ने सामाजिक मर्यादा के पर्‌मपोषक भगवान राम का चरित्र-चित्रण जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया।

बिना दर्शन के कोई भी धर्म मााात्र सामान्यजन की चर्चा का विषय बनकर शीघ्र विलीन हो जाता है। क्योंकि वह जीवन के लक्ष्य को स्पर्श नही

करता, वह ब्राम्ह परिधि मात्र कहा जा सकता है। सुदूर प्राचीन काल से लेकर अवाविधि वैज्ञानिक मानव भी सृष्टि में आद्यशक्ति को किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है जिसकी कृपा से यह अखिल ब्राह्माण्ड विद्यमान है। वह शक्ति माया ब्रम्हा या ईश की है। ब्रम्हा और माया सम्बन्धी सिद्धान्तों को अद्धैतवाद और द्धैतवाद कहा जाता है। तुलसी ने इन दोनों मेंएक ही सत्य स्वरूप राम के दर्शन किए।

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।

उन्हें तो सकल चराचर राममय ही दिखलाई पड़ता था। उनके मत में ईश्वर जीव तथा प्रकृति तीनों की स्थिति सृष्टि के संचालन में अपेक्षित है। जीवन के रूप को पहचानने या ब्रह्मत्व में लीन होने में वे माया को बाधक मानते हैं। तुलसी भी मोक्ष चाहते थे किन्तु संसार से विमुख होकर या त्याग कर नहीं अपितु संघर्ष संकुल जीवन में संघर्षरत रहते हुए भी वे राम चरण रति के ही पुजारी थे। वे जानकी का माया कहते थें क्योंकि ब्रम्हा अपनी माया के द्वारा ही लीला करता है। वे माया और कला के वास्तविक सम्बन्ध की खोज के चक्र में नहीं पड़े। यही तो जीव का भ्रम है। इसी भ्रम से त्रस्त वह ब्रम्हा प्राप्ति के लिए त्राहि-त्राहि करता है। तुलसी साहित्य में यह वैयक्ति भक्ति न होकर जगत के त्राण के लिए है। तुलसी सबकी मुक्ति में ही अपनी मुक्ति के इच्छुक है। उनकी राम भक्ति लोकोन्मुखी है। उसका तमाम साहित्य लोकरक्षक एवं लोकमंगलकारी राम के रूप पर न्यौछावर है।तुलसी का हृदय लोक व्यथा गाथा के गायन में लीन है। वे व्यथा के कारण स्वयं भी जग से पलायन करके अत्यन्त अपराध नहीं करते और न समाज के अन्य लोगों को ही जीवन के संघर्षो से भाग खड़े होने का सन्देश देते है। उनका चरित्र नाय़क सभी संघर्षो में शौर्य दया, साहस का समर्थन करते है। उन्होंने कहा है:-

तुलसी काफी जीवन बादशाह अकबर के शासन काल में बीता। वैसे यह एक धार्मिक साहिष्णुता का युग था। मुस्लिम प्रभाव वृद्धि-गत होते हुए

भी वे एक सुसभ्य साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने मात्र कामुकता की पुष्टि एवं हिन्दू महिलाओं में वैवाहिक सम्बान्ध नहीं किया। अपितु ने दूरदर्शी थे और हिन्दू धर्म के साथ रह कर ही अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहते थे। इससे यह स्पष्ट है कि समृद्धि होने के कारण विलासिता, कामुकता में वृद्धि हुई। समाज में धर्म निरपेक्षता का लाभ पण्डितों व मुल्लाओं ने उठाया और जनता को पथभ्रष्ठ किया। इनका बोध हमें तुलसी के साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है। कयोंकि इन्होंने जनता के नैतिक कृत्यों को यथावत् चलते देखकर राजनति की आलोचना अवश्य की है किन्तु कहीं भी धार्मिक विद्रोह की भावना व्यक्त नही की। वे रामराज्य की कामना करते थे जिसमें सभी सुखी सभी प्रसन्न रहे। 'बैर न कोई काहु रान करहिं' इसी में प्रजातंत्र की गहरी नींव छिपी हुई है।

समाज, अर्थ, धर्म, और शिक्षा की दृष्टि से विभक्त था। सभी मानदण्डों तथा आदर्शो की अनिश्चितता के कारण भ्रान्त था। जीवन का मूल्यांकन मात्र द्रव्योपार्जन ही था। धन ही जीवन का लक्ष्य होने के कारण चारित्रिक पतन तथा कामुकता के नग्न नृत्यों को देख तुलसी खीज उठे थे। यद्यपि राजकीय प्रश्रय के कारण सामान्य जन भी धनी वर्ग का अनुयायी हो रहा था। अतः समाज का अधिक वर्ग अपनी सामाजिक मर्यादाओं के बन्धनों को तोड़कर आचार-विचार में उपेक्षा को ला रहा था-

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरूष मनोहर निरखत नारी।।
नारि विवस नर सकल गोसाई। नाचहिं नट मरकट की नाई।।
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहि नारि पर पुरूष अभागी।।

पतनोन्मुख वर्णाश्रम व्यवस्था का वे उद्धार चाहते थे जिसका पूर्ण उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर लि़या। इसीलिए धर्म पतित चाहे किसी भी वर्ण या जाति का हो, उनकी दृष्टि में हेय थे। वे इस घोर अन्धकार में प्रकाश की मंजुल दिव्य रश्मियों को फैलाते हुए अग्रसरित हुए और उन्होंने परिवार, समाज और राष्ट्र के पारस्परिक व्यवहार एवं आचार के आदर्शो का युगानुरूप

संस्कार करके युग के सन्मुख उपस्थापित किया। उन्होंने भगवान बुध के बाद युग की परिस्थितियों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन कियया और तन, मन, धन से उसकी सेवा में अपने को लगा दिया। इन्होंने राम के द्वारा शिव की पूजा और शिव के द्वारा राम पूजन करा कर अनेक विषमताओं में सामंजस्य स्थापित किया। इन्होंने अपनी दीनता का चित्र इस प्रकार दर्शाया:-

राम सो बड़ी है कौन, मो सो कौन छोटी।

राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो।।

इनकी व्यक्तिपरक रचना 'विनय पत्रिका' भी एक प्रार्थना पत्र ही है। वे स्वयं निरीह थे, अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते थे, उन्हें समाज की चिन्ता थी इसीलिए विरोधी विचारों को सहकर भी आगे बढ़े दुर्वचन सहे किन्तु उन्होंने जनता का कल्याण किया- उन्होंने विनय पत्रिका में माता जानकी के कितने मधुर भोले तथा अनुशासित शब्दों में कहा है-

कबहूंक अम्ब अवसर पाइ,

मेरिहू सुधि द्याइबी, कछु करून कथा चलाइ।

इनकी रचनाओं की सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण ही उनकी अनन्य भक्ति, सर्मपण स्वान्तः सुखाय होते हुए भी वह जन सुखाय, बहु जन हिताय ही रहा है। छोटे-मोटे मतभेदों का समन्वय करना इनका लक्ष्य था। राम को विश्वात्मा के रूप में अंकित करते हुए उनके लोकरक्षक तथा लोकमंगलकारी चरित्रों को जन-जन तक पहुंचा कर एक अनुशासित मर्यादित, परम्परा प्राप्त नैतिक तथा अच्छे चरित्र सम्पन्न कर्तव्यपालक समाज की स्थापना ही उनका लक्ष्य था- यही उनकी युग बोघता का परिचायक है।

तुलसीदास ने 'मानस' तथा 'दोहावली' का आरम्भ ही सज्जन तथा असज्जन की स्तुति से किया है।, 'बन्दौ संत असज्जन चरना तुलसी के इस प्रकार के भाव अन्यान्य ग्रन्थों में भी लभ्य है। उन्होंने इन असत प्रवृत्तियों की भर्त्सना अभिधा के द्वारा नहीं अपितु सुगम वृत्ति से। इतना अवश्य है कि उन्होंने मनुष्यों को स्पष्टदर्शा की असत् प्रवृत्तियों का प्रतीक रावण जीवन भर

त्रास और भय का प्रवर्तक एंव नियन्ता रह कर भी सुखलाभ नहीं कर सका। आसुरीवृत्ति विनाशकारी दुख का आगार है तथा सत प्रवृत्तियों के प्रतीक भगवान राम ने अपना स्वर्ग सुख त्याग कर मानव रूप में अवतरण किया है और दुष्टों व दुष्प्रिवृत्तियों का विनाश किया। राम के अध्यात्मवाद की रावण के भौतिकतावाद पर विजय दर्शाना ही युगबोध का ज्ञान देना है। चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठ जी सभा में प्रस्ताव रखते हैं। राम से कहते हैं-

भरत विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरी।
करब साधुमत लोकमत नृपयन निगम निचोरि।।

****